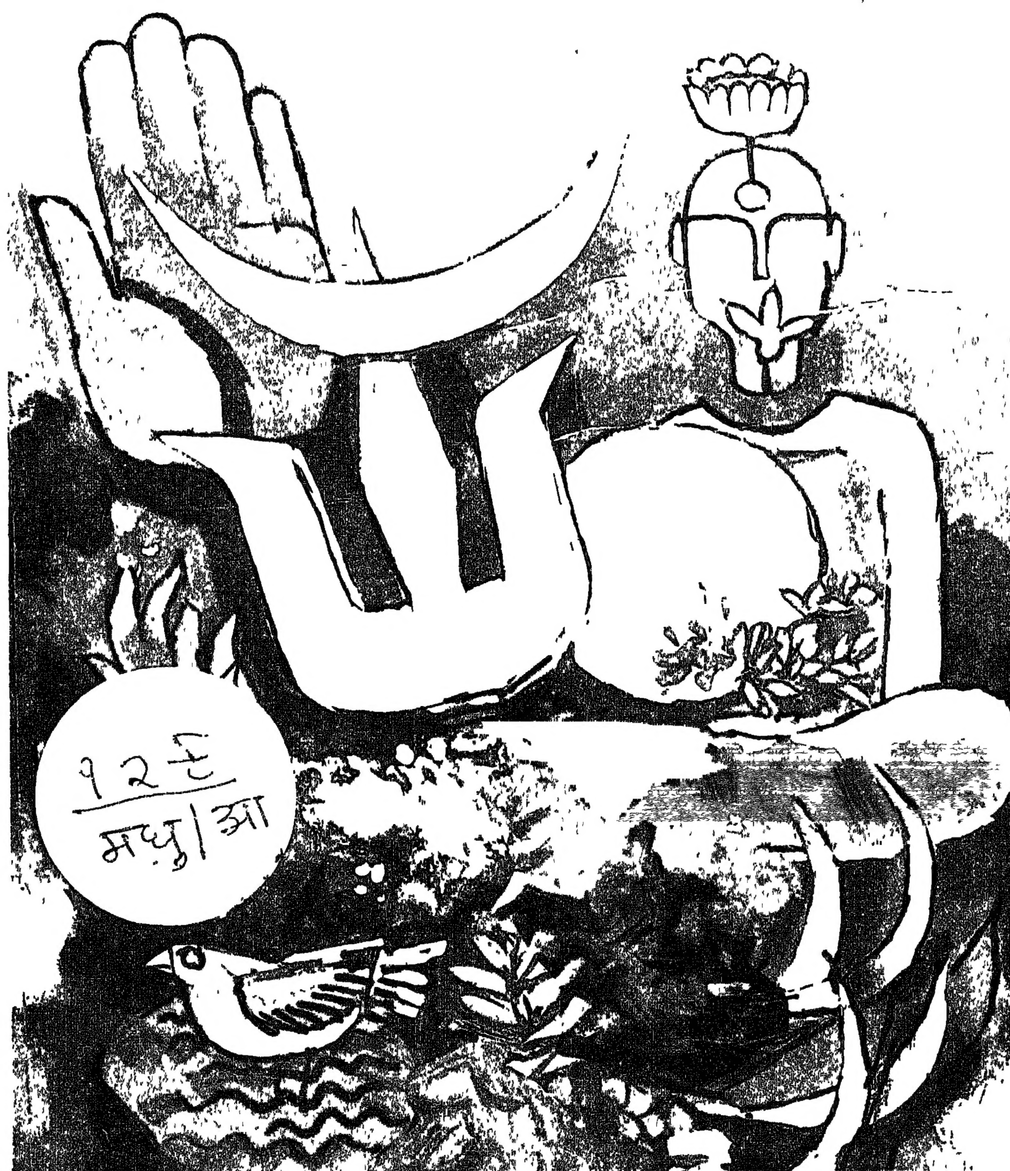
आत्मा, कर्म पुनर्जन्म और मोक्ष

मधुरिमा सिंह



आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष

डॉ० मधुरिमा सिंह

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
15-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-1 द्वारा प्रकाशित

❖

तृतीय संशोधित संस्करण : 1997

❖

लेजर-टाइपसेटिंग
प्रिन्टेक, इलाहाबाद-3

❖

इण्डियन प्रेस प्रा० लिमिटेड
इलाहाबाद-1 द्वारा मुद्रित

मूल्य: 160.00 रुपये

विषयानुक्रमणिका



1
भूमिका

पारलौकिक चितन की प्रक्रिया में प्रथम जिज्ञासा का विषय मनुष्य स्वयं है, कि वह क्या है? कौन है? किसलिए है? सामान्य अनुभव से वह पाता है कि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है। ''जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु:'' (गीता) यह मृत्यु का भय पातंजलि-योग-दर्शन में ''अभिनिवेश वृत्ति'' कहा गया है। मृत्यु एक अटल सत्य है फिर भी मनुष्य अपनी विद्यमानता चाहता है। इसीलिए जीवनेतर जीवन केवल उसकी जिज्ञासा का विषय ही नहीं अपितु गुह्य आवश्यकता है। यही कारण है कि जीवन के अस्थाइत्व के कारण उसके मस्तिष्क में स्थाई-जीवन का प्रश्न उठता है। वह सोचता है कि क्या कोई निर्भय तत्त्व भी है? जो जीवन के भय, शोकों से दूर हो? इस नश्वरता से परे क्या कुछ ऐसा भी है जो अनश्वर हो? शाश्वत हो यदि है तो उस ज्योतिर्मय-परमानन्दस्वरूपसत्ता का स्वरूप क्या है?

यहाँ एक बात विचारणीय है कि हम अपने मस्तिष्क में अपनी अपूर्णताओं तथा अक्षमताओं के अनन्तर भी 'पूर्णता' का प्रत्यय पाते हैं। अत: कोई पूर्ण सत्ता है अवश्य।

ऊँ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

इन सारे प्रश्नों तथा जिज्ञासाओं के साथ ही अमरत्व की तलाश पुनर्जन्म की अवधारणा को जन्म देती है।

मेरी धारणा है कि कोई भी जीवन-दृष्टि, चाहे वह भौतिकवादी हो अथवा अध्यात्मवादी, मृत्यु के भय से ही पनपती है। भौतिकवादी इसे इस तरह सोचता है कि जब मृत्यु अवश्यंभावी है तो जितना हो सके जीवन का उपभोग कर लें। अध्यात्मवादी इस तथ्य को इस तरह सोचता है कि जब मृत्यु अवश्यंभावी है, यह मानव शरीर नश्वर है तो ऐसे क्षण-क्षण समाप्त हो रहे शरीर के द्वारा भोगे जा रहे सुख भी इसमें समान नश्वर हैं। अत: वह अनश्वर तथा नित्य सत्ता की खोज करता रहता है। भौतिकवादी मृत्यु के भय को लौकिक सुखो में भुलाने का प्रयास करता है तो अध्यात्मवादी मृत्यु पर विजय प्राप्त करना चाहता है।

पुनर्जन्म की धारणा मृत्यु भय से मुक्त होने का प्रयास है। 'मृत्योर्माअमृतं गमय।' मृत्यु से अमरता की यात्रा की यह इच्छा मनुष्य के पारलौकिक चिंतन का मार्ग प्रशस्त करती है।

इस विषय मे मेरी रुचि का विशेष कारण संभवत: मेरे संस्कार ही हैं। मैंने हिन्दू परिवार में जन्म लिया। मेरे परिवार मे वैदिक चितन की आधारपीठिका थी। अल्पायु से कठोपनिषद् के चितन का गहरा प्रभाव मुझ पर रहा। अध्यात्म की इस दीक्षा की प्रथम गुरु मेरी माँ थीं। उनमे कुछ अतीन्द्रिय शक्तियाँ थीं। भविष्य में घटने वाली घटनाओं का उन्हें पूर्वाभास स्वप्न में अक्षरश: हो जाता था। आज भी मेरा विश्वास है कि ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा 'महामानस' केन्द्र है जहाँ प्रत्येक कर्म, अनुभव, चितन और संस्कार, देश और समस्त काल संचित रहते हैं। हमारे दूषित कर्म, कलुषित जीवन शैली हमारे मन और मस्तिष्क के पराशक्ति दर्पण पर धूल की तरह छाए रहते हैं जिससे हम उस महामानस से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते और दिव्य पुरुष या पुनर्जन्म का स्मरण रखने वाले लोग हमारे लिए अज्ञेय और अबूझ पहेली बन जाते हैं। यही कारण था कि कर्म पुनर्जन्म और मोक्ष मेरा चितन विषय बना। मुझे प्राय: लगा कि मेरे अन्दर एक हरहराता हुआ महासागर है जो मुझे निरंतर पुकारता रहता है कि आओ मुझमें समा जाओ और जैसे एक ठहरा हुआ 'पोखर' जो बहने और सागर में समाहित होने के लिए छटपटाता है वैसी ही पीड़ा और छटपटाहट मुझे 'मोक्ष' के प्रत्यय के प्रति जिज्ञासु बना गयी।

किन्तु इस विषय में कुछ भी चितन करने के पूर्व आत्मा के सम्बन्ध में कुछ विचार करना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। नित्य आत्मा में विश्वास सामान्यत: समस्त भारतीय दर्शनों में पाया जाता है। बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है, किन्तु पुनर्जन्म और मोक्ष उन्होंने भी माना है। इसी से मैंने अपने शोध में विशेष रूप से बौद्ध दर्शन का उल्लेख किया क्योंकि बौद्ध दर्शन, अक्रियावादियों की तरह सब कुछ नकारता नहीं, कुछ न कुछ स्वीकारता है। मेरी दृष्टि में 'आत्मा' के विषय में बुद्ध का 'मौन' अनात्मवाद के रूप में अभिहित कर लेना, भारी भूल होगी। यदि मुझे किसी दार्शनिक विशेषण को देने का अधिकार हो तो मैं वेदान्त दार्शनिकों को ज्ञानवादी तो बौद्धों को कर्मवादी कहूँगी।

महात्मा बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु में हुआ था। उनका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा पिता शुद्धोदन की राजधानी कपिलवस्तु में ही हुई थी। कपिलवस्तु महर्षि कपिल की साधना स्थली थी। संभवत: इसी कारण बुद्ध के मन पर कपिल के अनीश्वरवाद की अदृश्य छाप दिखती है।

ये शास्त्रीय परम्परा की बातें, तथ्य, विचार और चिंतन तो अध्यायों में चर्चित होंगे ही। इसी से इन पृष्ठों में भूमिका के अंतर्गत मैं अपने मन के उन अनुद्धरित, अनुल्लिखित अंतर्पृष्ठों को जोड़ना चाहती हूँ जो दर्शन की शोध परम्परा में सम्यक् रूप से नहीं आते अर्थात् मेरी अपनी निजी दृष्टि क्या है?

यह सत्य है कि आत्मवाद भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है। किन्तु यह युग विज्ञान का युग है। विज्ञान प्रत्येक 'मान्यता' की वैज्ञानिक सत्यता तथा वैज्ञानिक सम्भावना की अपेक्षा करता है। अन्यथा वह पूर्ण मन से कुछ भी नहीं स्वीकारता।

जबकि सबसे बड़ा सच यह है कि जहाँ से विज्ञान की परिधि समाप्त होती है, वहाँ से दर्शन का क्षेत्र प्रारम्भ होता है।

आत्मा विषयक कुछ विशिष्ट तर्क

1. शरीर व चेतना के सम्बन्ध पर विचार करके आत्मा की अनुभूति होती है। जब यह प्रश्न उठता है कि जीवन क्या है? एक मनुष्य का शरीर क्यो जीवित है? अनुभूत होने वाली चेतना क्या है? तो प्रायः वैज्ञानिकों का उत्तर होता है कि शरीर मे जीवन का अनुभव चेतना के कारण है, जो कि शरीर की यंत्र प्रणाली के विशेष संयोजन का परिणाम है। जब यह चेतना-संयोजन समाप्त हो जाता है तब यह शरीर मृत कहलाता है। तो सहज ही यह प्रश्न उठता है कि शरीर चेतना का सम्बन्ध कैसा है? यह वस्तु तथा धर्म जैसा सम्बन्ध तो प्रतीत नहीं होता क्योंकि जब तक वस्तु रहती है तब तक उसका धर्म रहता है जैसे अग्नि के साथ दाहकता या स्वर्ण के साथ 'पीतता'। जबकि चेतना तो शरीर के साथ धर्मवत् नहीं रहती। क्योंकि मृत्यु होने पर शरीर तो विद्यमान रहता है किन्तु चेतना नहीं। आश्चर्य होता है कि सब कुछ होते हुए भी 'कुछ' है जो नहीं रहता है। वास्तव में वैज्ञानिक स्थूल रूप से जिसे चेतना कह रहे होते हैं, यही 'चेतना' सूक्ष्म तथा परिष्कृत रूप से दर्शन जगत् मे शरीरावृत्त आत्मा है।

''अस्ति जीवाख्य शरीरेन्द्रिय पिञ्जराध्यक्षः।''

''आत्मा नित्य है शाश्वत है। शरीर की समाप्ति पर भी आत्मा समाप्त नहीं होती।''

2. मैं हूँ इस विषय में तो किसी में संदेह नही होता। क्योंकि यदि मैं प्रत्येक वस्तु की, वस्तु जगत् की सत्ता नकार भी दूँ तो भी नकारने वाले की सत्ता नहीं नकार सकती इसलिए मै तो हूँ ही।

3. यदि मैं हूँ तो यह 'मैं' क्या है। क्या मैं मात्र शरीर हूँ। शंकर के अनुसार यह सत्य प्रखर हो उठता है—मैं शरीर नहीं हूँ शरीर मेरा है। कभी किसी का हाथ कट जाता है तो वह यह नहीं कहता कि मैं कट गया। मेरा हाथ कट गया यही कहता है। 'शरीर' के साथ मेरा सम्बन्ध 'मेरा' का है 'मैं' का नहीं।

सूक्ष्म शरीर स्वप्न और देखने की प्रक्रिया से आत्मा की सिद्धि

देखने की प्रक्रिया के रहस्य का यदि गहन चिंतन किया जाये तो आत्मा की स्पष्ट अनुभूति होती है। विज्ञान की दृष्टि से वस्तु प्रकाश और नेत्र, ये देखने की प्रक्रिया के आवश्यक तत्त्व हैं। प्रकाश किरणें वस्तु से टकराकर दृष्टिपटल पर उसका उल्टा प्रतिबिम्ब बनाती हैं, नेत्र का यंत्र उसे सीधा करके प्रत्यक्ष करता है। किन्तु मेरी दर्शन दृष्टि यह कहती है कि इन तीन कारकों के अतिरिक्त देखने की प्रक्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण घटक 'द्रष्टा' (आत्मा) है। वह द्रष्टा नेत्र को साधन रूप में प्रयोग करता है। क्योंकि यदि यह द्रष्टा जब तक आदेश न दे तो नेत्र सामने उपस्थित वस्तु व्यक्ति या वस्तु जगत् का प्रत्यक्ष नहीं करता। यह द्रष्टा आत्मा ही है क्योंकि जब यह आत्मा शरीर त्याग

देती है तो ऐसे मृत शरीर का नेत्र यंत्र, यद्यपि ठीक होता है, उसके सम्मुख प्रकाश और वस्तु जगत् भी होता है, किन्तु वह नही देखता। क्योंकि प्रत्यक्षकर्त्ता तो शरीर का परित्याग कर चुका होता है।

इसी देखने की प्रक्रिया का रहस्यमय स्वरूप स्वप्न है। स्वप्न सूक्ष्म शरीर का जाग्रत प्रमाण है। सूक्ष्म शरीर हिन्दू दर्शन में सूक्ष्म शरीर का उल्लेख 'आत्मा' के सदर्भ में ही आया है। यदि हम गम्भीरता पूर्वक चितन करें तो स्पष्टतया अनुभव करेंगे कि नित्य के व्यवहार में मेरा जो बाह्य शरीर भाग लेता है, उसके अतिरिक्त मेरे पास एक शरीर और भी है।

मैं स्वप्न देखती हूँ। स्वप्न में समस्त इन्द्रियों का उपभोग करती हूँ। अपने शरीर से स्वयं को पृथक् करके भी देख सकती हूँ। उदाहरण के लिए मैं देख सकती हूँ कि मैं मर चुकी हूँ और मेरा शरीर अग्नि संस्कार मे जल रहा है। यदि विज्ञान के अनुसार नेत्र, वस्तु तथा प्रकाश देखने के आवश्यक कारक हैं तो स्वप्न से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि मेरे पास इस स्थूल नेत्र के अतिरिक्त भी नेत्र हैं, इस बाह्य प्रकाश के अतिरिक्त आंतरिक प्रकाश भी है, इस बाह्य जगत् के अतिरिक्त अभ्यन्तर वस्तु जगत् भी है। क्योंकि स्वप्न देखने की प्रक्रिया मे बाहरी किसी भी कारक का प्रयोग नहीं करती। उपनिषदों में सुषुप्ति को गहन समाधि ही माना है। यह हमारा सूक्ष्म शरीर ही आत्मा है।

यहाँ पर शरीर व आत्मा विषयक कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की वैज्ञानिकता पर विचार कर लेना ही आवश्यक हो जाता है।

पंचतत्त्व का सिद्धान्त

वैदिक और औपनिषदिक ऋषियों ने जो चितन तत्त्व मीमांसा के संदर्भ में कर लिया है वह आश्चर्यजनक है। किसी भी युग में तत्त्ववेत्ता के लिए जैसे कुछ शेष नही रहा है। आज आधुनिक तत्त्वशास्त्र में विज्ञान 107 या उसके कुछ अधिक मूल तत्त्व मानता है। किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने केवल पॉच को ही मूलतत्त्व माना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। इन तत्त्वों की संक्षिप्त वैज्ञानिक व आध्यात्मिक संयुक्त व्याख्या संक्षेप में इस विषय को सम्यक् दिशा देगी।

जल

सृष्टि तथा जीवन का प्रधान मूलतत्त्व जल है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' का चिंतन जल को अखिल वस्तु जगत् का मूल स्रोत मानता है। हमारे शरीर का दो तिहाई भाग जल है। विज्ञान में यह तत्त्व 'लिक्विड' नाम से जाना जाता है। एक कोषीय प्रारम्भिक आदि जीव अमीबा जल में ही होता है। ग्रीक दार्शनिक थेलीज जल को मूल तत्त्व मानता है। मानव भ्रूण व गर्भस्थ शिशु गर्भ मे जल में ही रहता है। ऋग्वेद मे नासदीय सूक्त में गहन गम्भीर जल का ही उल्लेख हुआ है।

वायु

हमारे शरीर मे पाँच प्रकार का वायु है। श्रेष्ठ स्वरूप प्राणवायु है। हम वायु में ही श्वास लेते हैं। वायुमण्डल के कारण ही हमारे बोलने-सुनने की शक्ति है। विज्ञान मे यह तत्त्व गैस के रूप मे चर्चित है। रैक्व का सिद्धांत था कि अंत मे समस्त वस्तु जगत् का लय वायु मे हो जाता है। अत: वायु ही सृष्टि का मूलतत्त्व है। परवर्ती काल में ग्रीक दार्शनिक अनैक्सीमैंडर ने वायु को सम्पूर्ण जगत् का आदि-अत माना।

पातंजलि योग दर्शन मे वायु के लिए 'प्राण' का विशिष्ट प्रयोग हुआ है। समस्त इन्द्रियो को अपने गमनागमन में स्थिर रखने वाला एवं जीवन का आधार प्राणवायु है। क्रिया भेद से इसके पाँच प्रकार है—

प्राण—सर्वप्रधान है। मुख व नासिका से इसकी गति होती है। नाभि से हृदय तक इसका स्थान है। **अपान**—यह नीचे की ओर गमन करता है। मल-मूत्र तथा गर्भ इसी के वेग से नीचे उतरता है। **समान**—हृदय से नाभि तक रहता है। भोजन से प्राप्त रस को शरीर में यथा योग्य पहुँचाता है। **व्यान**—सारे शरीर मे व्याप्त रहकर सभी नाड़ियो मे विचरता है। **उदान**—ऊपर की ओर गमन करता है। कठ स्थान है। सिर तक गमन करता है।

अग्नि

हमारे शरीर में भी अनेक प्रकार की अग्नि है। भोजन पचाने वाली जठराग्नि अलग है तो शरीर में तापक्रम के रूप मे जीवनदायिनी अग्नि ही है। यह तत्त्व विज्ञान में हीट तथा एनर्जी का प्रतीक है।

आकाश

'शब्द' आकाश का गुण है। 'शब्द' आकाश का समानार्थक है। यह नाद ब्रह्म का स्थान है। विज्ञान में साउंड इस तत्त्व का प्रतीक है। समस्त ध्वनियाँ आकाश में ही समाहित हो जाती हैं।

पृथ्वी

मृत्यु के पश्चात् जब मनुष्य का संपर्क शेष चार तत्त्वों से टूट जाता है तब जो बचता है वह ठोस पानी सौलिड्स अनेक खनिज आदि यानी 'माटी' ही तो है। मृत शरीर का अंश किसी भी शैली की अन्त्येष्ठि क्रिया द्वारा धरती मे ही मिल जाता है।

कोई भी आधुनिक भौतिक शास्त्री इस तथ्य से' इनकार नहीं कर सकता कि विज्ञान के प्रधान मूलतत्त्व लिक्विड, गैस, हीट व एनर्जी, सौलड तथा साउंड में भी समाहित हैं। ''क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा'' में ही समस्त भौतिकशास्त्र सिमट जाता है।

मन की अज्ञात शक्तियाँ और शिव संकल्प सूक्त

यह एक निर्विवाद सत्य है कि मन की संपूर्ण शक्तियाँ आज भी मनुष्य को ज्ञात नहीं। वेद-उपनिषद् तथा अन्य रहस्य ग्रन्थों का पारायण करने वाला यह सहज ही समझ सकता है कि भारतीय ऋषियों को मन की अज्ञात शक्तियों का ज्ञान हो गया था। यही कारण था कि गार्बे, वेबर, रोअर, बोईटलिक, मैक्समूलर, ब्रिटने ओल्ट्रामेयर, ओल्डेन बर्ग, हट्रेल, हिलेब्रांट तथा डायसन जैसे पश्चिमी विद्वान भारतीय वाङ्मय पर अपनी लेखनी चलाने को विवश हो गए थे।

मन की अज्ञात शक्तियो के स्वामी होने के कारण भारतीय ऋषि रहस्यात्मक सिद्धियों को प्राप्त हुए थे। आज भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि अमुक व्यक्ति चमत्कारी हैं। जबकि ये शक्तियाँ प्राकृतिक होती है। उदाहरणार्थ— मनुष्य दूरस्थ घट रही घटनाओ का द्रष्टा हो सकता है, दूरदर्शन यंत्र किन वैज्ञानिक नियमों से तात्कालिक दूरस्थ घटनाओ को दिखा सकता है तो जिस मानव मस्तिष्क ने इस यत्र को बनाया है उसका यह जटिल मस्तिष्क यदि अपनी मानसिक ऊर्जा को सही दिशा दे सके तो वह स्वय भी ठीक वैसे ही दूरस्थ घटनाओं का द्रष्टा हो सकता है। आज यह मानने के बाद 'संजय-दृष्टि' पर कोई आश्चर्य नही होता।

शिवसंकल्प सूक्त

शिवसंकल्प सूक्त के मत्र मुझे सदा ही इतने रहस्यगर्भित लगे हैं कि आधुनिक मनोविज्ञान के ग्रथ केवल इन 6 सूक्तो में समाहित हो जाएँ। यजुर्वेद के चौतीसवें अध्याय के प्रथम 6 मंत्र शिवसंकल्प मंत्र है। (ईसा से हजारो वर्ष पूर्व इन ग्रंथों की रचना हुई।) जिस तत्त्व से मन का निर्माण हुआ है वह आकाश मण्डल मे सर्वत्र सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। (सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल ने इस तत्त्व को महत् तत्त्व कहा है। यदि मनुष्य अपने मन का सबंध इस महत् तत्त्व से जोड़ने में समर्थ हो जाए तो उसके अनुभव की गति दूर-दूर तक हो जाए। भूत, भविष्य, वर्तमान उसके लिए अज्ञेय न रह जाएँ। फिर चाहे महाभागवत् पुराण का ऋषि हो अथवा 'नस्त्रैडेमस्' जैसा भविष्यवक्ता, उसे असम्भव तो नही ही कहा जा सकता। किन्तु दूषित चित्तवृत्तियों के कारण हमारा मन इतना विशुद्ध नही रहता और न ही इच्छाशक्ति इतनी प्रबल रह पाती है कि सत्य की इस शक्ति ऊर्जा का सस्पर्श कर सके।

हमारे संपूर्ण शरीर में यह जो मनस् तत्त्व विद्यमान है इसे मनोमयकोष कहा गया है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में पंचकोष के सिद्धांत का महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। "अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष तथा आनन्दमय कोष" हैं। गर्भ में भ्रूण केवल अन्नमय कोष ही होता है जब उसमें जीव पड़ता है तब वह प्राणमय कोष होता है। यह भी कह सकते है कि धरती पर आकर जब भ्रूण प्राणमयवायु पर जीने लगता है तब प्राणमय कोष, ज्ञानानुभवो को मन में ग्रहण करता हुआ मनोमय कोष, अपने

विषय में जिज्ञासु होकर आत्मा विज्ञानमय कोष तथा अपने परमानन्द स्वरूप मे समाहित होकर आनन्दमय कोष होती है। आत्मा विषयक यह कोष सिद्धांत अनुभूत है।

यह 'विश्वमानस' मैं इसे 'महामानस' ब्रह्माण्ड-मन कहना अधिक पसंद करती हूँ क्योंकि यह वह केन्द्र है जहाँ भूत, भविष्य, वर्तमान समस्त नई इच्छाएँ अनुभव संचित हो जाती हैं। इस महामानस ब्रह्माण्ड-मन से जो मनस तत्त्व सपर्क स्थापित कर लेता है वह अतीन्द्रिय शक्तियों का स्वामी हो जाता है।

शिवसंकल्प सूक्तो के आधार पर 'मन' के पाँच भाग है—

1. **दैवमन**—जो पाँच ज्ञानेन्द्रियो का आधार है।

2. **यक्षमन**—यह कर्मेन्द्रियों का अधिकारी है।

3. **प्रज्ञानमन**—मन का जो भाग मस्तिष्क मे रहकर विषयों का निश्चय करता है वह प्रज्ञान मन है।

4. **चेतस् मन**—मन के इस भाग में संस्कार रहते हैं। यह अनुभूत विषयो का स्मरण रखता है। ये चार भाग व्याप्त मन के हैं।

5. **धृति मन (अव्याप्त मन)**—यह जाने कितनी ऐसी शक्तियों को धारण किये है जिनका मनुष्य को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान नही होता।

शरीर और आत्मा तथा आत्मा का शरीरीय स्थान

मन की इस व्याख्या के पीछे मेरा एक विशेष लक्ष्य है। जो इन्ही पृष्ठो में आगे स्पष्ट हो जायेगा। अपने अनुभवों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि 'कुछ' है जो शरीरेतर है जो शरीर के साथ भी होता है तथा शरीर से पृथक् भी ''इसी तत्त्व की अध्यात्म संज्ञा 'आत्मा' है''।

आत्मा की न तो आयतनित सत्ता है, न सम्भव है फिर भी यदि वह शरीर में कही है या शरीर में वे अध्ययन अंग जिनसे आत्मा ने प्रधान संपर्क रखा है या उसका सम्बन्ध हो सकता है, इसकी चर्चा आवश्यक हो जाती है। क्योंकि 'कर्म और पुनर्जन्म' का सम्बन्ध शरीर व आत्मा दोनों से ही है।

इस दिशा में पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी सोचना चाहा है। उनका सक्षिप्त विवरण विषयान्तर होगा। प्रो० जेम्स का कथन है—''किसी न किसी रूप में चेतनता प्रत्येक वस्तु के प्रति वर्तमान, जिससे उनका सम्बन्ध है। अपने मस्तिष्क के प्रति मेरी सक्रिय सत्ता है। क्योंकि मेरे भाव तथा विचार उसकी प्रक्रिया को प्रभावित करते जान पडते है। यदि मन (आत्मा) के स्थान का स्थान से अभिप्राय केवल शरीर के उस प्रदेश से है जिससे उसका निकटतम तात्कालिक सक्रिय सम्बन्ध है तो हमे अपने इस कथन की यथार्थता पर विश्वास है कि वह प्रदेश कही मस्तिष्क की बाह्य त्वचा पर है।'' डेकार्त ने आत्मा का स्थान 'पीनियल ग्लैंड' माना तो अरस्तू ने 'हृदय'।

उपनिषद् के ऋषियों ने भी आत्मा का स्थान हृदय ही माना। ये ऋषि आश्चर्यजनक सत्य को स्वीकारते हैं कि मनुष्य में दो हृदय है। एक हृदय तो हमारी छाती के वाम भाग में स्थित है तथा दूसरा हृदय मस्तिष्क में है। इस संदर्भ में एक अत्यन्त रहस्यमय वर्णन हमें तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रथम अध्याय के छठें अनुवाक मे मिलता है "हृदय के अन्तर्गत हम जिसे आकाश रूप मानते है, वही उस हिरण्यमय पुरुष मन का स्थान है। मूर्धा की अस्थियो के बीच हम जिसे स्तनवत् अवलम्बित देखते है उसी से होकर इन्द्र का मार्ग है। जहाॅ केशो का मूल भाग विभक्त होकर रहता है उस मूर्ध प्रदेश में मस्तक के कपालों को विदीर्ण करके निकल गयी है वही इन्द्रयोगी अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग है। "भूः भुवः स्वः" जब ये बीज मंत्र उच्चरित किये जाते हैं तब आत्मा सीधे ब्रह्म की ओर प्रगतिशील होती है। आत्मा स्वराज को प्राप्त कर लेती है। मनस्पति के साथ एक रूप हो जाती है तथा वाक्पति, चक्षुपति, क्षेत्रपति, विज्ञानवान् तथा सक्षेपतः ब्रह्म हो जाती है।"

शरीर में आत्मा का स्थान बताने का अर्थ यह नहीं है कि आत्मा कोई शरीरी तत्त्व है या सीमित है। यह शरीरातीत है असीमित तथा मुक्त है।

अध्यात्म विज्ञान और आत्मा

यह जो "स्तनशिखर इव अवलम्बते" कहकर ऋषि जिस अग के प्रति अभिप्राय प्रकट करता है, प्रायः इसे उपजीभ भी स्वीकार किया गया है। उपजीभ को योगी मानते है कि समाधि की अवस्था में मस्तिष्क के छिद्र से कंठ में स्रवित होने वाले अमृत आस्वादन का माध्यम हैं। या ऋषि (पिट्यूटरी ग्लैंडर बॉडी) पियूष ग्रंथि की ओर इंगित कर रहा है। डायसन तथा मैक्समूलर ने इसे उपजीभ समझा तो डॉ० रानाडे सत्य समझते हुए भी यह टिप्पणी करके मौन रहे, "क्या हमें यह कल्पना करनी चाहिए कि उपनिषद्कार इतना भाग्यशाली था कि उसने इसे फटा हुआ मस्तिष्क देखा और यह निरीक्षण किया कि पीयूष ग्रथि मूर्धा की दो अस्थियों के ठीक ऊपर स्थित है तथा यह कल्पना कर सका कि हृदयान्तर्वर्ती आत्मा अनुकम्पक सहानुभूतिपरक स्नायुओं के सहारे पीयूष ग्रंथि की ओर जा सकती है जो इस पार्श्व छिद्र मे विराजमान है जिसके चारों ओर मस्तिष्क के भूरे गूदे में विविध ज्ञान केन्द्र स्थित हैं।[1]

किन्तु आश्चर्य होता है कि भले ही कोई दार्शनिक इसे स्वीकार करने में हिचके किन्तु फिर भी स्वयं उपनिषद्कार इस विषय में संशयरहित हैं। वह स्पष्टतयः लिख रहा है, "स य एषोन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते सेन्द्रयोनिः। यत्रासो केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्ययौ प्रतितिष्ठित। तैत्तिरीयोपनिषद्, प्रथम अध्याय, षष्ठ अनुवाक।

---

1 डॉ० रानाडे, उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक,सर्वेक्षण, पृ० 93

यह जो 'अन्तरेण तालुके' शब्द का प्रयोग है इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि को उपजीभ को लेकर कुछ नही कहना है। वैसे भी यह कहना कि जो अंग उपजीभ (लोकभाषा में गले की घंटी) स्थूल दृष्टि से ही दिख रहा हो उसे लेकर उपनिषद्कार रहस्य का वर्णन करे। वैसे ही अन्तरेण का अर्थ अभ्यंतर अन्दर और गहरे ही होता है सामने नहीं। उपजीभ के लिए ऋषि तालु के समक्ष जैसा प्रयोग करते किन्तु वे स्पष्टत: अन्तरेण तालु के करके स्तन इवावलम्बते शब्द का प्रयोग करके पीयूष ग्रंथि का ही उल्लेख कर रहे हैं। दोनों भौंहों के बीच के स्थान में मस्तिष्क के बीच में तालु के ठीक ऊपर स्तनशिखर के समान लटकती हुई मांस ग्रंथि पिट्यूट्री या पीयूष ग्रंथि है। समाधि में प्रथम साधना का ध्यान केन्द्र यही स्थल है। इसे ही इन्द्रयोनि माना गया है। जो सीधा मस्तिष्क के उस भाग तक जाता है जहाँ माँग बनाई जाती है। मस्तिष्क के इस भाग का रहस्य आज भी अज्ञात है। किन्तु मस्तिष्क का हृदय भी इन्हीं ऋषियो द्वारा उल्लिखित है जिसे ज्योतिषांज्योती, शिवसंकल्प में कहा गया है। यह धृति मन, वैज्ञानिक भाषा मे सैरब्रम का स्थान वह मनस् तत्त्व है जहाँ आत्मा हृदय से चलकर मस्तिष्क में आकर इस पर प्रभुत्व या स्वराज पाती है, और यह मनस् तत्त्व विश्वमानस (महामानस) से संपर्क करके ब्रह्ममय हो सकता है। इसी भाग में ब्रह्मरन्ध्र है। नंन्हें शिशु के मस्तिष्क में इस ऊपरी भाग पर छूने से हृदय की भाँति धडकन भी महसूस होती है। जब यहाँ हड्डी मजबूत हो जाती तो यही जोड़ पर ब्रह्मरंध्र होना ही चाहिए। विज्ञान के अनुसार जोड़ पर (स्पेस) स्थान शेष रहता ही है।

पुनर्जन्म की वैज्ञानिक संभावना

भारतीय दार्शनिकों को तो पुनर्जन्म स्वीकारने में परेशानी नहीं होतो किन्तु विज्ञान जगत् का स्वीकार करना ही भारतीय दर्शन की विजय होगी। विज्ञान की स्पष्ट धारणा है कि कभी भी कुछ पूर्णत: समाप्त नही होता। परिवर्तित हो जाता है। तो क्या यह संभव नहीं की जीवन भी समाप्त न होकर परिवर्तित हो जाए।

''यह समस्त जीवन जगत् तरंगात्मक है। जीवन मनो-भौतिक तरंगों का समानान्तरीकरण है। यह समानान्तरीकरण का ही जीवन है। इसका नियोजन मनुष्य की मानसिक या शारीरिक मृत्यु का कारण होता है।''

विज्ञान जगत् भी इस बात को स्वीकार करता है कि जीवन तरंगात्मक है। इ०सी०जी० भी इस बात का प्रमाण है। तरंग जीवन है सीधी रेखा मृत्यु की द्योतक है।

जब हम यह मानकर चलते हैं कि तरंगें कभी समाप्त नहीं होतीं तो यह मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी मनस तरंगें ब्रह्माण्ड में ही विचरण करती रहती हैं और जब किसी भौतिक तरंग (शरीर) से उनका समानान्तरीकरण हो जाता है तो यह उस मनस् तरंग का पुनर्जन्म हुआ।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि आधुनिक विज्ञान जगत् यह मान रहा है कि शरीर की मृत्यु के पश्चात् मस्तिष्क लगभग 5 या 6 घंटे तक जीवित रहता है। मेरे शब्दों में मनस् की अन्तर्यात्रा संभव है। भारतीय शैली में अग्निसंस्कार में मृतक की कपाल क्रिया द्वारा मस्तिष्क की मृत्यु को भी पूर्णरूप से सुनिश्चित कर लेते है ताकि आत्मा मुक्त हो जाए, भटके नही।

किसी भी शैली का अंतिम सस्कार शरीर को नष्ट ही कर देता है। अत: यह तो निश्चित है कि शरीर का पुनर्जन्म नही होता किन्तु विशेष स्थितियो मे मनस् या तरंगों का पुनर्जन्म हो सकता हें। कोई आवश्यक नहीं ईसा या बुद्ध की तरंग धरती पर ही जन्मे। हो सकता है हजारों वर्षो बाद किसी अन्य जीवित गृह पर उनका पुनर्जन्म हो रहा हो।

पूर्वजन्म की स्मृति की व्याख्या भी इसी आधार पर सहजता में होती है। क्योंकि अधिकांशत: पूर्वजन्म का स्मरण रखने वाले व्यक्ति शिशु ही होते है। उनके संस्काररहित कच्चे मन से कोई मनस् तरग संपर्क स्थापित कर लेती है किन्तु जब उनका मस्तिष्क अपने ज्ञान व अनुभव स्वय पर अंकित करने में सक्षम हो जाता है तो ऐसी स्मृतियाँ विलुप्त हो जाती हैं। यह मेरी धारणा है। वैसे भी प्राय: असामान्य रूप से मृत्यु प्राप्त करने वाली को ही पुनर्जन्म की घटनाएँ सुनी जाती है।

किन्तु इस ज्योतिषांज्योति का अमृत प्राप्त कर लेने वाला साधक ब्रह्ममय हो जाता है। उसकी मानस तरंग महामानस में विलीन हो जाती है।

कर्म-पुनर्जन्म और मोक्ष

पुनर्जन्म की अवधारणा कर्म सिद्धान्त से जुड़ी हुई है। गीता में संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण, कर्मो के तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है। संचित अर्थात् जिन कर्मफलों का सचय किया गया है; प्रारब्ध, जिन कर्मफलों की प्राप्ति होने लगी है तथा क्रियमाण, वे कर्म जिनका फल हम अगले जन्म में भोगेंगे।

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तामनुमते मृळया नः स्वस्तिः।[1]

पुनर्जन्म की धारणा हमें ऋग्वेद से स्पष्टत: मिलने लगती है। ऋग्वेद के ही दशम मण्डल के सोलहवें सूक्त में एक अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन है जिसमें ऋषि कहता है, मृत पुरुष की आँख पुन: सूर्य में विलीन हो जाए, जो कि ब्रह्माण्ड में इसका सांगतिक तत्त्व है, ऋषि ने प्राण को वायु मे, जो उसका सांगतिक विश्व-रूप है तथा आत्मा को अपने धर्म के अनुरूप स्वर्ग तथा पृथ्वी लोक मे जाने अथवा यदि उसे उचित लगे तो जल

---

1. ऋग्वेद 10. 59. 6

तथा वनस्पतियो मे विहार करने का आदेश दिया है।[1]

कठोपनिपद् मे तो नाचिकेतस् निर्भय है, वह कहता है, ''मनुष्य अन्न की तरह पकता है तथा अन्न की ही तरह पुन: उत्पन्न होता है। जिस तरह वृक्ष काट देने पर भी उसमे से कोंपलें फूटती है।'' गीता मे कहा है कि यह ''आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, शरीर के मारे जाने पर भी यह मारा नही जाता। शरीर के नाश पर भी इसका नाश नही होता।''[2]

इसी अध्याय का 22वाँ श्लोक पुनर्जन्म की स्पष्ट धारणा प्रस्तुत करता है—

''वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि
अन्यानि संयाति नवानि देही॥[3]

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्यागकर नये वस्त्र धारण कर लेता है उसी प्रकार आत्मा (जीवात्मा) जीर्ण शरीर को त्याग कर नया शरीर ग्रहण कर लेती है।

इस सपूर्ण चितन प्रक्रिया से सहज ही जुड़ा है मोक्ष का प्रत्यय। भारतीय दर्शन की स्पष्ट धारणा है कि आसक्तिपूर्ण कर्म ही बधन का कारण है। मोक्ष के लिए कर्म मे से फलासक्ति का त्याग ही एक मात्र उपाय है। बुद्ध निर्वाण का अर्थ कामनाओ का बुझना ही मानते है। बुद्ध ने कहा है—अगर बीज को भूनकर बो दे तो कोई अकुर नहीं उगता। जीवन एक कर्मक्षेत्र है, कर्म तो त्यागा नही जा सकता। आसक्ति को त्यागा जा सकता है। यही निष्काम कर्मयोग है।

आत्मज्ञान ही मोक्ष का एक मात्र मार्ग है। आत्मा और परमात्मा एक ही है। जिस प्रकार भूगर्भशास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति पृथ्वी मे अन्तर्निहित स्वर्णकोष के ऊपर विचरण करते हुए भी उसे खोज नही सकते उसी प्रकार समस्त प्राणी प्रतिदिन ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त करने पर भी इसे जान नही पाते क्योकि वे अज्ञान से विमोहित हैं।

सांख्य दर्शन में इस सदर्भ में एक बहुत सुन्दर दृष्टांत दिया है—क्लेशरूपी जल से सिंचित बुद्धि भूमि में कर्मबीज के अंकुर उत्पन्न होते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञानरूपी गर्मी पाकर क्लेशरूपी जल सूख जाने से बंध्या बुद्धि भूमि पर क्या कर्मबीज उत्पन्न हो सकते है?[4] अर्थात् आत्म ज्ञान से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

दर्शन और कविता का अन्तर-सम्बन्ध सर्वज्ञात है। मुझे उस अद्वितीय सत्ता ने काव्य प्रतिभा दी है। संभवत: यही कारण है औपनिषदिक तथा वैदिक काव्यों, गीता की

---

1. ऋ० 10 16 3
2. गीता, 2 20
3. वही, 22
4 तत्त्व कौमुदी, सॉ० क० 67

अध्यात्म कविताओं ने मुझे कहीं गहरे तक छुआ। भारतीय दर्शन में ये दर्शन-काव्य विश्व साहित्य की भी अमूल्य निधि हैं। वेद, उपनिषद्, गीता तथा अन्य अनेक दर्शन ग्रंथों में दिव्य काव्यों का पारायण करके प्लेटो का संवाद (ION) स्मरण आ जाता है जिसके अनुसार काव्य का उद्गम दिव्य प्रेरणाजन्य भावावेग बताया है। "ये अतीन्द्रिय काव्य मनुष्य रचित होने के नाते ही पौरुषेय नहीं कहला सकते। वरन् दिव्य तथा ईश्वर प्रदत्त होते हैं।"

अंततः यह स्पष्ट हो जाता है कि जन्म और मृत्यु का रहस्य सदा ही हमारी जिज्ञासा का विषय रहा है। प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी बुद्धि के अनुसार इनमें उत्तर तलाशने का प्रयास किया है। तलाश जारी है और जारी रहेगी। इस तलाश में भारतीय वाङ्मय के दिव्य ग्रंथों का मैंने स्पर्श उसी प्रकार किया है जैसे कोई स्वर्ण पर पानी चढ़ाए और कमल को सुगन्धित करने का प्रयास करे। पर हम सब विवश हैं क्योंकि अपनी जिज्ञासा के अज्ञात क्षितिजों तक हमें चलना ही है।



2

भारतीय दर्शन में कर्म-सिद्धान्त

भारतीय दर्शन जगत् में कम-से-कम दो प्रत्यय हैं, जिन्हें कभी-कभी उनके सही अर्थ में नहीं समझा जाता और गलत व्याख्या के कारण उनका मूल रूप ही अलग-थलग हो जाता है। ये प्रत्यय हैं माया और कर्म। यहाँ हम केवल कर्म को ही व्याख्यायित करेंगे।

भारतीय विचारधारा प्रारम्भ से ही कर्मवाद की प्रबल समर्थक रही है। ऋग्वेद में हमें ऋत का वर्णन मिलता है। ऋत इस जगत् में पायी जाने वाली नैतिक व्यवस्था का नाम है। जगत् में सबसे पहले ऋत ही उत्पन्न हुआ, सत्य की उत्पत्ति उसके बाद में हुई।[1] इस नैतिक व्यवस्था का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है। उसे अपने कर्मों के अनुरूप ही फल प्राप्त होते हैं। वह जैसा बोता है, वैसा ही काटता है। बबूल बोने पर बबूल ही मिलेगा, आम नहीं। आम बोने पर आम ही प्राप्त होगा, बबूल नहीं। इस ऋत को हम आधुनिक काल के प्रकृति की एकरूपता का सूक्ष्म रूप कह सकते हैं, इसलिए ऋत का विचार एक नितान्त ही तर्कपूर्ण विचार है।

कर्म के रूप

कर्म के तीन रूप हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। अतीत में जो कर्म किये गये, वे खत्म नहीं होते, उनका प्रभाव जमा हो जाता है। ये कर्म ही संचित कर्म कहे जाते हैं। संचित कर्म ऐसे कर्म हैं, जिनका फल अभी मिलना शुरू नहीं हुआ है। अतीत कालीन वे कर्म जिनका फल मिलना शुरू हो गया है, प्रारब्ध कर्म कहे जाते हैं, क्रियमाण कर्म वे हैं जो वर्तमान समय में किये जा रहे हैं, कालान्तर में ये ही कर्म संचित तथा प्रारब्ध का रूप धारण कर लेते हैं।

कर्म का इतना अधिक महत्त्व है कि व्यक्ति का पुनर्जन्म का आधार भी कर्म ही होता है। व्यक्ति जिन माता-पिता, परिवार, समाज, तथा समय में जन्म लेता है, वे सब उसके (प्रारब्ध) कर्मों के ही परिणाम होते हैं।[2]

---

1. ऋतं च सत्यं चाभीधात्तपसोऽध्यजायत।—ऋग्वेद
2. फलस्य या पूर्वावस्था पूर्व नामास्तीति तर्क्यते।—शांकरभाष्य, 3.2.40

भारतीय लोगों का भाग्यवाद भी अपने मूल रूप में कर्मवाद पर आधारित है। भाग्य व्यक्ति द्वारा पूर्व जन्म में अर्जित कर्मों का ही फल होता है। व्यक्ति अपने पूर्व जन्मों का फल ही नहीं भोगता, वह अपने नये कर्मों के द्वारा अपने भविष्य या भाग्य का निर्माण भी करता है। इसलिए भाग्यवाद निठल्लावाद नहीं है।

ईश्वर तथा निरीश्वरवादी मत

हमें अपने कर्मों का फल प्राप्त होता है? इस सन्दर्भ में दो मत हैं—एक मत ईश्वरवादी है जो कहता है कि ईश्वर वह शक्ति है जो व्यक्ति को अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करती है। इसके विपरीत निरीश्वरवादी मत ईश्वर के अस्तित्व की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं करता। उनके अनुसार प्रत्येक कर्म से एक शक्ति (अपूर्व) उत्पन्न होती है जो किसी भी तरह खत्म नहीं की जा सकती और इस कर्म-जन्यशक्ति के कारण प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। मीमांसा का यही मत है।

इस तरह प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म की शक्ति को समझना चाहिए। भारतीय मत के अनुसार वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य स्वयं अपना भाग्य विधाता है, इसलिए गीता में कहा गया है कि—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥[1]

वेद तथा उपनिषद् में कर्मवाद

भारतीय चिंतक अतीत काल से ही कर्मवाद का पोषक रहा है। अथर्ववेद में कर्मवाद पर विशेष रूप से विचार किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति तप और कर्म से मानी गयी है। इसमें भी तप की उत्पत्ति कर्म से मानी गयी है। अतः कर्म सर्वोत्तम है। कर्म से ही तप और संसार की उत्पत्ति होती है।[2] जहाँ कर्म है वहाँ गति है। जहाँ गति है, वहाँ जीवन है, वहाँ दुःखों का भी अभाव है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ कर्म है, वहाँ सुख है, जहाँ अकर्मण्यता है, वहाँ दुःख है।[3] कर्मफल के विषय में कहा गया है कि ईश्वरीय दूत कभी भी नहीं सोते हैं। वे हमेशा सभी के पास खड़े रहते हैं। वे प्रत्येक व्यक्तियों के कर्मों को देखते हैं और तदनुसार उन्हें फल देते हैं।[4] मनुष्य अपने अच्छे तथा बुरे कर्मों का फल भोगता है।[5] यम मनुष्यों के कर्मों की मात्रा को ठीक नापकर तदनुसार

---

1. गीता 6/5
2. अथर्ववेद, 11.8.6
3. वही, 6.23.2
4. वही, 5.6.3
5. वही, 18.3.54

फल देता है।[1] जो मनुष्य बुरे कर्म करता है उसे अपने कुकर्मों का दुष्परिणाम मिलता है, वह पापी होता है।[2] अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है। इतना ही नहीं अपितु अच्छे कर्मों का अच्छा फल दूसरों पर भी पड़ता है।[3] कर्म दो प्रकार के होते हैं—कृत और अकृत। किये हुए कर्म कृत हैं, जो कर्म किये नहीं गये हैं, परन्तु मन से जिनको सोचा गया है वे अकृत हैं। दोनों प्रकार के कर्मों का फल मिलता है।[4]

ऐतरेय ब्राह्मण अपने 'चरैवेति' गीत में उद्घोष करता है कि "जो बैठा रहता है, उसका सौभाग्य भी बैठा रहता है। पर जब कोई खड़ा होता है तो उसका सौभाग्य भी खड़ा होता है। पड़े रहने पर सौभाग्य भी पड़ा रहता है तथा चलने वाले (कर्मरत) का सौभाग्य भी चलने लगता है। अत: कर्मशील बनो। सोने वाला कलि है, निद्रा से उठने वाला द्वापर, उठकर खड़ा होने वाला त्रेता और कार्यरत व्यक्ति कृतयुग बन जाता है। अत: कर्मशील बनो। कर्मशील व्यक्ति ही जीवन का मधु पाता है, वही सुस्वाद फल का आस्वादन करता है। सूर्य की ओर देखो, वह निरन्तर कर्मरत है, अत: कर्मशील बनो।[5]

कर्म करने में आलस्य ठीक नहीं। जो हो चुका है अतीत है, उससे चिपके रहने में कोई सार नहीं और जो आने वाला है आगामी भविष्य है, उसका सपना देखते रहना भी ठीक नहीं क्योंकि भविष्य का क्या ठिकाना? इसलिए आज पर ही भरोसा कर सामने वाले कर्म को सम्पादन करना बुद्धिमान व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण इसी वक्त कर्म करने का परामर्श देता है।[6] कर्म में विश्वास रखने वाले एक प्राचीन मनीषी को अपने कर्म पर इतना भरोसा था कि वह कहता था—"मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बायें हाथ में सफलता रखी है।"[7]

कालान्तर में कर्म की इस प्रवृत्ति को कर्मकाण्ड की कालिमा ने ग्रसित कर डाला। ब्राह्मण काल में कर्मकाण्ड का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया। पुरोहितवाद प्रबल हो गया। यज्ञ के माध्यम से हिंसा तथा परिग्रहवाद पनपने लगा। स्वयं यज्ञ में यह पवित्र कार्य है। इसलिए भगवद्गीता कहती है—यज्ञार्थ किये गये कर्म बन्धनकारी नहीं होते। पर अनधिकारी, अज्ञानी, पाखण्डी, पुरोहितों ने यज्ञ का अर्थ भी बदल डाला है।[8] और विधि-विधान से सम्पन्न यज्ञों को स्वर्ग के द्वार के रूप में सीमित कर दिया (स्वर्ग कामो यजेत)।

---

1. अथर्ववेद 18.2.38-45
2. वही, 2.12.5
3. वही, 19.10.4
4. शतपथ ब्राह्मण, 2.3.11.28
5. अथर्ववेद, 12.1.54
6. ऐतरेय ब्राह्मण, 7.15
7. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो में सव्य आहित:।—अथर्ववेद, 7.52.8
8. गीता, 3.9

ऐतरेय ब्राह्मण ने यह सत्य सिद्ध कर दिया है कि ऋत्विज भय लोक अनाचार के वशीभूत होकर भी यज्ञ कराते थे।[1] इस तरह के कर्म यज्ञ नहीं कहे जा सकते। यज्ञ हिंसा प्रधान बन गये। पशु वध यज्ञ का प्रमुख अंग बन गया और इस तरह कर्मकाण्ड का एक भयंकर रूप सामने आया।[2]

प्राचीन काल के विचारशील ऋषियों ने कर्मकाण्ड का विरोध किया। विरोध में भौतिकवादी चार्वाक ही नहीं था। (जिसमें वेद के कर्त्ताओं को 'भंड निशाचरा:' तक कहा गया है)।[3] जैन दर्शन तथा बौद्ध दर्शन भी विरोध के रूप में उस समय उभरे। पर सबसे संयत तथा तर्कपूर्ण विरोध किया उपनिषदों ने। कर्मकाण्ड के हिमायतियों को उपनिषदों ने आत्महंता कहा। मुण्डक तथा कठोपनिषद् कर्मकाण्डवाद की तीव्र शब्दों में भर्त्सना करते हैं। वास्तव में भारतीय तत्त्वज्ञों को कर्मकाण्ड की वृत्ति कभी नहीं रुची।[4] महाभारतकार ने याज्ञिक को मंद प्रज्ञा तथा अविपश्चित (मूर्ख) तक कह डाला।[5] श्रीमदभागवत् ने उसका जड़ी, कृतिमति जैसे शब्दों से स्वागत किया।[6]

कर्म और ज्ञान दोनों ही वेद प्रतिपादित मार्ग हैं। इसमें पहला कर्म मार्ग है, दूसरा ज्ञान मार्ग है। पहला प्रवृत्ति और दूसरा निवृत्ति मार्ग है। दोनों के फल भिन्न-भिन्न हैं। यज्ञादि कर्म करना प्रवृत्ति मार्ग है। वेदों में कहा गया है कि विद्वान् यज्ञ करता है, कराता है (विद्वान्यजते, विद्वान्याजयति), इस प्रकार कर्मानुष्ठान भी वेदोक्त धर्म है। वेद में चोदनां लक्षण को ही धर्म माना गया है। तात्पर्य यह है कि वेद के मन्त्र कर्म के प्रेरक हैं। अत: कर्मानुष्ठान ही वैदिक धर्म का अभिप्राय है। परन्तु मोक्ष कर्मजन्य नहीं है क्योंकि वह नित्य है। जो वस्तु कर्म का कार्य है वह अवश्य ही अनित्य है। इसलिए मोक्ष को ज्ञानजन्य माना गया है। यह निवृत्ति मार्ग है। कर्म के फल चार हैं, उत्पत्ति, संस्कार, विकार और आप्ति। मोक्ष उत्पत्ति आदि फलों से भिन्न है। ज्ञान और कर्म में भेद है। ज्ञान मोक्ष के प्रति कर्म की अपेक्षा नहीं रखता।

उपनिषदों में कर्म को अविद्या तथा ज्ञान को विद्या माना गया है क्योंकि कहा गया है कि—"उसने पत्नी की इच्छा की"[7] इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि अज्ञानी और सकाम पुरुषों के लिए ही कर्म का विधान है। आत्मज्ञानी के लिए भी कहा गया है कि यदि

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण, 3.49, 8.11
2. ऋत्विज यजमान का प्राणहरण भी करता था। —द्रष्टव्य, ऐतरेय ब्राह्मण, 3.13
3. त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्ड धूर्त निशाचरा:।
   जर्फरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वय: स्मृतम्॥—सर्वदर्शनसंग्रह
4. मूढा: अन्धेनेव नीयमाना यथान्धा:।—कठोपनिषद्, 1.2.5
   मूढं जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।—मुण्डक, 1.2.7
5. महाभारत, शान्तिपर्व, 20,1; उद्योगपर्व, 142.2
6. श्रीमद्भागवत् 11.5.5-8; 11.21.30, 32, 34
7. सोऽकामयत जाया मे स्यात्।—बृहदारण्यकोपनिषद, 1.4.17

हमको यह आत्मलोक ही सम्पादन करना है तो हम प्रजा को लेकर क्या करेंगे?[1] इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि आत्मज्ञानी के लिए कर्म का कोई प्रयोजन नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् में कर्म को अनित्य बतलाया गया है। अत: अनित्य कर्म का नित्य मोक्ष से स्पष्ट भेद है। यदि कहा जाये कि स्वर्गादि के लिए किये गये कर्म यज्ञादि श्रेय कर्म हैं (श्रुति विहित) तो यह इष्ट नहीं, क्योंकि जिस प्रकार यह कर्मोपार्जित लोक क्षीण होता है, उसी प्रकार पुण्योपार्जित परलोक भी क्षीण हो जाता है, इत्यादि वाक्यों में कर्म की अनित्यता स्पष्ट है। अत: कर्म से मोक्ष कथमपि साध्य नहीं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि इस त्रिलोकी के मध्य में स्थित एक ही हंस (परमात्मा) है। उसी को जानकर पुरुष मृत्यु के पार हो जाता है मोक्ष के लिए और कोई मार्ग नहीं।[2] पर कर्मवाद का प्रांजल रूप उपनिषदों में हमेशा स्वीकार किया गया है।[3] मुण्डक ने घोषणा की—"कर्मकाण्ड के द्वारा प्राप्त लोक नश्वर है।" इस बात को जानने से ही ब्राह्मण के हृदय का उदय होता है।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् का चिंतक कहता है कि—यह पुरुष काममय है। जैसी उसकी इच्छा है, वैसा ही उसका कृत (संकल्प) होता है तथा संकल्प के अनुसार ही वह कर्म करता है।[5] मुक्तिकोपनिषद् लिखता है कि—वासनारूपी नदी दो भागों में प्रवाहित होती है—शुभ मार्ग तथा अशुभ मार्ग में। मनुष्य को चाहिए कि वह प्रयत्न द्वारा अशुभ में लगी वासना को शुभ मार्ग में ही ले जाये।[6]

न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म-विचार

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में कर्म विचार एक जैसा या समान रूप से स्वीकार किया गया है। न्याय-वैशेषिक ये दोनों समान तन्त्र हैं अर्थात् दोनों एक ही स्तर के दर्शन हैं। ये व्यावहारिक जगत् से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। कुछ सिद्धान्तों में तो इनका मतभेद अवश्य है, किन्तु साधारण रूप से इन दोनों में मतभेद नहीं के बराबर है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में जगत् की सभी वस्तुएँ सात पदार्थों में बाँटी गयी हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। यहाँ कर्म को भी एक पदार्थ माना गया है।

कर्म का अर्थ है 'क्रिया'। बहुत स्थानों में कर्म शब्द से 'अदृष्ट' अर्थात् पाप-पुण्य नामक गुण या भाग्य समझा जाता है। अत: यदि कहा जाये कि क्रिया कर्म है तो 'ज्ञा' धातु का अर्थ ज्ञान भी जो कि एक गुण है, कर्म कहलायेगा। अत: क्रिया को कर्म कहना

---

1. किं प्रजया करिष्यामो नेषां नो यात्मायं लोक:।—बृहदारण्यकोपनिषद्,
2. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.6.16
3. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.2.13—कठोपनिषद्, 2.5.7
4. मुण्डकोपनिषद्, 1.2.12
5. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.5
6. मुक्तिकोपनिषद्, 2.5.6

कुछ भ्रामक ही है। यदि यह कहा जाये कि 'करना कर्म है', इसलिए सुन्दर आचरण को सुकर्म और वैसे आचरण वाले को सुकर्मी तथा अनुचित आचरण को दुष्कर्म एवं उसके कर्त्ता को दुष्कर्मी कहा जाता हैं। किन्तु कर्म का यह निर्वाचन भी उतना सुन्दर नहीं है, क्योंकि आचरण भले-बुरे कर्मों को कहा जाता है। इसलिए आचरण को सदाचरण और दुराचरण दो भागों में विभक्त किया जाता है। इस निर्वाचन के अनुसार जो कर्म न तो भला है न तो बुरा, जैसे—वायु, वनस्पति आदि का चलन, वह आचरण शब्द से व्यवहारित न होने के कारण कर्म नहीं कहलायेगा। यदि कहा जाये कि करना शब्द करण का अपभ्रंश है और करण कृति का पर्याय है तो 'करना कर्म' है। इस कथन का अभिप्राय होगा कि कृति कर्म है। परन्तु कृति कर्म नहीं होती, वह प्रयत्न नामक एक गुण मात्र है।

कर्म की उत्पत्ति

कर्म का उपादान कारण द्रव्य होता है। उसी में कर्म उत्पन्न होता है, किन्तु द्रव्य निष्कम्प भी पड़ा रहता, अत: उसमें कर्म उत्पन्न होने के लिए किसी की अपेक्षा रहती है। वह अपेक्षित वस्तु गुण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसलिए निर्गुण द्रव्य में क्रिया उत्पन्न नहीं होती है। अब जिज्ञासा यह होती है कि द्रव्य में कर्म उत्पत्ति के लिए 24 गुणों—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथकत्व,संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार—में से कोई खास गुण अपेक्षित होता है या चाहे जो कोई। कोई भी गुण अपेक्षित हो और उसी से द्रव्य में कर्म की उत्पत्ति हो जाये, यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि रूप, रस आदि अनेक गुणों से युक्त होने पर भी घट आदि द्रव्य निष्कम्प पड़े रहते हैं। अत: पता करने पर ही यह ज्ञात होता है कि संयोग, वेग, गुरुत्व, द्रव्यत्व, और स्थिति स्थापक, संस्कार में से किसी एक के रहने पर द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होती है। संक्षेप में वायु के संयोग से वृक्ष की शाखाएँ वस्त्र आदि हिलते हैं वहाँ वायु संयोग हिलने के प्रति कारण होता है।

कार्य (कर्म) की उत्पत्ति के विचार के अनन्तर उसकी स्थिति के सम्बन्ध में जिज्ञासा हो सकती है। मन में स्वत: यह प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि क्रिया का जीवन काल अर्थात् अस्तित्व काल कितना बड़ा होता है? वह कितने क्षण तक रहती है? तो इसका उत्तर विभाग से देना कठिन है अर्थात् प्रश्न के समान उत्तर एक नहीं होगा, यह उत्तर सर्वसम्मत से नहीं दिया जा सकता कि सारे कर्म इतने ही क्षण रहते हैं। इस प्रकार कर्म की स्थिति के सम्बन्ध में सार कथा यह हुई कि—कर्म की उत्पत्ति के अव्यवहित पर क्षण में ही अर्थात् द्वितीय क्षण में ही उत्पन्न हो जाते हैं और समस्त उत्तर संयोग क्रिया की उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण में ही रहते हैं, क्योंकि सारे उक्त विभाग और प्रदर्शित संयोग कर्मज ही माने जाते हैं। अत: पूरा कार्य चतुर्थ क्षण में ही समाप्त हो जाता है,कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रह जाता, जिसके लिए कर्म को रखना पड़े। अत: सारी

क्रियाएँ अपने उत्पत्ति क्षण को प्रथम क्षण मानकर पंचम क्षण में नष्ट हो जाती हैं और सारी क्रियाओं का अस्तित्वकाल चार क्षण मात्र का होता है।

कर्म की स्थिति के सम्बन्ध में कृत विचार से कर्म का विनाश भी बहुत कुछ अंश में विचारित हो जाता है क्योंकि किसी भी जन्य वस्तु का स्थितिकाल उसके विनाश क्षण के अव्यवहित पूर्व क्षण तक ही सीमित होता है। जबकि उपर्युक्त विचार में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी भी कर्म का अस्तित्वकाल विभाग मात्र में कर्मजन्यता स्वीकार पक्ष में कर्म के उत्पत्ति क्षण को प्रथम क्षण मानकर चतुर्थ क्षण तक ही सीमित होता है तो इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक क्रिया अपनी उत्पत्ति से पंचम क्षण में विनष्ट हो जाती है। इससे अधिक कोई क्रिया रह नहीं सकती। इस प्रकार कर्म के विनाश की अनेक स्थितियों पर विचार करने पर यह बात सामने आती है कि अधिकतर क्रियाओं का विनाश उत्तर संयोग से हुआ करता है। विरल जगहों पर आश्रय द्रव्य के नाश से क्रिया का नाश होता है।

कर्म की स्थिति और विनाश का विचार ऊपर किया गया है। यह बहुत ही अल्पकाल तक टिकता है। ऐसी परिस्थिति बाण आदि के प्रक्षेप में तद्गा वेग के अनुसार दूर तक होती हुई देखी जाने वाली क्रिया की एतादृश अति अल्पकाल स्थापिता मानना उचित प्रतीत नहीं होता है। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि प्रश्न—प्रतिपादित परिस्थिति एवं तत्सम समस्त परिस्थितियों में गन्तव्य लक्ष्य स्थान तक बाण आदि की गति एक नहीं होती, परन्तु वहाँ क्रमिक कर्मों का उत्पाद और विनाश होने के कारण कर्म की एक धारा चलती है अर्थात् बाणगत प्रथम क्रिया के बाद लक्ष्याभिमुख द्वितीय क्रिया उत्पन्न होती है फिर तृतीय।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि बाण की गति या तत्सम किसी भी अन्य गति के स्थल में पर-पर क्षणों में ऊपर-ऊपर संयोग आगे-आगे भौतिक वस्तुओं से होते रहते हैं। अलग-अलग संयोग अलग-अलग कर्म से ही हो सकते हैं। अत: संयोगवश कार्य की धारा के लिए कारणीभूत कर्म की भी धारा मानना आवश्यक है।

कर्म-धारा पर विचार करने से यह मालूम होता है कि वेग से भी कर्म की उत्पत्ति होती है और कर्म के बिना वेग का भी निष्पादन नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो जाता है। अत: कर्म वेग का कारण भी होगा और कार्य भी। यह उचित नहीं प्रतीत होता इसके उत्तर में कहा गया है कि जो कर्म वेग का कारण होता है, वही तो उस वेग से उत्पन्न नहीं माना जा सकता? कर्म-जन्य वेग से उत्पन्न होने वाला कर्म वेग के जनक कर्म से अन्य होता है। इसलिए परम्परापेक्षा नहीं होती।

कर्म का विभाजन

किसी वस्तु को ठीक से समझने के लिए उसका विभाजन अति आवश्यक है। तदनुसार कर्म पदार्थ को ठीक से समझने के लिए इसका विभाजन अपेक्षित है। गति को

कर्म कहते हैं, गुण द्रव्य का निष्क्रिय रूप है तथा कर्म सक्रिय। कर्म वह गतिशील व्यापार है जो पदार्थ में स्थानान्तरण का कारण होता है। कर्म द्रव्य में उत्पन्न होता है उसे पूर्व स्थान से अलग कर दूसरे के साथ संयुक्त करता है। महर्षि कणाद् ने कर्म का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—कर्म वह है जो एक ही द्रव्य के आश्रित रहे तथा स्वयं गुण से रहित होकर संयोग विभाग का निरपेक्ष कारण हो।[1] इस प्रकार महर्षि कणाद् के अनुसार कर्म के तीन लक्षण हैं—कर्म एक ही द्रव्य में रहता है। स्वयं अगुणवान् है तथा संयोग विभाग का कारण होता है। कर्म के ये तीन लक्षण महर्षि कणाद् के द्वारा बतलाये गये हैं, जिसको सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। कर्म के पाँच भेद बतलाये गये हैं—

(1) उत्क्षेपण—उत्क्षेपण उस कर्म को कहते हैं जो किसी भी प्राणी के प्रयत्न के अधीन होता है। अर्थात् कोई भी प्राणी अपने किसी भी अंग को अथवा अंग लग्न किसी अन्य मूर्त द्रव्य को ऊपर उठाता है या फेंकता है तो उस मूर्त द्रव्य का वह उठना उत्क्षेपण कहलाता है। वस्तु स्थिति के अनुसार उत्क्षेपण के लिए जैसे किसी प्राणी का प्रयत्न अत्यन्त अपेक्षित मालूम पड़ता है,वैसे ही किसी मूर्त द्रव्य के उत्क्षेपण के लिए उसमें गुरुत्व अर्थात् भार और किसी प्रयत्नशील या क्रियाशील द्रव्य के साथ संयोग ये दोनों नितांत आवश्यक हैं, क्योंकि कोई हलका द्रव्य ऊपर फेंके जाने पर ठीक से नहीं जाता। उसमें संयोग की उपेक्षा इसलिए होती है कि प्राणी के प्रयत्नशील होने पर भी वह द्रव्य जिसे ऊपर फेंकना है यदि उस प्राणी से संयुक्त नहीं होगा तो दूरवर्ती द्रव्य को वह प्राणी कैसे ऊपर फेंक सकेगा? अत: किसी प्राणी के साथ होने वाला संयोग भी द्रव्य के उत्क्षेपण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरण के लिए इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि राम नामक व्यक्ति गेंद खेल रहा है। उसे यह इच्छा हुई कि गेंद को मैं ऊपर फेंकूँ।इच्छा से से प्रेरित होकर उसने ऐसा प्रयत्न किया कि उसका हाथ गेंद के साथ ऊपर को उठा। ऐसी परिस्थिति में हाथ और उसके साथ संयुक्त गेंद में जो उत्पन्न होता है अर्थात् हाथ और गेंद ऊपर उठते हैं,ये दोनों उत्थान उत्क्षेपण हैं।

(2) अपक्षेपण—जिस क्रिया से किसी क्रियाशील द्रव्य का संयोग नीचे विद्यमान द्रव्य के साथ हो उस क्रिया का नाम अपक्षेपण है। इसे ही कुछ लोग अवक्षेपण कहते हैं। अपने आश्रित को नीचे की ओर से जाने वाली क्रिया का नाम ही अवक्षेपण है। पेड़ से फल गिरना, नीचे कूदना आदि सभी अवक्षेपण कर्म हैं, जिसके द्वारा निचले प्रदेश से संयोग और ऊपर प्रदेश से विभाग होता है।

उत्क्षेपण और अपक्षेपण को पार्थिव जलीय तैजस् वायवीय और मानस इन पाँच भेदों में विभक्त किया जा सकता है। पार्थिव जलीय और तैजस् ये तीन उत्क्षेपण और अपक्षेपण जो अनायास समझे जा सकते हैं। क्योंकि परिच्छिन्न पार्थिव जलीय और तैजस् खण्डों को

---

1. एक द्रव्यम् गुण संयोगविभागेष्वनपेक्षण कारण।मेति कर्म लक्षणम्। —वैशेषिक सूत्र, 1.1.17

ऊपर फेंकना और नीचे गिराना सहज है,लेकिन मनस और वायु में ऐसा नहीं। इस सम्बन्ध में यह देखा गया है कि कोई व्यक्ति ऊर्ध्वमुख होकर लेटा हुआ है, ऊपर की ओर मुख से वायु फेंकता है, वहाँ वायु का उत्क्षेपण होता है। इसी प्रकार नीचे की ओर मुख करके जब आग फूँकता है तो वहाँ वायु अपक्षेपण होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वमुख और अधोमुख पम्प से वायुक्षेपण स्थल में भी वायवीय उत्क्षेपण और अपक्षेपण समझा जाता है। मानस उत्क्षेपण और अपक्षेपण इसलिए मानने होंगे कि योगियों के द्वारा शारीरिक ऊर्ध्व देश और अधो देश में मन को आबद्ध करने पर जो 'धारण' होती है, उसमें मानस उत्क्षेपण और अपक्षेपण मानना अति आवश्यक होगा, क्योंकि वहाँ बिना गये मन उस स्थान में आबद्ध नहीं हो सकता है और आबद्ध होता है यह अनुभवशील है।[1]

(3) आकुंचन—आकुंचन वह कर्म कहलाता है, जिसके होने पर अवयवी द्रव्य के अवयवों में द्रव्यानारम्भक सम्बन्ध (संयोग) होता है। इससे शब्दों में अपने आश्रित को संकुचित करने वाली क्रिया का नाम आकुंचन है। इस क्रिया के द्वारा सीधी वस्तु टेढ़ी हो जाती है और शरीर निकटतर प्रदेश के साथ संयोग होता है, जैसे, हाथ-पैर मोड़ना, कछुए का अंग समेटना इत्यादि।

कोई भी अवयवी द्रव्य अपने अवयवों के संयोग से बना हुआ होता है और वह अवयवी के उत्पादक अवयवगत संयोग अवयवी द्रव्य के नाश से अव्यवहित पूर्व क्षण तक रहते हैं, क्योंकि उन संयोगों के नाश से उनके कार्य अवयवी द्रव्य का नाश होता है। ऐसे संयोग के रहते हुए जो अवयवों में अवयवी के अनारम्भ आगन्तुक संयोग उत्पन्न होते हैं उन संयोगों के उत्पादक कर्म आकुंचन कुंचन संकोच शब्दों से कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ कोई कपड़ा फैला हुआ है, उस कपड़े के अवयव सभी तन्तुओं में संयोग विद्यमान है अन्यथा तन्तुओं के अलग होने से कपड़ा रह ही नहीं सकता। उस फैले हुए कपड़े को निचोड़ कर समेट दिया। वहाँ उस कपड़े का सिमटना ही 'आकुंचन' है, क्योंकि सिमटने पर उस कपड़े की परिस्थिति पर विचार करने पर यही कहना होगा कि कपड़े के अवयवभूत तन्तुओं में ऐसे नये संयोग उत्पन्न हो गये हैं—जो कि उस कपड़े के उत्पाद में हेतु नहीं हैं। अतः इन नवागन्तुक पटानारम्भक तन्तु संयोगों के उत्पादक क्रिया को आकुंचन कहा जा सकता है।

(4) प्रसारण—प्रसारण आकुंचन का एकदम विपरीत है, अर्थात् आकुंचन जहाँ द्रव्यारम्भक संयोग के काल में होने वाले अवयवगत अनारम्भक संयोग का उत्पादक होता है। दूसरे शब्दों में अपने आश्रित को फैलाने वाली क्रिया का नाम प्रसारण है, इसके द्वारा दूरवर्ती प्रदेश से संयोग होता है, जैसे—लता का फैलना, नदी का आप्लावित होना, वहाँ यह प्रसारण अवयवों में द्रव्यारम्भक संयोग के रहते हुए भी अनारम्भक संयोग नामक

1. पदार्थ शास्त्र : पं० आनन्द झा, पृ० 224

विभाग है, के प्रति कारण होने वाला कर्म होता है। उदाहरण के लिए कोई वस्त्र एकत्र किया हुआ रखा है, किसी व्यक्ति के द्वारा या वायु वेग से यदि फैलता है तो उसके अवयवों में उससे पूर्व के आकुंचन से होने वाला द्रव्य का अनारम्भक संयोग अवश्य नष्ट हो जाता है। उस संयोग का नाश तब तक नहीं होता, जब तक अवयवों में अर्थात् वस्त्र के भाग रूप तन्तुओं में विभाग उत्पन्न हो। अनारम्भक अवयव संयोग का नाशक विभाग, तब तक नहीं उत्पन्न हो सकता, जब तक उन अवयवों में कर्म न हो। वह कर्म ही प्रसारण है। यहाँ प्रसारण शब्द से प्रसरण भी समझना चाहिए। प्रसरण और प्रसारण में अन्तर यह है कि जब किसी प्राणी के प्रयत्न के अधीन उक्त प्रकार का कर्म किसी अवयवी के अवयवों से होता है तब वह प्रसारण कहलाता है और सब प्रयत्न के अधीन होकर किसी क्रियाशील मूर्त मात्र के संयोग से होता है, तब प्रसरण कहलाता है।

(5) **गमन**—कर्म विभाजन के अनुसार पाँचवाँ स्थान गमन का है। जिस क्रिया से उत्पन्न होने वाले संयोग का दिंगनियम न हो वह क्रियागमन कहलाती है। दूसरे शब्दों में यह चलनात्मक क्रिया है जिसके द्वारा एक स्थान से विभाग एवं दूसरे स्थान से संयोग होता है। भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्व, जलन और तिर्यग्गमन आदि सभी कर्म गमन में ही अन्तर्भावित हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति किसी से यह कहता है कि "श्याम जा रहा है" तो श्रोता श्याम को जाता हुआ मात्र समझता है। वह किस ओर जा रहा है उसका प्रश्रय किधर है, यह निर्णय नहीं कर पाता। उत्क्षेपण आदि स्थलों में यह बात नहीं होती। यदि वक्ता यह कहता है कि गेंद का उत्क्षेपण हो रहा है तो श्रोता दिक् के सम्बन्ध में सन्दिग्ध नहीं होता। उसे सुनने से यह निर्णय हो जाता है कि गेंद ऊपर की ओर अग्रसर हो रहा है।

कुछ लोग गमन को कर्म का पर्याय मानते हैं। उनका कहना यह है कि उत्क्षेपण अपक्षेपण आदि क्रियाओं के अस्तित्व स्थल में "गेंद ऊपर जाती है", "नीचे आती है" इत्यादि रूप से गमन का व्यवहार होता है तब 'गमन' का सामान्य रूप से कर्म न मानकर उसका एक प्रभेद मानना संगत प्रतीत नहीं होता। अत: 'गमन' को सामान्यत: कर्म स्वरूप ही मानना चाहिए। परन्तु यह कथन इसलिए संगत नहीं मालूम पड़ता कि उत्क्षेपण और अपक्षेपण स्थल में तो उक्त प्रकार के गमन धारित वाक्य का प्रयोग होता है, परन्तु आकुंचन और प्रसारण स्थल में क्या कोई कभी गमन पद से घटित वाक्य का प्रयोग करता है? किसी द्रव्य के सिकुड़ते और फैलते समय कोई भी क्या यह कहता है कि वह द्रव्य जा रहा है, कभी नहीं कहता है। फिर 'गमन' शब्द से सारे कर्मों को कैसे कहा जा सकता है।

कर्म के विषय में अनेक मत-मतान्तर हैं। विश्लेषण करने पर कर्म शब्द की शक्तियाँ बहुत से अर्थों में उपलब्ध होती हैं। उन शक्तियों के आधार पर 'कर्म' शब्द का अनेक अर्थों में व्यवहार होता है, अर्थात् मैं गाँव जाता हूँ अथवा पढ़ने के लिए विद्यालय जाता हूँ, यहाँ पर गाँव या विद्यालय कर्म है। यहाँ कर्म शब्द का अर्थ है उत्तरदेश-संयोग

जो चलने के पश्चात् मुझे स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाता है। कुछ विद्वानों ने 'क्रिया' को ही 'कर्म' शब्दार्थ बतलाया है। क्रियाएँ अनेक हैं जैसे—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, भ्रमण आदि। कुछ लोगों ने धातु के अर्थ को क्रिया माना है। यदि धात्वर्थ ही क्रिया है तो "ध्यासोवेति न वा" इत्यादि स्थल पर विद् धातु का अर्थ है वेदन या ज्ञान और ज्ञान तथा वेदन ये दोनों समानार्थक होने से पर्यायवाची हो जाते हैं। अत: वेदन को गुण कहना होगा, क्योंकि वेदन ज्ञान है और ज्ञान गुण है। परन्तु गुण को कर्म कहना लोकव्यवहार विरुद्ध है।

(6) **अदृष्ट**—अदृष्ट उस गुण को कहते हैं, जो सत् कर्म या असत् कर्म से अर्थात् सदाचरण या असदाचरण से उत्पन्न होकर सुख या दु:ख का कारण हो। इसे अदृष्ट इसलिए कहा जाता है कि सुख या दु:ख होने पर उससे उसके कारण रूप से इसे गुण की कल्पना की जाती है। प्रत्यक्षत: इसे देखा नहीं जा सकता। इसे स्वीकार करने में यह युक्ति दी जाती है कि यह तो सभी को मानना होगा कि अच्छे कर्मों से सुख और बुरे कर्मों से दु:ख मिलता है। ऐसा न माना जाय तो कोई भी विवेकी सुकर्म क्यों करे, दुष्कर्म ही क्यों न करे। यह मान लेने पर कि सुकर्म से सुख और दुष्कर्म से दु:ख मिलता है। समस्या यह है कि सुकर्म और दुष्कर्म बहुत पहले किये जाते हैं, किन्तु उनके फल कालान्तर में बहुत बाद में सुख और दु:ख के रूप में मिलते हैं। फिर परवर्ती सुख या दु:ख के प्रति उससे अति व्यवहित पूर्व कालवर्ती कर्म कैसे कारण माना जाये इस कठिनता के निराकरणार्थ बीच में 'अदृष्ट' नामक गुण आत्मा में माना जाता है, जिसके रहने के कारण सुकर्म-दुष्कर्म के नष्ट हो जाने पर भी सुख दु:ख की निष्पत्ति हो जाती है।

कुछ लोग जो प्रत्यक्ष मात्र को वस्तु व्यवस्थापक प्रमाण मानते हैं, अदृष्ट गुण नहीं मानते । परन्तु उनके मत में सुकर्म और दुष्कर्म की परिभाषा क्या होगी? इसे वे ही बतला सकते हैं क्योंकि अदृष्ट माने बिना कर्म को सुखकर या दु:खकर नहीं माना जा सकता, जिससे सुखद या दु:खद होने के आधार पर सुकर्म या दुष्कर्म की परिभाषा की जाये। यदि कहा जाये कि जिससे राजदण्ड का भय हो वह दुष्कर्म और तदतिरिक्त कर्म सुकर्म कहा जायेगा, तो यह भी कहना कठिन है। क्योंकि दण्ड विधान का निर्णय ही कैसे हो सकेगा? सुकर्म-निश्चय और दुष्कर्म निश्चय के आधार पर ही तो दण्ड विधान का निर्धारण होता है।

अदृष्ट की सिद्धि में सबसे प्रबल युक्ति यह है कि ऐसी एक भी क्रिया नहीं दिखलायी जा सकती जो अपने अनन्तर और फलसिद्धि के पूर्व, मध्य में एक अदृष्ट व्यापार की अपेक्षा न करती हो। जैसे किसी आकर्षक वस्तु को देखकर कोई समय-समय पर उसे स्मरण करता है, वहाँ देखना और स्मरण करना स्पष्ट है। किन्तु मध्य में होने वाली भावना, अदृष्टतया रहती है। स्मरण स्वरूप फल से भावना की कल्पना की जाती है कि वह अवश्य थी, नहीं तो देखने वाले से पृथक् दूसरों को उस आकर्षक वस्तु का

स्मरण क्यों नहीं होता? रोगी दवा खाता है और रोगमुक्त हो जाता है। ये दो बातें प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, किन्तु मध्य में होने वाली प्रक्रिया छिपी हुई अदृष्ट रहती है, जबकि साधारण क्रियामात्र फलसिद्धि के लिए अदृष्ट व्यापार की अपेक्षा करती है, फिर सुकर्म-दुष्कर्म क्यों नहीं अदृष्ट व्यापार की अपेक्षा करेगा? अतः अदृष्ट नामक गुण मानना ही चाहिए।

कुछ लोग अदृष्ट को सुकर्म और दुष्कर्म को ही अस्पष्ट अवस्था विशेष मानते हैं, गुण नहीं, किन्तु कर्म स्पन्दनात्मक होता है। अतः इसे कर्मस्वरूप मानना कठिन है। कुछ लोगों का कहना है कि सुकर्म करने से भगवान् खुश होते हैं और दुष्कर्म करने से नाराज होते हैं। उस प्रसन्नता से सुकर्मकारी को सुख मिलता है और अप्रसन्नता से दुष्कर्मकारी को दुःख। इस मत में प्रसन्नता और अप्रसन्नता को ही अदृष्ट नाम से कहा जाता है, कर्तृगत स्वतन्त्र गुण को नहीं, किन्तु यह इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता कि ऐसा स्वीकार करने पर भगवान् जीवों के समान जन्य सुख और दुःख होता है, ऐसा स्वीकार करना होगा। क्योंकि प्रसन्नता को सुख से और अप्रसन्नता को दुःख से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता। भगवान् को भी सुख और दुःख का होना मानने पर जीवों से उनकी विशेषता क्या रह जाती है? कुछ लोग अदृष्ट को आत्मा का गुण न मानकर अन्तःकरण का धर्म या परिणाम मानते हैं। किन्तु सुख और दुःख आत्मा के गुण हैं, अतः अदृष्ट को भी आत्मगुण मानना ही उचित है।

अदृष्ट को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—पुण्य और पाप। पुण्य वह है जिससे सुख हो और पाप वह है जिससे दुःख हो। इसी आधार पर सुकर्म की व्याख्या की जाती है। जैसे जिससे पुण्य उत्पन्न हो, वह कर्म सुकर्म है और जिससे पाप हो वह कर्म कुकर्म। सुखद कर्म सुकर्म है और दुःखद कर्म कुकर्म। सुख कर्म और दुःखद कर्म की यह व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि तब तो परस्त्रीगमन आदि सुकर्म और तपश्चरण आदि कुकर्म कहलाने लगेंगे।

न्याय-वैशेषिक का ईश्वर कर्म के सन्दर्भ में

उत्तरकालीन वैशेषिक ने तथा नैयायिकों ने ईश्वर की सत्ता मुक्त-कण्ठ से स्वीकार की है एवं उनकी सिद्धि के लिए तर्क भी दिये हैं। वे ईश्वर को कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता और नियन्ता बताते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ है, नित्यज्ञानाधिकरण है। उनमें ऐश्वर्यादि गुण हैं। वे भक्तों पर कृपा करके तत्वज्ञान प्राप्ति में उनकी सहायता करते हैं। सृष्टि और प्रलय उनकी इच्छा से होते हैं। उदयनाचार्य ने अपने न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर सिद्धि के लिए युक्तियाँ दी हैं।[1]

---

1. **कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।**
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ —न्यायकुसुमांजलि, उदयनाचार्य, 5.1

(1) **कार्यात्**—यह जगत् कार्य है, अत: इसका निमित्त कारण अवश्य होना चाहिए, जगत् में सामंजस्य एवं समन्वय इसके चेतनकर्त्ता से आता है। अत: सर्वज्ञ चेतन ईश्वर इस जगत् के निमित्त कारण एवं प्रयोजन कर्त्ता है।

(2) **आयोजनात्**—जड़ होने से परमाणुओं में आद्यस्पन्दन नहीं हो सकता और बिना स्पन्दन के परमाणु द्वयगुणक आदि नहीं बना सकते। जड़ होने से अदृष्ट भी स्वयं परमाणुओं में गति संचार नहीं कर सकता। अत: परमाणुओं में आद्यस्पन्दन का संचार करने के लिए तथा उन्हें द्वयगुणकादि बनाने के लिए चेतन ईश्वर की सत्ता आवश्यक है।

(3) **धृत्यादे**—जिस प्रकार इस जगत् की सृष्टि के लिए चेतन सृष्टिकर्त्ता आवश्यक है, उसी प्रकार इस जगत् को धारण करने के लिए एवं इसका प्रलय में संहार करने के लिए चेतनधर्ता एवं संहर्ता की आवश्यकता है और यह कर्ता, धर्ता, संहर्ता ईश्वर है।

(4) **पदात्**—पदों में अपने अर्थों को अभिव्यक्त करने की शक्ति ईश्वर से आती है। "इस पद से यह अर्थ बोधव्य है" यह ईश्वर संकेत पदशक्ति है।

(5) **प्रत्ययत्**—वेद ईश्वर द्वारा उच्चरित वचन हैं, अत: उनका प्रामाण्य पूर्ण और असन्दिग्ध है, इससे भी सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

(6) **श्रुतेः**—वेद ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

(7) **वाक्यात्**—वेद विधि निषेधात्मक वाक्यों द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निरूपण करते हैं। वेद ईश्वर वाक्य है। अत: ईश्वर नैतिक नियम (कर्म नियम) के संस्थापक एवं संरक्षक हैं। वे जगत् के नियन्ता हैं।

(8) **संख्या विशेषात्**—न्याय-वैशेषिक के अनुसार द्वयणुक का परिणाम उसके घटक दो अणुओं के पारिमाण्डल्य से उत्पन्न नहीं होता, अपितु दो अणुओं की संख्या से उत्पन्न होता है। संख्या का प्रंत्यय चेतन द्रष्टा से सम्बद्ध है। सृष्टि के समय जीवात्माएँ जड़ द्रव्य रूप में स्थित हैं एवं अदृष्ट, परमाणु, काल, दिक्, मन आदि सब जड़ हैं। अत: दो की संख्या के प्रत्यय के लिए चेतन ईश्वर की सत्ता आवश्यक है।

(9) **अदृष्टात्**—यह अदृष्ट जीवों के शुभाशुभ कर्म संस्कारों का आगार है। ये संचित् संस्कार फलोन्मुख होकर जीवों को कर्मफल भोग कराने के प्रयोजन से सृष्टि के हेतु बनते हैं। किन्तु अदृष्ट जड़ है, अत: उसे सर्वज्ञ ईश्वर के निर्देशन तथा संचालन की आवश्यकता है। अत: अदृष्ट के संचालक के रूप में सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

इस प्रकार न्याय वैशेषिक दोनों का विचार है कि मनुष्य के शुभ-अशुभ कर्मों के फल का नियन्त्रक ईश्वर है।

सांख्य दर्शन में कर्म-विचार

भारतीय दर्शन के अन्य आस्तिक दर्शनों की भाँति सांख्य भी कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, और मोक्ष को मानता है, किन्तु इन सब में सांख्य की अपनी मौलिक दृष्टि है।

सांख्य अच्छे-बुरे कर्मों का सम्बन्ध सत्त्व, रजस् आदि गुणों से जोड़ता है। भगवद्गीता में सात्विक, राजस् और तामस आहार एवं यज्ञ, दान आदि कर्म बतलाये हैं, ये सारे वर्णन लगभग सांख्य का ही प्रभाव दर्शाते हैं।

इसी प्रकार सांख्य दर्शन में पुरुष चेतन रूप है और सभी क्रियाएँ प्रकृति के क्षेत्र में सम्भव हैं। पर इसके बावजूद सांख्य दर्शन पुरुष द्वारा कर्म करने के विधान को स्वीकार करता है। जीवन मुक्ति की अवस्था प्राप्त करने पर भी पुरुष को कर्मरत रहना ही पड़ता है। तत्त्व-ज्ञान के प्रभाव से अनारम्भ कर्मबीज तो खत्म हो जाते हैं और क्रियमाण कर्म की भी उत्पत्ति नहीं होती पर प्रारब्ध कर्म, जिनका फल आरम्भ हो चुका है, नष्ट नहीं होते। विदेहमुक्ति तक कर्म करना पुरुष की नियति है। इसलिए जीवन मुक्ति की अवस्था में भी पुरुष को कर्म से विरक्त नहीं होना चाहिए बल्कि उसे प्रारब्ध कर्म का निष्पादन करते रहना चाहिए, पाप कर्म ज्ञान के कारण बन्धनकारी नहीं होते हैं।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण विशुद्ध ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर संचित धर्मोधर्म—शुभाशुभ कर्मों का बीज भाव या फलोत्पादकत्व नष्ट हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों—जिसमें विशिष्ट योनि वाला वर्तमान जन्म तथा इस जन्म के सुख-दु:ख भोग प्राप्त किये हुए हैं, वे अवशिष्ट संस्कार भोग से ही क्षीण होंगे, ज्ञान से नहीं। अत: उनके सामर्थ्य से साधक जो अवसिद्ध हो चुका है, वैसे ही शरीर धारण किये रहता है, जैसे—दण्ड से चलाई गयी कुम्हार की चाक पूर्ण उत्पन्न वेग से चलती रहती है। जैसे—वेग के समाप्त हो जाने पर चाक चलना बन्द कर देती है, वैसे ही अवशिष्ट प्रारब्ध संस्कार के क्षीण हो जाने पर भी शरीर भी व्यापार करना बन्द कर देता है, नष्ट हो जाता है।[1] इन्हीं विचारों का प्रतिपादन करते हुए वाचस्पति मिश्र के शब्दों में क्लेशरूपी जल से सिक्त बुद्धिरूपी भूमि में कर्मबीज के अंकुर होते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञानरूप ऊष्मा के कारण क्लेशरूपी जल के सूख जाने पर उस जमीन में क्या कभी कर्मबीज उत्पन्न हो सकते हैं।[2]

योगदर्शन में कर्म-विचार

भारत के लगभग सभी आस्तिक दर्शनों में कर्म का विचार किया गया है। वस्तुत: कर्म हमारे जीवन का तथा दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। संसार की प्रत्येक वस्तु में 'रजोगुण' रहता ही है। रजोगुण का स्वभाव है क्रियाशील होना। अतएव प्रत्येक वस्तु में किसी न किसी रूप में क्रिया रहती है, इसलिए गीता में कहा गया है कि—"कोई भी मनुष्य (कुछ न कुछ) कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण

1. सम्यक्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
   तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः॥ —सांख्यकारिका 67.
2. सांख्य कारिका-67 (तत्त्व कौमुदी)

प्रत्येक परतन्त्र मनुष्य को कर्म करने में लगाये ही रहते हैं।''[1]

अतएव सभी प्राणियों को कर्म करना ही पड़ता है। योग-शास्त्र में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कर्म एक प्रधान साधन है। कर्म करने के अनन्तर उससे चित् में संस्कार अर्थात् कर्मोशय उत्पन्न होता है और वही वासना को उत्पन्न करता है और फिर वासना के अनुकूल जीव की उत्पत्ति तथा संसार में उसके कर्म होते हैं। यह कर्म चक्र अबाधित गति से अनवरत संसार में चलता रहता है। कर्म की गति अनादि है अविद्या अनादि है और इसी अविद्या के कारण कर्म की उत्पत्ति होती है।

कर्म चार प्रकार का होता है—कृष्ण, शुक्ल, अशुक्ल अकृष्ण। दुर्जनों के कर्म कृष्ण होते हैं बाह्य साधनों से उत्पन्न शुक्ल कृष्ण कर्म साधारण लोगों के होते हैं। जीवनयापन करने के लिए उन्हें साधारण रूप से पुण्य और पाप दोनों ही करने पड़ते हैं। अतएव शुक्ल कृष्ण कर्म के द्वारा दूसरों को पीड़ा देने से तथा उनके प्रति अनुग्रह दिखाने से उनका कर्माशय संजित होता है। तपस्या, स्वाध्याय तथा ध्यान में निरत लोगों के कर्म केवल मन के अधीन होते हैं, इसलिए उन्हें बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती है। अतएव उस प्रकार के कर्मों के द्वारा निश्चित रूप से न तो दूसरों को पीड़ा ही दी जा सकती है और न अनुग्रह ही दिखाया जा सकता है। इन कर्मों को शुक्ल कर्म कहते हैं।

परमज्ञानी लोग उसी प्रकार का कर्म करते हैं, जिनके द्वारा उनकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो सकें। अतएव उनके चित् में विद्यमान पुण्य और पापों के संस्कार की निवृत्ति हो जाती है। वे लोग पाप उत्पन्न करने वाले कर्म तो करते ही नहीं किन्तु तप ध्यान आदि के द्वारा पुण्य जनक जो कार्य कर्म करते हैं, उसके फल को प्राप्त करने की इच्छा भी उन्हें होती है। इसलिए उनके कर्म 'अशुक्ल-अकृष्ण' कहे जाते हैं।[2] कर्म के फलों की इच्छा न होने से 'अशुक्ल' तथा निषिद्ध कर्मों को न करने के कारण अकृष्ण योगियों के कर्म होते हैं।

साधारण लोगों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों कर्मों से उसी प्रकार की वासनाएँ भी उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार के वे कर्म होते हैं। दिव्य करने से उसी के अनुरूप दिव्य वासना उत्पन्न होती है। मानुषिक कर्मों से उत्पन्न वासनाओं के फलों के भोग के समय में दिव्य कर्म के फलों का भी भोग नहीं होता है। इसी प्रकार नारकीय तथा तैर्यक वासनाओं के लिए भी उपयुक्त ही नियम है।[3]

---

1. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
   कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ —गीता, 3.5
2. योगसूत्र भाष्य, 4-7
3. वही, 4-8

मीमांसा दर्शन में कर्म-विचार

मीमांसा का मुख्य आधार 'कर्म सिद्धान्त' है और उसी का विवेचन तथा विश्लेषण उक्त दर्शन में पर्याप्त रूप से किया गया है। कर्म से इनका अभिप्राय है वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का अनुष्ठान। इस प्रवृत्ति को देखकर एक निरपेक्ष विद्वान् ने समस्त दर्शनों का सार बतलाते हुए 'कर्मेति मीमांसका:' कहा है। इसका आशय है कि मीमांसा की दृष्टि से सबसे बड़ा तत्त्व जो कि ईश्वर की समता कर सकता है, कर्म ही है। इस कर्म-सिद्धान्त के विरोध में कुछ लोग आलोचना भी करते हैं। इसके कर्म-मीमांसा का उद्देश्य यह है कि प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट साधक कार्यों में लगे और अपना वास्तविक कल्याण साधन करे। यज्ञ यागादि में किसी देवता विशेष (इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि) को लक्ष्य करके आहुति दी जाती है। वेदों में इन देवों के स्वरूप का पूरा वर्णन मिलता है। सभी मीमांसा के मत में 'देवता' सम्प्रदान-कारक सूचक पद-मात्र है। इससे बढ़कर उसकी कुछ भी स्थिति नहीं है। देवता मन्त्रात्मक होते हैं और देवताओं की पृथक् सत्ता उन मन्त्रों को छोड़कर अलग नहीं होती है जिनके द्वारा उनके लिए हवन का विधान होता है, तब प्रश्न उठता है कि वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किसके लिए किया जाये? इस सम्बन्ध में सामान्य मत तो यह है कि कामना की पूर्ति के लिए। परन्तु विशेष मत तो यह है कि कामना की पूर्ति के लिए वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। ऋषियों ने अपनी ज्ञान-दृष्टि से जिन वैदिक मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म का हमें उपदेश दिया है, उनका उद्देश्य हमारा आत्मकल्याण ही है। इसके लिए उनका अनुष्ठान किसी विशेष प्रयोजन के सिद्धि की भावना रखे बिना, निष्काम भाव से ही करना चाहिए।

वैदिक कर्मों का फल स्वर्ग प्राप्ति माना गया है। निरतिशय सुख का नाम ही 'स्वर्ग' है। 'स्वर्गकामो यजेत्' वाक्य में यज्ञ कर्म के सम्पादन का उद्देश्य स्पष्ट रूप से स्वर्ग की कामना दिया गया है। परन्तु अन्य सब दर्शनों में मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष बतलाया गया है। फलत: मीमांसा में भी मोक्ष की भावना का प्रवेश हुआ। सकाम कर्मों के अनुष्ठान से पाप-पुण्य होते हैं; जिससे जीवात्मा सदैव बन्धों में ही पड़ा रहता है। पर निष्काम धर्माचरण से तथा आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मों के संचित् संस्कार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाकर दु:खों से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

कर्म सिद्धान्त को इतना महत्त्वपूर्ण मानने के कारण ही पूर्वमीमांसा (जैमिनी-मीमांसा) को कर्म-मीमांसा कहा जाता है। मीमांसा के अनुसार वेद प्रतिपादित कर्म तीन प्रकार के हैं—नित्य कर्म—सन्ध्या, वन्दन आदि नित्य कर्म हैं। नैमित्तिक कर्म—किसी अवसर विशेष पर किये गये श्राद्ध आदि कर्म नैमित्तिक कर्म हैं। प्रतिषिद्धि कर्म—वेद के द्वारा वर्जित कर्म, जैसे—"कलञ्जनं न भक्षयेत्" अर्थात् विष, दग्धशस्त्र से मरे हुए पशु मांस का भक्षण नहीं करना चाहिए और किसी इच्छा विशेष से किया गया कर्म जैसे—"स्वर्ग कामो यजेत्" अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाले को यज्ञ का सम्पादन करना

चाहिए। इन तीनों कर्मों की कुछ विशेषताएँ हैं। नित्य-नैमित्तिक कर्मों को अवश्य करना चाहिए, इनके न करने से पाप होता है, परन्तु करने से पुण्य भी नहीं। प्रतिषिद्धि कर्म कभी नहीं करना चाहिए। इनके करने से पाप होता है, परन्तु इनके न करने से पुण्य नहीं होता है। काम्य कर्म को करें या न करें इनके करने से पुण्य अवश्य होता है परन्तु न करने से पाप नहीं होता।

मीमांसा के एक दूसरे वर्ग के अनुसार कर्म का विभाजन तीन श्रेणियों में किया गया है—सहजकर्म, जैवकर्म और ऐश कर्म। प्रकृति की आरम्भिक अवस्था में जो कर्म प्रकट करता है, ब्रह्माण्ड और पंचभूतों की उत्पत्ति, उद्भिज के रूप में जीव सृष्टि का आरम्भ होना सहज कर्म माने जाते हैं। मीमांसा इनके प्रकृति के कर्म मानता है। इसके पश्चात् जब उद्भिज से चलने फिरने वाले प्राणी का अन्त में मनुष्य में आविर्भाव हो जाता है तब जैव कर्म का आरम्भ होता है क्योंकि मनुष्य को बुद्धि विवेक मिल जाने के कारण वह पाप-पुण्य का निर्णय कर सकता है और स्वयं भी इच्छानुसार किसी भी मार्ग का अवलम्बन कर सकता है। इसी जैव कर्म के फलस्वरूप मनुष्य प्रेतयोनि, स्वर्ग-नरक, मनुष्य लोक आदि में भ्रमण करता हुआ तरह-तरह की योनियों का अनुभव करता रहता है। इसी अवस्था में वह वेद, पुराण, धर्मग्रन्थ आदि की सहायता से आत्मिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता जाता है। ऐश-कर्म का सम्बन्ध मनुष्य लोक से उच्च स्थिति वाले देवलोक से है। पर मनुष्य लोक से भी उसका परोक्ष सम्बन्ध रहता है और निरन्तर परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होता रहता है, इसी कर्म के प्रभाव से मनुष्य देव पदवी को प्राप्त करता है।[1] इस प्रकार कर्म-महिमा अपार है और चाहे उसे मीमांसकों की तरह सर्वोपरि माना जाये या न माना जाये पर इसमें संदेह नहीं कि संसार में प्रत्यक्ष कर्त्ता-धर्ता और फलदाता कर्म ही है। इसी तत्त्व को समझकर गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में कहा है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

संसार में विभिन्न जातियों, देशों और व्यक्तियों की जैसी उन्नति या अवनति देखी जाती है, उसका मूल आधार कर्म ही है। किसी भी जाति का ऊँचा चढ़ना या नीचा गिरना, शक्तिशाली और स्वाधीन बनना अथवा पराधीनता और दासता की पतित अवस्था को प्राप्त हो जाना सब बातें कर्म के ही अधीन हैं।

कर्म के स्वरूप के बारे में मीमांसकों में मतभेद है। सभी मीमांसक कर्मकाण्ड में आस्था रखते हैं तथा वेद प्रतिपादित कर्म में विश्वास करते हैं, परन्तु कर्म के प्रेरक कारण के सम्बन्ध में कुमारिल और प्रभाकर में कुछ मतभेद है। कुमारिल के अनुसार कर्म विशेष के अनुष्ठान में प्राणी की प्रवृत्ति तभी होती है जब उस कर्म से किसी इष्ट

---

1. **मीमांसा दर्शन : पं० श्रीराम शर्मा, पृ० 13**

साधन की आशा हो, तात्पर्य यह है कि कुमारिल के कृत्यों के अनुष्ठान का कारण 'कार्यता ज्ञान' है। कुमारिल के अनुसार काम्य-कर्म किसी इच्छा विशेष की सिद्धि के लिए किये जाते हैं। पर प्रभाकर के अनुसार काम्य कर्म में कामना का निर्देश सच्चे अधिकारी की परीक्षा के लिए है, वैसे कामना करने वाले पुरुष उस कर्म का सच्चा अधिकारी सिद्ध होता है।[1] कर्म के सम्बन्ध में कुमारिल और प्रभाकर में मतभेद हैं। कुमारिल के अनुसार नित्यकर्म (सन्ध्या इत्यादि) न करने से पाप होता है तथा करने से पाप का नाश होता है। प्रभाकर के अनुसार नित्य कर्म हमें इसलिए करना चाहिए कि वह वेद की आज्ञा है। अत: स्पष्ट है कि प्रभाकर 'कर्म' कर्म के लिए सिद्धान्त को मानते हैं, उनके अनुसार निष्काम कर्म ही कर्तव्य है। तात्पर्य यह है कि वैदिक कृत्यों का सम्पादन हमें निष्काम भाव से अपना कर्तव्य मानकर करना चाहिए तथा उसमें फलासक्ति का त्याग करना चाहिए यह भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग के समान है।

अपूर्व

कर्मफल की प्राप्ति के संदर्भ में मीमांसा दर्शन में 'अपूर्व' सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए एक लेखक ने कहा है कि—अपूर्व का शाब्दिक अर्थ है 'पूर्व' अर्थात् कर्मों से नवीन उत्पन्न होने वाला फल—पाप तथा पुण्यरूप फल। मीमांसक कर्मवादी हैं। वेद द्वारा विहित कर्म को, सर्वाधिक महत्त्व देते हैं यह तो उनके कर्म-मीमांसा नामकरण से ही स्पष्ट है। परन्तु यज्ञ के अनुष्ठान में एक विप्रपत्ति या परस्पर विरोधी तथ्य दिखाई पड़ता है। वेद कहता है 'स्वर्गकामो यजेत्' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति यज्ञ करे। इसका आशय यह है कि यज्ञानुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसलिए यज्ञ करना चाहिए। पर विचारणीय प्रश्न यह है कि यज्ञ तो यजमान आज कर रहा है और उसे फल मिलेगा किसी भविष्यकाल में। इसमें यह असंगति उत्पन्न होती है कि क्रिया तो हम आज कर रहे हैं और उसका फल मिलेगा वर्षों बाद। जब वह कर्म भूतकाल की वस्तु बन चुकी होगी। यह स्पष्ट विरोध है। इसी विरोध का परिहार करने के निमित्त मीमांसा ने 'अपूर्व' की कल्पना की है। इसका आशय यह है कि यज्ञ से उत्पन्न होता है 'अपूर्व' (पुण्य) और अपूर्व से उत्पन्न होता है स्वर्ग (फल)। इस प्रकार क्रिया और फल के बीच अपूर्व माध्यम का काम करता है। ईश्वरवादी दर्शनों के अनुयायी इस सिद्धान्त को इस आधार पर स्वीकार नहीं करते कि 'कर्म' तो जड़ है, वे किस प्रकार किसी आगामी समय में किसी की प्रेरणा के फल दे सकते हैं? उनके मतानुसार फल देने का काम ईश्वरीय शक्ति करती है, जिस प्रकार कर्म जड़ है, उसी प्रकार अपूर्व भी अचेतन तत्त्व है। बिना ईश्वरीय हस्तक्षेप के कर्म फल की व्याख्या नहीं की जा सकती।

---

1. भारतीय दर्शन : पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० 332

वेदान्त दर्शन में कर्म-विचार

वेदान्त दर्शन में ज्ञान और कर्म दोनों मोक्ष के साधन माने गये हैं। आचार्य शंकर मोक्ष को ज्ञान साध्य मानते हैं, कर्म साध्य नहीं। शंकर के अनुसार कर्म अनित्य फल साधक है, अत: इससे नित्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। शंकर के अनुसार उपनिषद् गीता आदि ग्रन्थ ज्ञानमार्ग का ही प्रतिपादन करते हैं। कर्म और ज्ञान में एकान्तिक विरोध वैसा ही है, जैसा "पर्वत और राई" में। पूरब और पश्चिम जाने वाले व्यक्तियों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। अत: कर्म-निष्ठा भिन्न है। उदाहरण के लिए कहा गया है कि जीव कर्म से बन्धन में है और ज्ञान से मुक्त हो जाता है। इसीलिए पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते। इसी प्रकार केवल त्रयी धर्म (वैदिक कर्म) में लगे रहने वाले सकाम पुरुष आवागमन को प्राप्त होते हैं। अत: अज्ञान का पूर्णत: क्षय होने पर ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। व्रत, दान, तप, यज्ञ, सत्य, तीर्थ, आश्रम और कर्मयोग—ये सभी स्वर्ग के हेतु हैं। परन्तु अशुभ या अकल्याणकारी और अनित्य हैं, ज्ञान नित्य शांतिकारक और परमार्थकारक रूप हैं। मनुष्य गणों द्वारा यज्ञों से देवत्व प्राप्त किया जाता है। तपस्या से ब्रह्मलोक को पाता है। धर्म की रस्सी से पुरुष ऊपर की ओर जाता है और पापरज्जु से अधोगति को प्राप्त होता है, परन्तु इन दोनों को ज्ञान रूप खड्ग से काट देता है, वह देहाभिमान से रहित होकर शान्ति प्राप्त करता है।[1]

ज्ञान और कर्म को विद्या और अविद्या रूप से कहा गया है। तात्पर्य यह है कि कर्म अविद्याजन्य है। केवल अज्ञानी ही कर्म करते हैं। ज्ञानी के लिए कर्म का विधान नहीं है। ज्ञान और कर्म सम्बन्धी विवाद को पाँच तरह से बतलाया गया है—

मोक्ष की प्राप्ति केवल कर्म से होती है, अथवा
ज्ञान की अपेक्षा युक्त कर्म से, अथवा
ज्ञान और कर्म दोनों से, अथवा
कर्म की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान से, अथवा
केवल ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रथम विकल्प के अनुसार केवल कर्म से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। विद्वान् यज्ञ करता है, विद्वान् यज्ञ कराता है (विद्वान् यजते विद्वान् याजयति) इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि विद्वान् का ही कर्म में अधिकार है। यह भी कहा गया है कि जानकर कर्मानुष्ठान करें (ज्ञात्वा चानुष्ठान) इससे सिद्ध है कि कर्म विद्वान् के लिए है। यदि कर्म से परम श्रेय की प्राप्ति न हुई तो वेद ही व्यर्थ हो जायेगा। शंकर इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि मोक्ष नित्य है। जो वस्तु कर्म का कार्य है उसकी अनित्यता लोक में प्रसिद्ध है। इससे

---

1. **धर्मरज्वा व्रजेदूर्ध्वपापरज्वा व्रजेदधः**
द्वयं ज्ञानसिना छित्वा विदेह शान्तिमृच्छति। —श्वेताश्वतरोपनिषद्, भाष्य, 1.1

सिद्ध है कि मोक्ष कर्मजन्य नहीं है। यदि मोक्ष को कर्मजन्य मानें तो श्रुति से भी विरोध होगा, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद्[1] में कहा गया है कि जिस प्रकार यह कर्मोपार्जित लोक क्षीण होता है उसी प्रकार पुण्यार्जित परलोक भी क्षीण हो जाता है।

दूसरा विकल्प है कि ज्ञान की अपेक्षा रखने वाले कर्म से मोक्ष उत्पन्न होता है, तीसरे विकल्प के अनुसार ज्ञान और कर्म दोनों से, चौथे विकल्प से कर्म की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान से। इस प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे विकल्पों का सारांश है—ज्ञान कर्म समुच्चय। आचार्य शंकर का कहना है कि—कर्म और ज्ञान दोनों के फल भिन्न-भिन्न हैं। कर्म के चार फल हैं—उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य। कर्म से फल की उत्पत्ति होती है, अत: यह उत्पाद्य है। परन्तु मोक्ष तो आत्मा का स्वरूप ही है। इसकी उत्पत्ति तो नहीं होती, अत: यह अनुत्पाद्य है। कर्म-फल की प्राप्ति होती है, अत: यह आप्य है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप ही मोक्ष है। इसमें कुछ प्राप्त नहीं होता, अत: यह अनाप्य है। कर्म-फल तो विकार है। विकार तो अनित्य होता है। आत्मज्ञान (मोक्ष) तो नित्य है अत: यह अविकार्य है। कर्म फल से किसी नये गुण का उत्पादन होता है। इसलिए कर्म फल सत्कार्य है, परन्तु मोक्ष तो आत्मा की निजी रूप में अवस्थिति है। इसमें नूतन गुण की उत्पत्ति नहीं होती, अत: मोक्ष असंस्कार्य है। आत्मा अनुत्पाद्य, अविकार्य, असंस्कार्य और अनाप्य होने से कर्मजन्य नहीं है। कर्म और ज्ञान दोनों में भेद है। ज्ञान ज्ञापक होता है, कारक नहीं। ज्ञान का कारकत्व केवल अज्ञान निवृत्ति तक ही सीमित है। विद्या का कार्य अविद्या निवृत्ति मात्र है। शाश्वत् शान्तिदायक ब्रह्म ज्ञान किसी कर्म की अपेक्षा नहीं रखता। कर्म वैदिक या लौकिक सुकृत विकृत या अकृत हो सकता है। विधि और निषेध, व्याकरण और निराकरण, नियम और अपवाद आदि बुद्धित्व तथा कर्म सापेक्ष है, किन्तु ज्ञान केवल ज्ञापक होने के कारण वस्तुत: तन्त्र होता है, कर्म सापेक्ष नहीं।[2] ब्रह्मात्मैकत्व दर्शन के साथ कर्मों का सम्पादन स्वप्न में भी नहीं किया जा सकता। यद्यपि ज्ञान मात्र में सभी आश्रय वालों का अधिकार है तथापि ब्रह्मविद्या संन्यासगत होने पर ही मोक्ष का साधन होती है। कर्म सहित नहीं।[3] अत: कर्म और ज्ञान दोनों के समुच्चय का प्रसंग भी ठीक नहीं। तम और प्रकाश का समुच्चय कथमपि सम्भव नहीं।

अत: शंकर के वेदान्त में जीव को तात्त्विक रूप से ब्रह्म ही माना गया है और मुक्ति का अर्थ है, ब्रह्म भाव या ब्रह्म की अनुभूति को प्राप्त करना। यह मुक्ति दो प्रकार की होती

---

1. छान्दोग्य उपनिषद्, 8.6.1;
   नित्योहि मोक्ष इष्यते। कर्म कार्यस्यानित्यत्व प्रसिद्ध लोकतद्यथेह
   लोकः क्षीयते इति न्यायानुगृहीत श्रुति विरोधात्।—श्वेताश्वतरोपनिषद्, शां० भा०, 1.11
2. बौद्ध दर्शन और वेदान्त : चन्द्रधर शर्मा, पृ० 214
3. ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणामधिकतः तथापि संन्यासनिष्ठेव ब्रह्मविद्या मोक्ष साधन न कर्मसहितेति—न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि सम्वादयितु—शक्यम्।
   —मुण्डकोपनिषद् शा० भा०, 1.1

है—जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति। पहले जीवनमुक्ति आती है और बाद में विदेहमुक्ति। जीवनमुक्ति का अर्थ है इसी जीवन में मोक्ष की अवस्था प्राप्त कर लेना, यह मोक्ष अवस्था सम्यक् ज्ञान द्वारा ही प्राप्त की जाती है जैसा कि धर्मशास्त्रों में वर्णित है कि कर्म तीन प्रकार का है—संचित्, प्रारब्ध और क्रियमाण। तत्त्वज्ञान द्वारा संचित् कर्म फल का नाश तथा क्रियमाण कर्म का निरोध हो जाता है। पर प्रारब्ध कर्म की पूर्ति भोग द्वारा ही सम्भव है। जैसे—कुम्भकार का चाक दण्ड हटाने पर भी कुछ समय तक चलता रहता है, इसी प्रकार से प्रारब्ध भी चलता रहता है। उसके नि:शेष होने पर विदेहमुक्ति प्राप्त होती है। पर जीवनमुक्ति की अवस्था में भी कर्म करते रहना आवश्यक (राजा जनक) है। ये कर्म किसी स्वार्थ साधन की दृष्टि से नहीं किये जाते, इनमें नितान्त निरासक्त भाव से किया जाता है। इसलिए ये बन्धनकारी नहीं हैं।[1]

इस तरह लगभग सभी भारतीय दर्शनों (सम्प्रदायों) में कर्म को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है और उसकी कर्मशीलता की प्रेरणा दी गयी है। कर्म का विशद् विवेचन भगवद्गीता में किया गया है, जो आगे विवेचित किया जा रहा है।

भगवद्गीता में कर्म सिद्धान्त
(निष्कामकर्मयोग)

भगवद्गीता भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र युद्ध में अर्जुन को दिया गया उपदेश है। यह वेदान्त दर्शन का सार है। यह अत्यन्त परम आदरणीय ग्रंथ है। यह योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को बछड़ा बनाकर उपनिषद् रूपी गायों से दुहा गया अमृतमय दूध है, जिसे सुधीजन पीते हैं।[2] यह महाभारत के भीष्मपर्व के अन्तर्गत है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी अत्यन्त प्रशंसा करते हुए इसे "मानव धर्म ग्रन्थ" बतलाया है। इसकी तुलना कामधेनु और कल्पवृक्ष से की गयी है। महात्मा गांधी ने गीता को जगत्-माता की संज्ञा दी है, जिसके द्वार सदा सबके लिए खुले हैं। श्रीमती ऐनी बेसेंट के अनुसार—गीता साधना को संन्यास के उस निम्न स्तर से जहाँ पदार्थों का तथा कर्मों का त्याग किया जाता है, निष्काम कर्मयोग के उस उच्चस्तर पर ले जाती है, जहाँ कामना और आसक्ति का त्याग किया जाता है और जहाँ योगी समाधिस्थ होते हुए भी शरीर और मन से लोक-कल्याण के लिए कार्य करते हैं।

---

1. श्रुति द्वारा विहित कर्म करने की व्यवस्था शंकर को मान्य है, क्योंकि शंकर के अनुसार चित्त शुद्धि के लिए कर्म करना आवश्यक है पर उन कर्मों के फल को ईश्वर को समर्पित करना चाहिए।
   नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाण विशुद्धयति
   विशुद्धं मरून्नमात्मा लोचनक्षय भवात॥ —गीता, 18. 10 शांकरभाष्य।
2. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धाः गोपालनन्दनः।
   पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

कुरुक्षेत्र के युद्ध में एक ओर पाण्डव सेना और दूसरी ओर कौरव सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी है। भगवान् कृष्ण, जो अर्जुन के सारथी हैं, रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा करते हैं। अर्जुन अपने गुरुजनों, सम्बन्धियों और परिजनों से लड़ने से साफ मना कर देता है और कहता है कि युद्ध जीत लेने पर भी अपने परिजनों के रक्त से रंजित राज्य सुख का उपयोग करने से कोई लाभ नहीं, अत: मैं युद्ध नहीं करूँगा, चाहे ये मुझे मार डालें। भगवान् कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि क्षत्रिय राजपुत्र और धर्म रक्षक होने के नाते उसका कर्तव्य है कि वह अधर्म और अशुभ से लड़े एवं धर्म को विजयी बनावे। अर्जुन तर्क-वितर्क करता गया और श्रीकृष्ण उसको समझाते गये कि युद्ध करना उसका धर्म है, कि उसे अपने "स्वभाव और स्वधर्म" का पालन करना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य है कि गीता का उपदेश सम्पूर्ण होने पर श्रीकृष्ण ने केवल यही कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा हो वही करो।[1] और अर्जुन ने उत्तर दिया—आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, अत: मैं जैसा आपने कहा वही करूँगा।[2]

गीता का उपदेश सार्वभौमिक है। यह प्रत्येक देश-काल, जाति-धर्म के मनुष्यों के लिए ग्राह्य है। आज का मानव भौतिक भोग लिप्साओं में भटकता हुआ अपने लक्ष्य से विमुख हो गया है। इस भटकती हुई मानवता को कर्तव्य कर्मों को करते हुए और उनके फलों के प्रति अनासक्त भाव रखने, निष्काम कर्म की सतत साधना करने की दृष्टि गीता के उपदेश से ही उपलब्ध हो सकेगी। ऐसी दृष्टि मनुष्य के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होगी। कर्म के विना एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता, अत: कर्म से विमुख होने की अपेक्षा कर्म-फल से विमुख होना ही गीता द्वारा श्रेयस्कर माना गया है।

ग्रन्थ-परिचय

गीता महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश है। इसमें 700 श्लोक हैं। इसकी रचना कब हुई? इस संदर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। टालबवांएज व्हीलर के अनुसार—कृष्ण और अर्जुन युद्ध के मैदान में उभयपक्षीय सेनाओं की उपस्थिति में दार्शनिक विवाद में संलग्न हों, विश्वसनीय नहीं है।[3] तेलंग इसी प्रकार का विचार रखते हुए गीता को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हैं, जिसे महाभारत के रचनाकार ने अपने प्रयोजन के निमित्त इसे महाभारत में सम्मिलित कर लिया है।[4] महाभारत में गीता का उल्लेख अनेक स्थलों पर होने से, इसे महाभारत का एक अंश मान लेने में कोई कठिनाई नहीं है।[5] महाभारत और गीता में शैली की समानता और विचारों की एकरूपता के आधार पर भी इनके एकत्व को

1. यथेच्छसि तथा कुरु। —गीता, 18. 63
2. करिष्ये वचनं तव। —गीता, 18. 73
3. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग 1, पृ० 481
4. सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, खण्ड 8, इण्ट्रोडक्शन, पृ० 5, 6
5. महाभारत, आदिपर्व 2, 69, 2, 247

स्वीकार किया जा सकता है।[1] फिर भी इसके रचनाकाल का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। तेलंग इसकी रचना ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से भी अधिक प्राचीन मानते हैं। सर० आर०जी० भण्डारकर के अनुसार गीता कम से कम चौथी शताब्दी ईसापूर्व की तो है ही। गार्वे प्रारम्भिक गीता को दो सौ वर्ष ईसापूर्व का मानते हैं।[2] हिल के अनुसार भी गीता का रचनाकाल दूसरी शताब्दी ईसापूर्व मानना चाहिए,[3] लेकिन डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार—"यदि हम गीता को पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व का मान लें तो हमारा मत कुछ अधिक अनुचित न होगा।"[4] महाभारत और उसका एक अंश होने के कारण गीता के रचनाकार व्यास माने जाते हैं, लेकिन इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं है और व्यास के जीवन के सन्दर्भ में कोई सबूत भी उपलब्ध नहीं है।[5]

युद्ध में अपने ही बन्धु-बांधवों को देखकर, अर्जुन युद्ध से विमुख होने लगा। उसकी अकर्मण्यता को दूर करने के लिए कृष्ण ने उसे कर्मण्यता का उपदेश दिया—यद्यपि यह अस्वाभाविक प्रतीत हो सकता है कि युद्ध के मैदान में जहाँ सेनाएँ लड़ने के लिए खड़ी हों, और पूरा का पूरा वातावरण युद्ध का हो, वहाँ सारथि के रूप में कृष्ण रथी अर्जुन को इतना लम्बा दार्शनिक उपदेश दें, तथापि इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि केवल अत्यन्त भीषण काल ही, जैसे युद्ध क्षेत्र, विवेकशील व्यक्तियों के मन में आधारभूत मूल्यों पर ध्यान देने के लिए उत्तेजना पैदा कर सकता है। केवल ऐसे ही समय में धार्मिक वृत्ति वाले मनों के अन्दर इस प्रकार का खिंचाव उत्पन्न होता है, जो इन्द्रियों की मर्यादाओं को तोड़कर आन्तरिक यथार्थ सत्ता का स्पर्श कर सके। यह सम्भव है कि अर्जुन को युद्ध के क्षेत्र में अपने मित्र कृष्ण से विशेष उपदेश का या निर्देश ही मिला और महाभारत के कवि ने उसे सात सौ श्लोकों का जामा पहना दिया हो।[6] वैसे महाभारत के युद्ध को एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना मानने के प्रति संदिग्ध दृष्टिकोण रखने वालों की भी कमी नहीं है। इसलिए विचारकों ने उपलक्षणों का आश्रय लेकर इस युद्ध की व्याख्या करने का प्रयास किया है। पाण्डव और कौरव क्रमशः दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक माने जा सकते हैं, जिनके मध्य निरन्तर युद्ध हमारे ही अन्दर होता रहता है। इस युद्ध में अर्जुन मन को निराश न होकर कृष्णरूपी आत्मा की आवाज को सुनकर औचित्य का आचरण करना चाहिए। सम्भव है, इसी उद्देश्य से गीताकार ने गीता की रचना की हो और उसे ऐतिहासिक युद्ध का प्रारूप प्रदान कर दिया हो। इससे यह

---

1. गीता रहस्य, तिलक, परिशिष्ट;
   सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, खण्ड 8, पृ० 5, 6
2. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग 1, पृ० 482 से उद्धृत।
3. द गीता एकार्डिंग टु महात्मा गाँधी, महादेव देसाई, पृ० 5
4. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग 1, पृ० 483
5. द गीता एकार्डिंग टु महात्मा गांधी, महादेव देसाई, पृ० 9
6. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग 1, पृ० 481, 82

परिलक्षित होता है कि गीताकार का अपनी रचना की प्रस्तुति का प्रमुख प्रयोजन ऐतिहासिक विवरण देना न होकर एक नैतिक समस्या का समाधान प्रस्तुत करना है। यह अलग बात है कि नैतिक समस्या पर विचार करते हुए—समय-समय पर उसका तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों को छू देना अनिवार्य है, लेकिन ये प्रश्न उसकी नैतिक शिक्षा की पृष्ठभूमि मात्र है।[1] फिर भी यह कहा जा सकता है कि गीता में एक व्यावहारिक उपदेश दिया गया है और इसके लिए युद्ध क्षेत्र का चुनाव किया गया है, क्योंकि वही एक स्थल ऐसा है, जहाँ यह बात आसानी से समझ में आ सकती है कि सामाजिक हित की तुलना में वैयक्तिक कल्याण गौण है।

भाष्यकारों का विवाद

गीता के ऊपर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। आचार्यों की परम्परा में शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि ने गीता पर भाष्य लिखे हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञानेश्वर, आनन्दगिरि, रमण महर्षि, तुकाराम, एकनाथ आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। समकालीन परम्परा में बाल गंगाधर तिलक, एनी बेसेंट, श्री अरविन्द, त्र्यंबक, महात्मा गांधी, डॉ० राधाकृष्णन्, विनोबाभावे, सातवलेकर, कवीश्वर आदि अनेक विचारकों की विवेचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

गीता के संदर्भ में मुख्य विवाद भाष्यकारों के बीच यह रहा है कि गीता में किस बात का उपदेश दिया गया है? यथार्थत: गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म तथा योग का अन्यतम वर्णन किया गया है। विवाद यह है कि गीता में इनमें से किसको प्रमुखता प्रदान की गयी है?

शंकराचार्य ज्ञान को प्रमुखता प्रदान करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान ही पूर्णता को प्राप्त करने का सर्वोच्च साधन है। कर्म, भक्ति और योग ज्ञान की ओर ले जाते हैं। रामानुजाचार्य अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुरूप भक्ति को महत्त्व देते हैं। मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य भी भक्ति अथवा ईश्वर की अनुकम्पा को सर्वोपरि मानते हैं। ज्ञानेश्वर के अनुसार पातंजल योग ही गीता का प्रमुख उपदेश है। इन सबसे अलग एक अन्य दृष्टिकोण बाल गंगाधर तिलक का है, जो गीता में कर्म मार्ग की शिक्षा को प्रधानता देते हैं। मधुसूदन सरस्वती की मान्यता है कि गीता उपनिषदों द्वारा मान्य तीनों विधानों अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान को स्वीकार करती है और क्रमशः प्रत्येक के विषय छः अध्यायों में की है।[2] इन मान्यताओं में गीता के उपदेश के विभिन्न पक्षों की महत्ता को प्रस्तुत किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वामन पण्डित ने अपनी यथार्थ दीपिका में उचित ही कहा है कि—इस कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति अपने

1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, एम० हिरियन्ना, पृ० 117
2. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग 1, पृ० 511

विचारों के अनुसार ही गीता की व्याख्या करता है।[1] व्याख्याकारों के अपने दार्शनिक मत हैं, जिन्हें उन्होंने अपनी व्याख्याओं में आरोपित कर दिया है।

मधुसूदन सरस्वती का दृष्टिकोण अवश्य समन्वयात्मक है। कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों को समान महत्त्व देना उचित ही है। ये तीन इस मनोवैज्ञानिक मान्यता के अनुरूप हैं कि मानसिक प्रक्रियाएँ तीन प्रकार की होती हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और इच्छात्मक। इन तीनों का सम्बन्ध क्रमशः ज्ञान, भक्ति और कर्म से है। निष्कर्षतः यह कहना उचित होगा कि गीता में ज्ञान युक्त भक्तिपूर्वक कर्म करने का उपदेश दिया गया है। ऐसा कर्म निष्काम कर्म कहलायेगा।

कृ (करणे) धातु से व्युत्पन्न कर्म शब्द का अर्थ है—कार्य अर्थात् पृथक्-पृथक् चेष्टा, जिसका संस्कार मनुष्य के चित्त पर पड़ता है। ऐसे संस्कारों के संगठन से मनुष्य का चरित्र बनता है, व्यक्तित्व का निर्माण होता है। कर्म का अर्थ ऐसे कार्य हैं, जिनका संस्कार चित्त पर पड़ता है और जिसका शुभाशुभ फल मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर में भोगना पड़ता है।

गीता के समय तक यज्ञ की वैदिक धारणा में भी परिवर्तन हो गया था। गीता में कहीं-कहीं कर्म शब्द का प्रयोग यज्ञ के अर्थ में ही हुआ है। यज्ञ का तात्पर्य ऐसे कर्म से है जो दूसरों के हित के लिए किया जाय और जिसको करने से न तो प्रतिफल प्राप्त किया जाय और न ही उसकी इच्छा की जाय।[2] वास्तव में गीता में कर्म शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसे कर्तव्यों के अर्थ में हुआ है, जो गीता की रचना के समय तक समाज के विभिन्न वर्गों के लिए श्रम विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर नियत कर्म बन गये थे और जिन्हें धर्म कहा जाने लगा था। प्रत्येक व्यक्ति को निर्धारित अपने वर्ण के अनुसार कर्मों को करना उसका कर्तव्य है। ऐसा करके ही वह सामाजिक व्यवस्था में नैतिक सहयोग दे सकता है।

कर्म प्राणी का स्वभाव है। प्रत्येक जीव अपने जीवनकाल में निरन्तर कर्म करता रहता है। जीवन के साथ ही कर्म जुड़ा हुआ है। इसीलिए गीता में कहा गया है कि—"कर्म किये बगैर कोई भी प्राणी एक पल भी नहीं रह सकता।"[3] जब तक कर्म है तब तक जीवन है, इसीलिए गीता में आदेशित किया गया है—"कुरु कर्मेव"—कर्म करो ही। कर्म तो हमेशा होते रहते हैं, लेकिन किस प्रकार के कर्म किये जायें, इसका निर्धारण आवश्यक है। वैसे कर्म की गति अति जटिल है।[4] इसे समझ पाना अत्यन्त

---

1. गीता एण्ड इट्स कमेंटेटर्स, एस० एच० ज्ञानवाला, पृ० 159
2. द गीता एकार्डिंग टु महात्मा गांधी, महादेव देसाई, पृ० 177
3. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
   कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ —गीता, 3.5
4. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
   अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ —वही, 4. 17

कठिन है। क्या कर्म है? क्या अकर्म?—इस संदर्भ में महान् विद्वान् मोहित हैं।[1] फिर भी, कर्म की अनिवार्यता को ध्यान में रखकर यह निश्चित करना आवश्यक हो जाता है कि कौन सा कर्म उचित है? इसके लिए क़र्मों का वर्गीकरण करना आवश्यक है। विभिन्न आधारों पर कर्मों का वर्गीकरण निम्नांकित प्रस्तुत किया गया है—

क.	साधन के आधार पर	–	मानसिक, वाचिक, कायिक,
ख.	धार्मिक आधार पर	–	सात्विक, राजस, तामस।
ग.	वेदान्तिक आधार पर	–	प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण।
घ.	वैज्ञानिक आधार पर	–	कर्म, अकर्म, विकर्म।
ङ:	हेतु के आधार पर	–	नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध।

गीता में उपर्युक्त प्रकार के कर्मों का विवरण विभिन्न प्रसंगों में प्रस्तुत किया गया है। मुख्य रूप से कर्म हेतु पर विचार करना आवश्यक है। इस संदर्भ में यह कहा गया है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिए, क्योंकि इनसे फलबन्धन नहीं हौता, किन्तु काम्य (सकाम) और निषिद्ध कर्म का तो पूर्णत: त्याग कर देना चाहिए।[2]

एक अन्य दृष्टिकोण से सभी कर्मों को सकाम और निष्काम—दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। सकाम कर्म वह है जो स्वसुख, लौकिक सुख की प्राप्ति की कामना से किया जाता है। सकाम कर्म किसी संयोग या किसी पदार्थ संग्रह की इच्छा से किया जाता है। सकाम कर्म का केन्द्र शरीर सुख है। निष्काम कर्म वह कर्म है जिसे हम किसी कामना की पूर्ति के लिए नहीं करते, अपने सुख के लिए नहीं करते, अपितु दूसरे के हित के लिए करते हैं। स्पष्ट है कि कामनायुक्त कर्म को सकाम कर्म कहते हैं और कामना रहित कर्म को निष्काम कर्म। निष्काम कर्म किसी उद्देश्य अथवा आवश्यकता से प्रेरित नहीं होता है और सकाम कर्म किसी कामना से प्रेरित होता है। कामना अनित्य तत्त्व की होती है, आवश्यकता एक और कामनाएँ अनेक होती हैं। आवश्यकता की पूर्ति तो सम्भव है, लेकिन कामना की पूर्ति कभी भी नहीं होती। उदाहरणार्थ—भूख शरीर की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति सम्भव है, लेकिन भोजन में स्वादिष्ट व्यंजनों के प्राप्त होने की कामना होती है, जिसकी पूर्ति कभी भी नहीं होती है। कामना से पदार्थ प्राप्त नहीं होते। प्राप्त भी हो जायें तो उनमें स्थायित्व नहीं रहता। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कामनाओं की पूर्ति हो रही है, लेकिन उनसे अन्य अनेक कामनाओं की उत्पत्ति हो जाती है और यह शृंखला बनी रहती है। अत: कामनायुक्त अर्थात् सकाम कर्म को छोड़कर कर्मयोगी निष्काम भाव से सेवा (कर्मयोग) स्वरूप बोध (ज्ञानयोग) और परमात्मा प्राप्ति (भक्तियोग) इन तीनों उद्देश्यों से कर्म करता है।

---

1. **किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।**
   तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ —गीता, 4. 16
2. **महेश्वर तन्त्र, 16. 48**

निष्काम कर्म शब्द का भारतीय वाङ्मय में यत्र-तत्र विभिन्न रूपों में प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद और ईशावास्योपनिषद् में यह आदेश दिया गया है कि—कर्मयोगी को कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहना चाहिए। जो पुरुष सम्पूर्ण संसार के कारणभूत परब्रह्म और विनाशी शरीर इन दोनों के यथार्थ तत्त्व को सम्यक् जान लेता है और शरीर से भिन्न मैं अविद्योपाधि से स्वकर्मवशात् शरीर के समान हूँ—यह विचार कर आत्म-साक्षात्कार के प्रधान कारण ज्ञान प्राप्ति के हेतु उपासना एवं निष्काम कर्म करता है, वह कर्मयोगी विनाशी शरीर से अन्तः शुद्धि कर आत्मज्ञान प्राप्त कर मुक्ति का पात्र हो जाता है।[1]

निष्काम भाव से कर्म करने से ही कर्मबन्धन कमजोर पड़ता है, इसी विचार से विभिन्न उपनिषदों में कर्म करने का उपदेश दिया गया है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है—त्याग भाव से (निष्काम भाव से) किये जाने वाले कर्म मनुष्य के लिए नहीं होंगे। कर्माचरण ही कर्मों में लिप्त न होने का एकमात्र मार्ग है।[2] कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते हैं कि ऋक्, साम, यजुर्वेद भी तत्त्व रहस्य में निष्णात होकर निष्काम भाव से यज्ञ, दान और तप तीनों कर्म करने वाला मनुष्य जन्म-मृत्यु से तर जाता है।[3] श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित है कि जो कर्मयोगी सत्य रजस और तमस तीनों गुणों से व्याप्त वर्णाश्रम विहित कर्तव्यों एवं कर्मों को अहंता, ममता और आसक्ति से रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से करता है, उसका कर्मों के साथ सम्बन्ध न रहने के कारण वे फल नहीं देते।[4] निःस्वार्थ, इच्छा रहित, तटस्थ रूप से कर्म करने के अर्थ में 'निष्काम कर्म' का प्रयोग मारकण्डेयपुराण में भी मिलता है। श्रीमद्भागवत् में कहा गया है कि जिससे भगवान् संतुष्ट हों, वही कर्म है और जिससे मनुष्य की बुद्धि भगवान् में ही प्रवृत्त हो वही विद्या है।[5] पुनः कहा गया है कि कामासक्त अविवेकी सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति को ही सर्वस्व मानने वाले लोभी जन सकाम होकर यज्ञादि कर्मपरायण होकर भी अपने स्वरूप को नहीं जान पाते।[6] विष्णुपुराण की मान्यता है कि कर्म वही है, जो बन्धन का कारण न हो और विद्या भी वही है, जो मुक्ति का साक्षात् साधन हो। इसके अतिरिक्त अन्य कर्म श्रम और अन्य विधाएँ कला कौशल ही हैं।[7] विष्णुपुराण में यह कहा गया है कि कर्म योग ज्ञान का तभी साधन बन सकता है, जब उसमें सकाम भाव एवं फलानुसंधान न हो, फलानुसंधान और कामासक्ति से अन्तः शुद्धि सम्भव नहीं। वे बन्धन

1. **शुक्ल यजुर्वेद,** 40. 11
2. **ईशावास्योपनिषद्,** 2
3. **कठोपनिषद्,** 1. 1. 17
4. **श्वेताश्वतरोपनिषद्,** 6. 4
5. **श्रीमद्भागवत्,** 4. 29. 49
6. **वही,** 10. 48. 11
7. **विष्णुपुराण,** 1. 19. 41

के कारण होते हैं।[1]

इस सन्दर्भ में न केवल उपर्युक्त वर्णन ही उपलब्ध है, अपितु ऐसे विचार भारतीय वाङ्मय में भरे पड़े हैं। अन्य धर्मों एवं दर्शनों में भी किसी न किसी रूप में काम्य (सकाम) कर्मों को वर्जित माना गया है और निष्काम कर्म को करने का उपदेश दिया गया है।

निष्काम कर्मयोग का वर्णन गीता के दूसरे अध्याय के 39वें श्लोक से आरम्भ हो जाता है। सम्पूर्ण गीता में कर्म के प्रति अहंता, ममता और आसक्ति का विरोध किया गया है, इसलिए इस प्रकार का विचार मिलता है कि तुम्हारा कर्म करने में अधिकार है, फल में नहीं, इसलिए तुम फल की वासना वाला मत बनो और कर्मों को छोड़ देने का भी विचार मत करो।[2]

गीता की स्पष्ट मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति क्षणमात्र भी कर्म किये बगैर नहीं रह सकता। कर्म करना व्यक्ति का अधिकार और कर्तव्य दोनों है। उसे कर्म करना ही चाहिए, लेकिन उसे आदेश दिया गया है—"मा कर्मफल हेतुर्भू" अर्थात्—फलार्थी मत बनो, कर्मफल की वासना से मुक्त रहो। इसका कारण यह है कि—"फलेसक्तो निबध्यते"[3] फलासक्ति से कर्मबन्ध दृढ़ होता है। इसलिए गीता में फलेच्छा से रहित होकर कर्म करने की शिक्षा दी गयी है, क्योंकि "कृपणाः फलहेतवः"[4] अर्थात् फल की इच्छा रखने वाले कृपण (दीन, दया के पात्र) होते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक ओर गीता में कर्म करने का आदेश दिया गया है, कर्म को अधिकार और कर्तव्य माना गया है और दूसरी ओर फलेच्छा से रहित होकर कर्म करने को कहा गया है तो फलेच्छा या फल की कामना के बिना कर्मों में प्रवृत्ति कैसे होगी? इसके समाधान स्वरूप यह कहा जा सकता है कि कामना की पूर्ति और निवृत्ति दोनों के लिए कर्मों में प्रवृत्ति हो सकती है। गीता में स्पष्ट किया गया है कि अज्ञानी व्यक्ति कामना की पूर्ति के लिए कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और ज्ञानी पुरुष (योग) आसक्ति को त्यागकर आत्म शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।[5]

---

1. विष्णुपुराण, 6. 7. 28
2. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
   मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ —गीता, 2. 47
3. युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
   अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ —गीता, 5. 12
4. दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
   बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ —वही, 2. 49
5. कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
   योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ —गीता, 5. 11

वस्तुत: कर्म करने का गीता का आदेश आवश्यकता (उद्देश्य) की पूर्ति के लिए ही है, कामना (इच्छा) की पूर्ति के लिए नहीं। कामना की पूर्ति के लिए वही मनुष्य कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, जो वास्तविक उद्देश्य को भूल गये हैं, उससे विमुख हो गये हैं। ऐसे ही लोगों को दीन या दया का पात्र कहा गया है। इसके विपरीत जो व्यक्ति उद्देश्य को ध्यान में रखकर कामना की निवृत्ति के लिए कर्म करते हैं, उन्हें मनीषी[1] कहा गया है।

गीता में तो एक ओर कहा गया है कि फलासक्ति से कर्मबन्ध दृढ़ होता है और दूसरी ओर कर्म करने का आदेश दिया जाता है। तो क्या कर्म करने से कर्मबन्ध दृढ़ नहीं होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा जा सकता है कि कर्म करने से कर्मबन्ध का होना या न होना कर्त्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। यद्यपि यह सही है कि गीता में संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया है, तथापि संकल्पित कर्म के प्रति यदि कर्त्ता भाव है तो वह कर्म, इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित—तीन प्रकार का फल देता है। परन्तु जिस कर्म में "मैं कर्त्ता नहीं हूँ?" ऐसा भाव रहता है, वह बन्धनकारक नहीं होता। उसे चेष्टामात्र[2] कहा गया है। जिस प्रकार काँटा से काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार चेष्टाएँ कर्मबन्धन से छुटकारा दिलाने में सहायक होती हैं। निष्काम भाव प्राप्त करने में निम्नलिखित बातें भी सहायक हो सकती हैं—लोकसंग्रह, नियत स्वधर्मपालन भाव, स्थितप्रज्ञता, समत्व, ईश्वरार्पणभाव।

चेष्टाएँ स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं होतीं। स्वार्थ (अपने लिए कर्म करने) से ही सभी प्रकार की विकृतियाँ और विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। स्वार्थ से कर्मतुच्छ और बन्धनकारक हो जाते हैं। बन्धन को तोड़ना और मुक्ति का आनन्द लेना ही मानव का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वहित कर्म उपयुक्त नहीं है। हमारे पास जितनी समझ, समय, सामर्थ्य और सामग्री है उसी से हम दूसरों की सेवा करें तो वह लोक सेवा हितकारी होगी। इसी बात को ध्यान में रखकर गीता में लोकसंग्रह का उल्लेख किया गया है। नैयायिक जयन्त भट्ट ने लोक स्थिति अर्थात् सामाजिक संतुलन को परम पुरुषार्थ कहा है। महानिर्वाण तन्त्र में लोकश्रेय को नैतिक मानक माना गया है। गीता में व्यावहारिक नैतिकता के स्तर में लोकसंग्रह को यानी सामाजिक कल्याण को परम पुरुषार्थ माना गया है।[3] गीता की स्पष्ट मान्यता है कि आसक्ति रहित होकर लोकसंग्रह को ध्यान में रखकर किये गये कर्म से ही व्यक्ति संसिद्धि प्राप्त करता है।[4] गीता में

---

1. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
   जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ —गीता, 2. 51
2. सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
   प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ —गीता, 3. 33
3. नीतिशास्त्र, डॉ० जे० एन० सिन्हा, पृ० 248
4. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
   लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।" —गीता, 3. 20

सर्वभूत—हित को सर्वोच्च आदर्श माना गया है।[1] जो व्यक्ति समस्त भूतों (जीवों) के हित में रत हैं वे ईश्वर को प्राप्त होते हैं।[2] सर्वभूतहित के लिए विद्वान् पुरुष को अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए।[3] आसक्ति रहित एवं हेतु रहित होकर समस्त भूतों के प्रति अहिंसा, अक्रोध, अद्रोह, करुणा, सत्य, सद्भावना, परोपकार आदि का पालन दैवी सम्पदा के लक्षण माने गये हैं।[4] दैवी सम्पदा देव तुल्य पुरुषों के गुण या ईश्वरीय गुणों को कहते हैं, जिनके अभ्यास से मनुष्य परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

सामाजिक कल्याण को परम पुरुषार्थ के रूप में मान्य करते हुए गीता में स्वधर्म के पालन पर बल दिया गया है। गुण और कर्म के आधार पर चार प्रकार के वर्णों की रचना हुई है, उन वर्णों के लिए निर्धारित कर्म करना ही स्वधर्म है। इसे ही सहज कर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावनियत कर्म आदि कहा जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि यहाँ धर्म शब्द कर्म या कर्तव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता में स्वधर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। आकर्षक परधर्म से गुण रहित लगने वाला स्वधर्म श्रेष्ठ है। स्वभाव से नियतकर्म को करने वाला मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।[5] गीता का यह आदेश है कि दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार धुएँ से अग्नि आवृत्त रहती है, उसी प्रकार सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त हैं।[6] प्रत्येक कर्म दोष से आवृत्त होने के बावजूद भी आसक्ति रहित कर्म करने वाला व्यक्ति नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है। यदि व्यक्ति स्वधर्म का पालन करने के लिए युद्ध भी करता है तो उसे गीता में क्षत्रिय के लिए कल्याण कारक कर्तव्य कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि गीता का विचार आधुनिक दार्शनिक ब्रैडले के "मेरा स्थान और उससे सम्बन्धित कर्तव्य" की धारणा के समरूप है। ब्रैडले की यह मान्यता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान उसकी मानसिक रुचियों के अनुरूप निर्धारित है। यदि व्यक्ति समाज में अपने स्थान के अनुरूप कर्तव्य का पालन करता है तो वह सामाजिक

---

1. (अ) निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ —गीता, 11. 55
   (ब) अद्वेष्टासर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। —वही, 12. 13
   (स) अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्॥ —वही, 16. 2
2. संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
   ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ —वही, 12. 4
3. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
   कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ —वही, 3. 25
4. तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
   भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ —वही, 16. 3
5. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
   स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोतिकिल्बिषम्॥ —वही, 18. 47
6. सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
   सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ —वही, 18. 48

हित के साथ-साथ स्वहित भी करता है।

गीता के अनुसार सामाजिक हित के लिए स्वधर्म का पालन व्यक्ति को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्तव्य के पालन के रूप में करना चाहिए। गीता में स्वीकृत चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाजन गुण और कर्म के आधार पर किया गया है।[1] ब्राह्मण का स्वभाव जन्य कर्म, शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता (आर्जव) ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान यानी विविध ज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि है।[2] शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और (प्रजा पर) शासन करना क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है।[3] कृषि अर्थात् खेती, पशुओं को पालने का उद्यम और व्यापार वैश्य का स्वभावजन्य कर्म है और इसी प्रकार सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।[4] प्रत्येक वर्ण के सदस्य को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्म का फलेच्छा से रहित होकर पालन आवश्यक है। अन्यथा वह कर्तव्यच्युत समझा जायेगा। गतिशील सृष्टिचक्र में यदि एक व्यक्ति भी कर्तव्यच्युत होता है तो उसका विपरीत प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टि पर पड़ता है।[5]

इस प्रकार गुण और कर्म के आधार पर विभाजित वर्णव्यवस्था को स्वीकार कर गीता में निष्काम भाव से स्वधर्म के पालन को आवश्यक माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीता की यह भी मान्यता है कि स्वकर्म के आचरण में फलाशा का परित्याग कर कार्यरत पुरुष स्वर्ग-नरक न जाकर पवित्र होकर विशुद्ध ज्ञान एवं पराभक्ति पा लेता है, जिससे उसका परम श्रेय निश्चित है।[6] स्पष्ट है कि स्वधर्म या नियतकर्म का करना साध्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है। कर्मों का निर्धारण उनका विहित या निषिद्ध होना, देश, काल, वर्ण, आयु आदि पर निर्भर है। इतना निश्चित है कि फलाशा का परित्याग करके जो व्यक्ति करणीय कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है।[7] नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है। समस्त कर्मों का त्याग तो सम्भव नहीं है, इसलिए जो व्यक्ति कर्मफल का त्याग कर देता है, वही त्यागी है। गीता के अनुसार कर्मों के त्याग

---

1. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
   कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ —गीता, 18. 41
2. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
   ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥ —वही, 18. 42
3. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
   दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ —वही, 18. 43
4. कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
   परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ —वही, 18. 44
5. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड 73. 76
6. श्रीमद्भागवत्, 11. 20. 10-11
7. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
   स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ —गीता, 6. 1

अर्थात् अकर्म की तुलना में कर्म श्रेयस्कर है। कर्मों का त्याग सच्चा संन्यास नहीं कहा जा सकता। इससे व्यक्ति साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता।[1] कर्म न करने से शरीर निर्वाह भी सम्भव नहीं है, इसलिए गीता में शास्त्र विहित कर्म करने, नियत कर्म करने, फलाशा से रहित होकर कर्म करने को श्रेष्ठ माना गया है।[2]

वस्तुत: नैष्कर्म्य के लिए गीता की मान्यता यह है कि जो व्यक्ति अहंकार रहित की गयी सम्पूर्ण चेष्टाओं अर्थात् कर्मों में अकर्म देखे और जो अकर्म में कर्म को, वह व्यक्ति ज्ञानी है और वह सम्पूर्ण कर्मों को करते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ता।[3] गीता में विकर्म शब्द का भी प्रयोग किया गया है। विकर्म के दो अर्थ होते हैं—निषिद्ध और विशेषकर्म। आचार्य विनोबा भावे ने गीता प्रवचन में विकर्म का अर्थ विशेष कर्म ही लिया है। उनके अनुसार—"कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिए। इस मन के मेल को ही गीता विकर्म कहती है। इस विशेष कर्म (विकर्म) का इस मानसिक अनुसंधान का योग हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामता की ज्योति जगेगी। कर्म के साथ जब आन्तरिक भाव का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। कर्म के साथ विकर्म का मेल हुआ तो निष्कामता आती है। कर्म में विकर्म उड़ेलने से अकर्म होता है। विकर्म के कारण मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्म करके फिर उसे साफ कर दिया हो।"[4] अपने मत को आचार्य विनोबा भावे ने गणितीय सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया है—कर्म + विकर्म = अकर्म।

अन्य व्याख्याकारों ने विकर्म शब्द को निषिद्ध कर्म के अर्थ में प्रयुक्त किया है। निषिद्ध कर्म ऐसा कर्म होता है, जो स्वभावत: बिना आसक्ति के किया जाने योग्य नहीं होता इसलिए बन्धनकारक होता है, जैसा—हत्या, झूठ बोलना इत्यादि।[5] इस संदर्भ में अन्तत: यही कहना उचित होगा कि अकर्म और विकर्म की तुलना में कर्म उत्तम है, लेकिन वही कर्म उत्तम माना जा सकता है, जो निष्काम है।

नैष्कर्म्य की सिद्धि के लिए गीता स्थितप्रज्ञता को आवश्यक मानती है। स्थितप्रज्ञ वही है, जिसकी बुद्धि स्थिर है। सामान्य व्यक्ति की बुद्धि विभिन्न इच्छाओं के प्रति आकर्षित होती रहती है। उसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों में भटकती रहती हैं। इसके

---

1. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
   न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ —गीता, 3. 4
2. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
   शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ —वही, 3. 8
3. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
   स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ —वही, 4. 18
4. गीता प्रवचन, आचार्य विनोबा भावे, पृ० 46-49।
5. द गीता एकार्डिंग टु महात्मा गांधी, महादेव देसाई, पृ० 20।

विपरीत, स्थितप्रज्ञ वह है जो सम्पूर्ण कामनाओं (इच्छाओं) को त्याग कर, आत्मसंतुष्ट रहता है। वह दुःख में मन से उद्विग्न नहीं होता, सुख के प्रति स्पर्धा नहीं रखता और त्याग, भय एवं क्रोध से परे होता है। वह शुभ वस्तुओं की प्राप्ति पर प्रसन्न नहीं होता और अशुभ की उपलब्धि पर द्वेष नहीं करता।

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अपनी इन्द्रियों को विषयों से समेट कर अपने वश में कर लेता है तथा अपने चित्त को ईश्वर में लगाता है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति मन से विषयों का ही चिन्तन करता रहता है, उसकी आसक्ति उन विषयों में हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों में कामना होती है और कामना सिद्धि में विघ्न पड़ने से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से मोह अथवा अविवेक उत्पन्न होता है, अविवेक से स्मृति भ्रमित हो जाती है, जिससे ज्ञान शक्ति का नाश होता है। ज्ञान शक्ति के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति अपने श्रेय साधन से च्युत हो जाता है।

अतः गीता की मान्यता है कि जो व्यक्ति राग द्वेष से रहित होकर इन्द्रियों को पूरी तरह आत्मा के वशीभूत कर विषय भोग करता है, वह प्रसाद अर्थात् अन्तःकरण की प्रसन्नता प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति में उसके समस्त शोक नष्ट हो जाते हैं और उसकी बुद्धि शीघ्र ही प्रतिष्ठित हो जाती है, जिसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं होती, उसकी ईश्वर में आस्था भी नहीं होती और उसे शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। अशान्त व्यक्ति को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? जो व्यक्ति मन और इन्द्रिय को पूरी तरह से अपने वश में कर लेता है, वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है। उसकी बुद्धि निश्चल रहती है। वह काम तृप्ति के पीछे पागल नहीं होता। जिस प्रकार विभिन्न नदियों के मिलते रहने पर भी समुद्र शान्त रहता है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में सभी भोग विना विकार उत्पन्न किये हुए समा जाते हैं और वह परम शान्ति को प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता रहित एवं अहंकार रहित होकर शान्ति को प्राप्त करता है। यह स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' है। जब व्यक्ति इस स्थिति में पहुँच जाता है, तब वह मोहग्रस्त नहीं होता, अपितु ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करता है।[1]

यह ब्राह्मी स्थिति परम शान्ति की अवस्था है। इसके अलावा भी यह स्थिति व्यक्ति को निष्क्रिय नहीं बनाती। इस अवस्था में रहते हुए भी व्यक्ति कर्म करता रहता है, लेकिन उसका कर्म निष्काम होता है। इस अवस्था में पहुँचने के लिए 'समत्व' आवश्यक होता है।

---

1. **प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।**
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्युते॥ —गीता, 2. 55
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। —वही, 2. 72

गीता में समत्व को योग कहा गया है।[1] योग का मान्य अर्थ है—चित्तवृत्तियों का निरोध। समत्व से चित्तवृत्तियों का निरोध समत्व है। इसलिए इसे योग कहा गया है। सुख-दुखः लाभ-हानि, अर्थात् सिद्धि-असिद्धि को समान समझने की स्थिति को समत्व कहा गया है, और यह समत्व भाव ही योग है। गीता में कर्मों में कुशलता को भी योग कहा गया है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि समत्व बुद्धि रखने वाला व्यक्ति पुण्य-पाप को त्याग देता है, उनसे लिप्त नहीं होता। इसलिए गीता में समत्व बुद्धि रूप योग के लिए ही चेष्टा करने का उपदेश दिया गया है। समत्व बुद्धि रूप योग ही कर्मों में कुशलता है। इसी से कर्म बन्धन से छुटकारा मिलता है।

ईश्वरार्पण भाव से किये गये कार्य निरहंकार भाव से किये जाने के कारण बन्धनकारक नहीं होते। स्वार्थ पूर्ति उनका उद्देश्य न होने के कारण उन्हें भी निष्काम कर्म की श्रेणी में लाया जा सकता है।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए निष्काम कर्म योग एक उत्तम एवं समाज के लिए कल्याणकारी उपाय है, पर प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है या उसे पूर्व निर्धारित कर्म ही करने पड़ते हैं। एक ओर गीता में यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ है। उसके समस्त प्रयास निरर्थक लगते हैं, क्योंकि शरीर रूपी यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणी को, अन्तर्यामी ईश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार चक्कर दे रहा है।[3] यदि पूर्वकृत कर्मों से ही समस्त मानवीय व्यापार नियन्त्रित हैं तो मनुष्य को संकल्प की स्वतन्त्रता नहीं रह जाती।

लेकिन गीता में, दूसरी ओर यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि—जैसी तेरी इच्छा हो वैसा करो।[4] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि गीता में संकल्पित कर्म करने की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त दोनों मतों के पक्ष-विपक्ष में अनेक विचार दिये जा सकते हैं, लेकिन गीता का दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए यह कहना ही उचित होगा कि गीता में मनुष्य के कर्म करने के अधिकार को तो स्वीकार किया गया है, लेकिन फल को ईश्वराधीन माना गया

---

1. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ —गीता, 2. 48
2. तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौसलम्। —वही, 2. 50
3. स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेनकमणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ —वही, 18. 60
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ —वही, 18. 61
4. इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ —वही, 18. 63

हैं।[1] कर्म करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र है। यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता नहीं है। व्यक्ति को समत्व बुद्धि से कर्म करने का संकल्प लेना चाहिए, लेकिन कर्म फल तो किये गये कर्म के अनुसार ही होगा। इस बात को डॉ० राधाकृष्णन् ने एक उपमा के द्वारा स्पष्ट किया है। जीवन ब्रिज के खेल की भाँति है। इस खेल में ताश के पत्ते हमें दिये जाते हैं। हम उन पत्तों को चुनकर नहीं लेते। हम उचित काल देने के लिए स्वतन्त्र है। खेल के नियमों से बँधे हुए अवश्य हैं। एक अच्छा खिलाड़ी अधिकाधिक संभावनाओं पर ध्यान रखता है लेकिन अनाड़ी खिलाड़ी ऐसा नहीं कर पाता।[2] इससे स्पष्ट है कि जीवन के खेल में एक अच्छे खिलाड़ी की भाँति अधिकाधिक संभावनाओं को ध्यान में रखकर कार्य करने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि वह अन्तर्यामी, जो प्रत्येक के शरीर रूपी यन्त्र का संचालक है, वह और कोई नहीं हमारी ही विशुद्ध आत्मा है, वही ईश्वर है। उसकी आज्ञा को मानना और उसके अनुरूप कर्म करना आवश्यक है। इससे कर्म करने की स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आती।

गीता का निष्काम कर्मयोग तत्कालीन प्रचलित दो आदर्शों—निवृत्ति और प्रवृत्ति-- के बीच समन्वय प्रस्तुत करता है। समस्त कर्मों से संन्यास ले लेना और समाज से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना निवृत्ति का आदर्श है। प्रवृत्ति का आदर्श समाज में रहते हुए कर्म करना है। गीता इन दोनों के बीच निष्काम कर्मयोग के माध्यम से समन्वय लाती है।

कर्म फल के प्रति अनासक्ति या त्याग निवृत्ति का प्रतीक है और लोकहित को ध्यान में रखकर कर्म करते रहना प्रवृत्ति का द्योतक है। गीता का यह उपदेश कर्म से संन्यास को स्वीकार नहीं करता, फिर भी कर्मफल के त्याग का विचार देकर त्याग की भावना सुरक्षित रखता है। इस संदर्भ में श्री हिरियन्ना की मान्यता है कि गीता का उद्देश्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के आदर्शों की जिन्हें हम क्रमशः कर्म और ध्यान के आदर्श कह सकते हैं, अच्छाइयों को बनाये रखते हुए दोनों का स्वर्णिम मार्ग खोज निकालना कर्मयोग ही यह मध्यम मार्ग है।[3]

अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीता का निष्काम कर्मयोग जीवन की सच्चाई को प्रकट करता है। यह वह मार्ग है जिस पर चलते हुए मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। निष्काम कर्म भाव से किये गये कर्म बन्धनकारक नहीं होते। ऐसे कर्मों से ही व्यक्ति पूर्णता की अवस्था में पहुँचता है, ब्राह्मी स्थिति में पहुँचता है या

---

1. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
   मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ —गीता, 2. 47
2. ऐन आयडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, डॉ० राधाकृष्णन्।
3. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो० एम० हिरियन्ना, पृ० 120, 121

ईश्वर में निवास करता है और परम शान्ति को प्राप्त करता है। ये कर्म सिर्फ अपने लिए ही नहीं होते, बल्कि लोकहित की दृष्टि से होते हैं।

यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि निष्काम भाव ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों से सम्बद्ध है। सकाम ज्ञान, सकाम भक्ति और सकाम कर्म त्याज्य है। निष्काम भाव से कर्म करने में ज्ञान और भक्ति का होना अवश्यंभावी है। गीता में समस्त ज्ञानियों और भक्तों को भी समाज के समक्ष प्रशस्त मार्ग रखने के लिए अनासक्त भाव से कर्म करने की आज्ञा दी गयी है।[1]

उपर्युक्त स्पष्टीकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्ग की प्रधानता को लेकर भाष्यकारों में जो विवाद है, वह उनकी ही मान्यताओं का गीता पर आरोपण प्रतीत होता है। इतना तो निश्चय है कि ज्ञानी हो या भक्त, कर्म तो सबको करना ही पड़ता है। यदि ज्ञानयुक्त भक्तिपूर्वक कर्म किया जाये तो वह कर्म निष्काम कर्म कहलायेगा और साध्य प्राप्ति में सहायक होगा।

भारतीय वाङ्मय में गीता का अद्वितीय स्थान है। इसकी महत्ता इस तथ्य में सन्निहित है कि इसने अपने समय के प्रचलित समस्त विरोधी विचारों को आत्मसात् करके उनका एक समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। लेकिन विवाद इसके महत्त्व को और बढ़ा देते हैं।

गीता को दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र का अनन्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। विलियम वानहम्बोल्ट के अनुसार—यह सबसे अधिक सुन्दर और यथार्थ अर्थों में संभवतः एकमात्र दार्शनिक गीत है, जो किसी ज्ञात भाषा में लिखा गया है।[2]

गीता की महत्ता प्रतिदिन के जीवन में इसकी व्यावहारिक उपादेयता से सिद्ध होती है।[3] इसका उपदेश प्रत्येक व्यक्ति के अपनी सार्थकता रखता है। जो व्यक्ति गीता के प्रति आस्था रखते हुए, उसे जीवन में उतारता है, वह कभी भी निराश नहीं होता। उसका मोह नष्ट हो जाता है और वह जीवन संघर्ष में विजयी होता है।

गीता का उपदेश सार्वभौमिक है। लोक संग्रह का विचार उसकी सार्वभौमिकता को सिद्ध करता है। ज्ञान और भक्ति के संयुक्त निष्काम कर्म व्यक्ति को स्वार्थ से परार्थ की ओर अग्रसर करता है। ऐसा व्यक्ति स्व और पर में कोई अन्तर नहीं मानता है। उसमें सामाजिकता का भाव आध्यात्मिक रूप ले लेता है। निष्काम कर्म का संदेश हमारे आवेगों का आध्यात्मीकरण कर देता है, जो आवेग व्यक्ति को हीन आत्मा के धरातल पर प्रस्तुत करते हैं, उनके नियन्त्रण एवं जिनसे व्यक्ति उच्च आत्मा के धरातल पर पहुँचता है,

---

1. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत
   कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ —गीता, 3. 25
2. द भागवत गीता, ए० जे० बाम, पृ० 3
3. वही

उनके उन्नयन का विचार गीता में स्पष्ट झलकता है। गीता की मान्यताएँ मनोवैज्ञानिक आधार रखती हैं। ज्ञान, भक्ति और कर्म क्रमश: ज्ञानात्मक, भावात्मक और इच्छात्मक मानसिक प्रक्रियाओं से सम्बद्ध है। गीता में जिस वर्ण व्यवस्था का वर्णन है, वह भी मूलत: गुण और कर्म के आधार पर है। सत्त्व, रजस्, तमस् विभिन्न मनोवैज्ञानिक स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। मनोवेगों और संवेगों के संयमन के सम्बन्ध में गीता के विचार उसकी मनोवैज्ञानिकता को व्यक्त करते हैं।

काण्ट की भाँति गीता में भी कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। लेकिन काण्ट की भाँति गीता संन्यासवाद या कठोरतावाद में विश्वास नहीं करती। गीता को यदि किसी नैतिक सिद्धान्त की श्रेणी में रखने की चेष्टा की जाये, तो इसे पूर्णतावाद की श्रेणी में रखा जा सकता है।

आधुनिक सन्दर्भ में गीता के निष्काम कर्म के उपदेश की उपादेयता है। श्री हिरियन्ना[1] के शब्दों में—अब इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि लोग अपने कर्तव्य को छोड़कर संन्यासी बन जायेंगे। जैसा कि अर्जुन ने चाहा था। खतरा तो दूसरी ओर है। अपने अधिकारों को माँगने और उनका उपयोग करने की व्यग्रता में हमारी अपने कर्तव्यों को भूल जाने की आशंका है। अत: गीता के उपदेश की आवश्यकता अब भी उतनी ही अधिक है, जितनी कभी थी। समय बीतने के साथ इसका मूल्य घटा नहीं है और यही इसकी महत्ता का प्रमाण है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग में निवृत्ति का भय तो नहीं है, लेकिन प्रवृत्ति इतनी अधिक होने की आशंका है कि व्यक्ति अपने कर्तव्य को ही विस्मृत कर सकता है। आज व्यक्ति भौतिक सम्पन्नता को जुटाने में अधिकारों का दुरुपयोग, शोषण, मिथ्या-नारेबाजी, दम्भ पाखण्ड आदि से इतना ग्रस्त है कि सामाजिक व्यवस्था में नैतिकता की इतिश्री हो गयी है। ऐसी स्थिति में गीता का निष्काम कर्म ही त्रस्त समाज को त्राण दे सकता है।



1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो० एम० हिरियन्ना, पृ० 123

3

कर्म एवं पुनर्जन्म : वैदिक परिप्रेक्ष्य में

हिन्दू धर्म में बहुत से सिद्धान्तों एवं धार्मिक विचारधाराओं का संगम पाया जाता है। उदाहरणार्थ—वैदिक क्रिया, संस्कार, वेदान्तवादी विचार, वैष्णव, शैव, शाक्त सम्प्रदाय आदि सभी इसी के अन्तर्गत हैं। बहुत सी बातों ने हिन्दुओं को एक सूत्र में बाँध रखा है, यथा—कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त, विशाल संस्कृत भाषा जिसे सभी क्षेत्रीय भाषाओं की जननी कहा जाता है, धार्मिक विषयों में सभी लोगों की वेदों में अटूट आस्था है। यद्यपि बहुत कम ही लोग हैं, जिन्होंने वेदों का अध्ययन किया, हिमालय से कन्याकुमारी अन्तरीप तक भौगोलिक एकता जिस पर प्रमाणों में बल दिया गया है तथा मानसरोवर एवं बदरीनाथ से लेकर रामेश्वर तक तीर्थ स्थानों की धार्मिक यात्राएँ। और इन सबों से अधिक शक्तिशाली एकता के सूत्र में बाँधने वाला हिन्दू धर्म का कर्म पुनर्जन्म सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त आदि काल से अनवरत गति से चलता आ रहा है और आज इसका अपना एक विशाल साहित्य है। इसकी विशालता के कारण इसे सार्वमान्य सिद्धान्त भी कहा जाता है। बौद्ध और जैन निश्चित रूप से हिन्दू नहीं, परन्तु कर्म पुनर्जन्म के समर्थक हैं। ईश्वर और आत्मा के स्वरूप को लेकर ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति में विरोध है, परन्तु कर्म एवं पुनर्जन्म तो प्राय: निर्विरोध सत्य है।

कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय धर्म एवं दर्शन के अत्यंत मौलिक सिद्धान्तों में परिगणित है। यह उस प्रश्न के समाधान का प्रयास है जो सभी विचारशील व्यक्तियों के मन में उठा करता है, यथा—शरीर की मृत्यु के उपरान्त मनुष्य का क्या होता है? इस सिद्धान्त से सहस्रों वर्षों तक अथवा कम से कम उपनिषदों के काल से सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन एवं सभी हिन्दुओं, जैनों एवं बौद्धों को प्रभावित कर रखा है। यह एक विशाल विषय है और गत कुछ दशकों से पश्चिम के लेखकों के मनों को इसने आकृष्ट कर रखा है।

इस अध्याय में हम इस सिद्धान्त के उद्‌गम एवं विकास के लिए वैदिक साहित्य की जाँच करेंगे और देखेंगे कि आगे चलकर इसमें क्या संशोधन, परिवर्तन एवं विरोध उपस्थित किये गये और आधुनिक काल में इसके विरोध में क्या तर्क उपस्थित किये जाते हैं। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि यद्यपि कतिपय दर्शनों (यथा—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा एवं वेदान्त) ने एक-दूसरे के सिद्धान्तों की कड़ी आलोचनाएँ की

हैं, किन्तु उन्होंने कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को एक स्वर से स्वीकार किया है, केवल भौतिकवादियों (यथा—चार्वाक) ने इसे अमान्य ठहराया है। बौद्धों एवं जैनों ने इसे अपने ढंग से अपना लिया है जबकि वे वैदिक एवं स्मृति साहित्य के बहुत से विषयों से असहमत हैं। कर्म एवं पुनर्जन्म सम्बन्धी सभी विश्वासों के साथ कुछ संभावनाएँ एवं ऊहापोह चलते हैं, यथा—

(1) मनुष्य की एक आत्मा होती है, जो नित्य और भौतिक शरीर से पृथक् है।

(2) अन्य जीवों यथा—पशुओं, औषधियों (पौधें) एवं सम्भव निर्जीव पदार्थों में भी आत्म तत्त्व होता है।

(3) मनुष्य एवं निम्नस्तर के पशुओं की आत्मा एक भौतिक शरीर से दूसरे में प्रविष्ट हो सकती है।

(4) आत्मा कर्म करने वाली एवं दु:ख सहने वाली होती है।

'कर्म' शब्द ऋग्वेद में 40 बार से अधिक प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं इसका अर्थ है 'पराक्रम' या 'वीर कार्य' यथा—ऋ० (1.22.19), विष्णु के कर्म (पराक्रम) का निरीक्षण करो, प्रशंसा के योग्य उसके (इन्द्र के) प्राचीन कर्मों की घोषणा अपने शब्दों (या श्लोकों) से करो (ऋ० 1.61.13)[1] और देखिये ऋ० (1.62.6; 1.101.4; 10.54.5; 10.131.4) ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर कर्म का अर्थ है 'धार्मिक कृत्य' (यज्ञ, दान आदि), यथा—"देव लोग इस कवि के सभी कर्मों को स्वीकार करते (या चाहते) हैं, जो तुम्हें स्तुति देता है (तुम्हारी वन्दना करता है) यह ऋ० (1.148.2) है।[2] और देखिये ऋ० (8.36.7; 9.96.11)। प्राचीन काल में स्वर्ग ऐसा स्थल माना जाता था, जहाँ अधिक से अधिक कर्मों के फल का आनन्द लिया जाता है। इस लोक के फल (यथा—सम्पत्ति, वीर पुत्रों) के लिए स्तुति नि:सन्देह की जाती थी, किन्तु अमृतत्व एवं स्वर्ग के आनन्द को सर्वाधिक मूल्य दिया जाता था। (ऋ० 10.16.4) में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह मृत को उन लोगों के लोक में ले जाये जिन्होंने अच्छे कर्म किये हैं (ताभिर्वहैनं सुकृतां उलोकम्)। 'सुकृतां लोकम्' शब्द अथर्ववेद (3.28.6; 18.2.71) एवं बाज सं० (18.52) में भी आये हैं। ऋग्वेद (9.113.7-10) में वह यजमान जो इन्द्र को सोम अर्पण करता है, प्रार्थना करता है कि वह स्वर्ग में अमर रूप में

---

1. अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः। (ऋ.०, 1.61.13) तदु प्रत्यक्षतमस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः। उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन ‌मध्वर्णसो नद्यश्चतस्त्रः॥ (ऋ० 1.62.6), युवं सुरामश्विना नमुचावसुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्म्रस्वावतम्॥ (ऋ०, 1.131.1)

2. जुषन्त विश्वान्यस्य कर्मोपस्तुतिं भरमाणस्य कारोः। (ऋ० 1.148.2) श्यावाश्वस्य सुन्वतस्तथा शृणु यथा शृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः। (ऋ० 8.36.7) यही पुनः 8.37.7 में आया है (सुन्वतः के स्थान पर रेभतः आया है) त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चकुः पवमान धीराः। (ऋ.० 9.96.11

रख दिया जाय, जहाँ अनन्त प्रकाश रहता है, विवस्वान के पुत्र यम राजा हैं, जहाँ आनन्द एवं आह्लाद है और जहाँ कामनाएँ और उनकी पूर्ति हैं। अमरत्व के लिए सभी देवों की स्तुतियाँ की गयी हैं, यथा—अग्नि की (ऋग्वेद 1.13.7; 4.58.1; 5.4.10; 6.7.4), मरुतों की (ऋग्वेद 5.55.4), मित्र एवं वरुण की (ऋग्वेद 5.63.2), विश्वदेवों की (ऋग्वेद 10.52.5 एवं 10.62.1), सोम की (1.91.1; 9.94.4; 9.10.3)। किन्तु दुष्कृत्य करने वालों के भाग्य के लिए ऋग्वेद में कुछ नहीं कहा गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में सत्कर्मों के फलों एवं दुष्कर्मों के प्रतिकार के विषय में पर्याप्त वर्णन मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (12.9.1.1) में प्रतिकार की भावना व्यक्त की गयी है।[1] यही बात मांस-भक्षण के विषय में मनु एवं विष्णुधर्मसूत्र में कही गयी है, जिससे ऐसा अभिव्यक्त है—"वह जीव जिसका मांस खाता हूँ, दूसरे लोक में मुझे खायेगा, विज्ञ लोग 'मांस' शब्द के मूल या उद्भव के विषय में ऐसा घोषित करते हैं।" शतपथ ब्राह्मण (11.6.13-6) में एक विलक्षण कथा आयी है। भृगु से, जो अपनी विद्या के कारण गर्वीले हो गये थे और अपने को पिता से भी अधिक विद्वान् समझते थे, उसके पिता वरुण ने चारों दिशाओं में पूर्व से उत्तर तक जाने को कहा और लौट आने पर देखी हुई सभी घटनाओं का विवरण माँगा। सभी दिशाओं में भृगु को भयंकर दृश्य देखने को मिले, पूर्व में उन्होंने लोगों को एक-दूसरे को छिन्न-भिन्न करते देखा, एक-एक कर हाथ उखाड़ते यह कहते सुना, "यह तुम्हारे लिए, यह मेरे लिए"। उन्होंने कहा, "यह भयंकर है।" उन लोगों ने कहा, "इन लोगों ने हमारे साथ सामने के लोक में किया अत: हम लोग प्रतिकार में ऐसा कर रहे हैं।" तब उन्होंने उत्तर में देखा कि चिल्लाते एवं रोते हुए लोगों द्वारा चिल्लाते एवं रोते हुए लोग पीटे जा रहे हैं। जब उन्होंने कहा, "यह तो भीष्म (भयंकर या भीषण) है" तो उन लोगों ने उत्तर दिया, "इन लोगों ने हमारे साथ ऐसा ही...यह प्रतिकार है।" यह एक लम्बी गाथा है, जिसका वर्णन यहाँ अनावश्यक है। यह कथा संभवत: 'जैसे को तैसा' वाली कहावत चरितार्थ करती है। इतना तो स्पष्ट है कि शतपथ ब्राह्मण के काल तक यह धारणा बँध चुकी थी कि जो व्यक्ति एक जीवन में दुष्कृत्य करता है वह दूसरे जीवन में उसी व्यक्ति द्वारा, जिसका अनुभव वह किये रहता है, दुष्कृत्य का उत्तर अथवा प्रतिकर पाता है। शतपथ ब्राह्मण एवं तै० ब्राह्मण ने कई बार 'पुनर्मृत्यु' (बार-बार मारना, अर्थात् बार-बार जन्म लेना एवं मरना) को जीत लेने अथवा उसको दूर कर देने की बात कही है। शतपथ ब्राह्मण (10.4.4) में आया है कि

---

1. एतस्मादै यज्ञात्पुरुषौ जायते। स: यद्ववा अस्मिल्लोके पुरुषान्नमत्ति तदेनममुषिमल्लोके प्रत्यत्ति (शतपथ 12.9.1.1), मांस भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्भयम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिण:। (मनु. 5.55), विष्णुधर्मसूत्र 51.78, "माँ" का अर्थ है मुझको एवं "स:" का अर्थ "वह जीव" और मांस शब्द (जिसमें दोनों मिले हैं) का अर्थ वह है जो ऊपर कहा गया है।

देव लोग अमर हो गये, क्योंकि उन्होंने प्रजापति की सम्मति से अग्नि चयन का उचित सम्पादन किया, यथा—360 घेरने वाली ईंटों, 360 यजुष्मती ईंटों तथा उन पर 36 और ईंटों तथा 10,800 लोकम्पृणा ईंटों से उसे सम्पादित किया। शतपथ ब्राह्मण (10.4.4.9) में आया है—"जो व्यक्ति विद्या तथा पवित्र कर्मों द्वारा अमर होना चाहता है, वह इस शरीर से पृथक् होने पर अमर हो जायेगा" और पुनः (10.4.4.10) में आया है—"जो व्यक्ति इसे जानते हैं या जो यह पवित्र कर्म करते हैं, वे पुनः मरने के उपरान्त इस जीवन में आते हैं और जीवन में आने के उपरान्त अमर जीवन प्राप्त करते हैं, किन्तु वे लोग जो इसे नहीं जानते या इस पवित्र कर्म का सम्पादन नहीं करते, मरने पर पुनर्जीवन प्राप्त करते हैं और वे मृत्यु का भोजन बार-बार बनते हैं।[1] तै० ब्राह्मण (3.2.8) में नचिकेता की गाथा कही गयी है जो कठोपनिषद् से मिलती है (कुछ मन्त्र दोनों में समान है)। तै० ब्राह्मण में आया है कि मृत्यु ने नचिकेता को तीन वरदान दिये, जिनमें तीसरा कठोपनिषद् से भिन्न है। वह तीसरा वरदान यह है—"मैं पुनर्मृत्यु किस प्रकार दूर करूँ, इसकी मुझसे घोषणा करो।" मृत्यु ने उससे नचिकेता अग्नि घोषित का उपदेश किया, जिससे नचिकेता पुनर्मृत्यु को दूर कर सका और देखिए कौषीतकि ब्राह्मण (25.1 एवं बृ० उप० 1.2.7; 1.5.2; 3.2.10; एवं 3.3.2)

दुष्कृत्यों के प्रतिकार की प्राचीन भावना से ही संभवतः अच्छे कर्मों की यह भावना उठ खड़ी हुई कि इनको (अर्थात् सत्कर्मों को) दुष्कर्मों के विरोध में रखा जाय और दोनों को मानो तराजू में तोला जाय। शतपथ ब्राह्मण (11.2.7.33) में आया है—"अब यह तराजू है, अर्थात् वेदी का दाहिना पार्श्व। वह वेदी का दाहिना पार्श्व छूकर बैठ जाय, क्योंकि वास्तव में, वे उसे सामने के लोक में तराजू पर बैठाते हैं और दोनों में जो ऊपर उठ जायेगा वह उसी का अनुसरण करेगा, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। जो कोई इसे जानता है वह इस तराजू पर इस लोक में बैठता है और सामने के लोक में अर्थात् आगे के या परलोक में बैठने से छुटकारा पा जाता है, क्योंकि यह सत्कर्म ही है जो ऊपर उठता है बुरा कर्म नहीं।[2]

शतपथ इस निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि मनुष्य की इच्छा और उसी के अनुरूप उसके कार्य पर ही यह निर्भर है कि उसे मृत्यु के उपरान्त कौन सा लोक प्राप्त होगा।

---

1. ते य एवमेतद्विदुर्ये वै तत्कर्म कुर्वते भृत्वा पुनः सम्भवंति ते सम्भवन्त एवामृतत्वमभि सम्भवन्यथ य एवं न विदुर्ये वै तत्कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति त एतस्यैवान्नं पुनः पुनर्भवन्ति। —शतपथ ब्राह्मण, 10.4.3.10

2. अथ हैषैव तुला यदक्षिणो वेद्यन्तः स यत्साधु करोति तदन्तर्वेद्यथ यदसाधु तद्वहिर्वेदि। तस्माददक्षिणं वेद्यन्तमधिस्पृश्येवासीत। तुलायां ह वा मुष्मिल्लोक आवति यतरद्यंस्याति तदन्वेष्यति यदि साधुवा साधु वेति। अथ य एवं वेदास्मिन्हैव लोके तुलाभारोहत्य मुष्मिल्लोके तुलाधानं मुच्यते। साधुकृत्या हैवास्य यच्छति न पापकृत्या। शतपथब्राह्मण (11.2.7.33)। यहाँ पर वेदि के दाहिने पार्श्व के किनारे को तुला का दण्ड कहा गया है।

उसमें कथित है—उसे ब्रह्म समझकर सत्य का ही ध्यान करना चाहिए। अब यह पुरुष (मनुष्य) की ही अधिकतर इच्छा है और अपनी इच्छा के अनुसार ही जब वह इस लोक में चलेगा तो सामने के (अर्थात् आगे के) लोक में भी वैसी इच्छा रखेगा।

शतपथ ब्राह्मण (10.1.5.4) में एक विचित्र वचन आया है, जिसका सम्बन्ध यज्ञों से उत्पन्न उन शक्तियों से है जो कि सामने के (आगे अर्थात् परलोक) लोक में प्रकट होती है। इसमें आया है कि जो व्यक्ति नियमित रूप से अग्निहोत्र करता है वह परलोक में प्रात: एवं सायं भोजन करता है, दर्श एवं पूर्णमास को करने वाला प्रत्येक पक्ष में भोजन करता है, चातुर्मास्यो (ऋतुओं वाले यज्ञ) को करने वाला सामने के लोकों में प्रति चार मासों के उपरान्त भोजन करता है, पशु-यज्ञ करने वाला प्रत्येक 6 मासों पर खाता है, सोम यज्ञ करने वाला एक वर्ष के उपरान्त भोजन करता है, अग्निचयन वेदिका का निर्माण करने वाला प्रत्येक सौ वर्षों पर इच्छा के अनुसार खाता है या एक बार खा लेने पर खाने की आवश्यकता नहीं समझता है।

शतपथ ब्राह्मण इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुसार निर्मित लोक में जन्म लेता है। उसने यह दृढ़तापूर्वक व्यक्त किया है कि जो देवों के लिए यज्ञ करता है वह उस लोक को नहीं प्राप्त करता है, जिसे आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला पाता है और आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला व्यक्ति अपने शरीर से, पाप से, उसी प्रकार मुक्ति पाता है, जिस प्रकार सर्प अपने केचुल से पाता है (11.2.6-13-14)।

यह मान लेना होगा कि कर्म एवं पुनर्जन्म सिद्धान्त सम्बन्धी स्पष्ट वक्तव्य का ऋग्वेद में अभाव है। ऋग्वेद का 7.33 एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है। प्रथम नौ मन्त्रों में वशिष्ठ ने अपने पुत्रों के विषय में कहा है। 10-14 स्वयं वशिष्ठ के लिए प्रयुक्त हैं जो या तो उनके पुत्रों द्वारा कथित है या एक अन्य मत से इन्द्र के साथ हुई बातचीत का एक अंश है। ये मन्त्र देवताख्यान युक्त हैं, रहस्यवादी हैं और व्याख्या के लिए अति कठिन। 10वें मन्त्र में वशिष्ठ के जन्म की ओर इंगित है जबकि मित्र एवं वरुण ने उन्हें विद्युत के अतितेत्र के पास पहुँचते हुए देखा और ऐसा कहा गया है कि अगस्त्य उन्हें (वशिष्ठ को) लोगों के पास ले आये। यहाँ पर 'एक जन्म' से ज्ञात होता है कि इस सूक्त में वशिष्ठ के अन्य जन्म की ओर भी संकेत है। 11वें मन्त्र में वशिष्ठ को उर्वशी से उत्पन्न मित्र एवं वरुण का पुत्र कहा गया है और ऐसा आया है कि सभी देवों ने उन्हें एक पुष्कर (अन्तरिक्ष या कमल) में रखा। 12वाँ मन्त्र लाक्षणिक एवं रहस्यवादी होने के कारण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यम द्वारा फैलाये गये वस्त्र को बुनने की इच्छा करते हुए वशिष्ठ उर्वशी से उत्पन्न हो गये। 13वें श्लोक में आया है कि दोनों (मित्र एवं वरुण) ने बीज को एक घड़े में डाल दिया, जिसके मध्य से अगस्त्य निकले और वशिष्ठ भी उत्पन्न हुए। 14वाँ मन्त्र प्रतृदों को सम्बोधित है और उनसे कहा गया है कि वे वशिष्ठ के सम्मान में लग जायें जो उनके पास (यज्ञ) कराने के लिए आयेंगे। यह, ऐसा प्रतीत होता है, वशिष्ठ का दूसरा जन्म है।

प्रो० आर०डी० रानाडे ने अपने ग्रन्थ "कांस्ट्रक्टिव सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलॉसाफी" (पृ० 145-46) में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों पर निर्भर होकर यह कहने का प्रयास किया है कि वैदिक ऋषियों ने पुनर्जन्म की ओर संकेत किया है। किन्तु प्रो० रानाडे ने स्वयं यह माना है कि ऋग्वेद के अधिकांश भाग में पुनर्जन्म की भावना का सर्वथा अभाव है। स्थानाभाव से हम उनके तर्कों की जाँच यहाँ नहीं कर पायेंगे। पूर्ण जानकारी के लिए देखिये मूल ग्रन्थ का पृ० 1537-1548।

श्री जे०एस० करन्दीकर ने (पूना-निवासी, जो लोकमान्य तिलक के कट्टर शिष्य हैं) अपने ग्रन्थ "गीता-तत्त्व मंजरी" (मराठी, 1947) में यह दर्शाया है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक संहिताओं में पाया जाता है और इस विषय में उन्होंने ऋग्वेदीय चार ऋचाओं (10.14.8; 10.16.3 एवं 5 तथा 10.135.6) का आश्रय लिया है। किन्तु उनकी धारणा निर्मूल है। उन्होंने ऋचाओं का जो अर्थ लगाया है, वह ठीक नहीं है। विशेष तर्क दिया है।

तै० सं०(2.6.10.2) में एक मनोरम वचन आया है—जो व्यक्ति किसी ब्राह्मण को धमकी देता है वह इसके लिए एक सौ वर्षों तक (प्रायश्चित करेगा) जो ब्राह्मण का रक्त गिरायेगा वह उतने वर्षों तक अपने पितरों के लोक को नहीं जानेगा, जितने मिट्टी के कण रक्त से सनकर एक पिण्ड के रूप में बन जायेंगे। अतः व्यक्ति न तो ब्राह्मण को धमकी दें, न पीटें और न उसके शरीर से रक्त गिरने दें, क्योंकि वैसा करने से उतना ही पाप होता है। इस वचन से ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि इस वचन के प्रक्षेपन के काल तक केवल पितृलोक की भावना ही बन सकी थी जैसा कि ड्यूशन ने अपने ग्रन्थ "फिलासॉफी ऑफ उपनिषद्" में लिखा है। वास्तव में, ऋग्वेद में देवयान एवं पितृयान की कल्पना प्रबल हो चुकी है। ऋग्वेद के अनुसार अधिक लोग यम के राज्य पितृलोक में जायेंगे, केवल थोड़े से देवयान द्वारा देवों के लोक में जायेंगे। यह वचन इस विषय में अधिक महत्त्वपूर्ण है कि एक अति घातक पाप के फलस्वरूप पापी को एक सहस्र वर्षों तक या कई सहस्रों वर्षों तक दुःख भोगना पड़ता था, अतः उसे कई जीवनों तक जन्म लेना पड़ता था। क्योंकि मानव की आयु सौ वर्ष होती है (ऋग्वेद 10.161.4 अथर्ववेद, 3.1.1.4; ऋग्वेद 1.89.9; वाज. सं०, 25.22)। उपर्युक्त वचन के आधार पर गौतमधर्म सूत्र ने व्यवस्था दी है कि क्रोध में आकर ब्राह्मण को धमकी देने से सौ वर्षों तक स्वर्ग का द्वार अवरुद्ध हो जायेगा। (या नरक में जाना होगा) उसे पीटने से एक सहस्र वर्षों तक तथा उसके शरीर से रक्त निकालने पर उतने वर्षों तक स्वर्ग-द्वार अवरुद्ध रहेगा जितने मिट्टी के कणों से रक्तरंजित पिण्ड बन जायेगा। मनु (11.206-7) ने इसे यों समझा है कि ब्राह्मण के विरुद्ध किये गये दुष्कर्मों से अभियोगी को क्रम से 100, 1000 या सहस्रों वर्षों तक नरक में रहना पडेगा।

मनुष्य अपने कर्मों एवं आचरण से अपना भविष्य बनाता है, इस सिद्धान्त की शिक्षा बृह०उप० (4.4.5-7) में मिलती है।[1] ''जो जैसा आचरण करेगा वह वैसा ही होगा, अच्छे कर्मों वाला अच्छा (जन्म) पायेगा, दुष्कर्मों वाला बुरा (जन्म) पायेगा, पुण्य कर्मों से पुण्य (पवित्र) होता है। दुष्कर्मों से बुरा। यहाँ वे कहते हैं—''मनुष्य काममय है, उसकी जैसी कामना होगी वैसी ही उसकी इच्छा-शक्ति होगी, उसकी जैसी इच्छा होगी वैसा ही उसका कर्म होगा और जो कुछ कर्म वह करता है, वैसा ही वह होगा वैसा ही फल वह प्राप्त करेगा।'' इस पर एक श्लोक आया है—''जिस किसी से मनुष्य का मन एवं सूक्ष्म देह संलग्न रहता है उसी के पास अपने कर्मों के फलों के साथ वह जाता है और जो कुछ कर्म वह इस लोक में करता है उसका फल प्राप्त करने के उपरान्त वह पुनः उस लोक से (जहाँ वह फल-प्राप्ति के कारण कुछ काल के लिए गया था) कर्मलोक में आ जाता है, इतनी बात उस व्यक्ति के लिए है जो कामयमान (अर्थात् जो कामनाओं या इच्छाओं में डूबा हुआ है) है, अब अकामयमान के विषय में—जो व्यक्ति कामरहित है, निष्काम है, जिसके काम शान्त हो गये हैं, जो स्वयं आत्मकाम (स्वयं अपनी इच्छा) है उसके प्राण कहीं और नहीं जाते, वह स्वयं ब्रह्म होने के कारण ब्रह्मलीन हो जाता है। इस पर एक श्लोक है—''जब मनुष्य के हृदय में स्थित सभी काम दूर हो सकते हैं, तो वह जो मर्त्य है, अमृत हो जाता है, यही इसी शरीर में वह ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है।'' उपर्युक्त वचन में क्रम यों है—काम, इच्छा एवं कर्म। इस विषय में देखिए ड्यूशन (फिलॉसॉफी ऑव दि उपनिषद्स, पृ० 481 एव जेराल्ड हर्ड) इज गॉड एविडेण्ट, पृ० 34 की भावभीनी टिप्पणियाँ।

उपर्युक्त वचन के पहले एवं उपरान्त कई उदाहरण आये हैं, जिनमें दो यहाँ दिये जा रहे हैं, जिससे यह बात व्यक्त हो जायेगी कि आत्मा किस प्रकार एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। ''जिस प्रकार एक तिनगा घास के एक अंकुर के पोर पर पहुँचने के उपरान्त दूसरे अंकुर के पास पहुँचने की गति करता है, उसकी ओर अपने को खींच लेता है और उस पर अपने को अवस्थित कर लेता है, उसी प्रकार यह (जीव का) आत्मा मृत्यु पर अपने शरीर को त्याग कर, अविद्या को हटाता हुआ, दूसरे शरीर की ओर

---

1. स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय... इति। यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। तदेव श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिंग मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम। तस्मांल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे। इति नु कामयमानः। अथा कामयमानो ''यो कामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्यप्येति। तदेव श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये स्य हृदि स्थिताः। अय मर्त्यो भूतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुले॥ —बृ०उप०, 4.4.5-7

पहुँचता हुआ उसकी ओर अपने को खींच लेता है और उसी में अपने को अवस्थित कर लेता है'' (बृ०उप० 4.4.3)। दूसरा उदाहरण यह है—''जिस प्रकार सर्प का केंचुल पिपीलिका के देह पर मरा हुआ एवं फेंका हुआ रहता है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रह जाता है और तब आत्मा, शरीर रहित, अमरात्मा हो जाता है और केवल ब्रह्म होता है।

यह सम्पूर्ण वचन (बृ०उप० 4.4.5-7) सबसे मुख्य, प्राचीन एवं स्पष्ट वचन है और उपनिषदों के पाये जाने वाले पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर प्रभूत प्रकाश डालता है। इसी प्रकार के अन्य वचन भी हैं। याज्ञवल्क्य एवं आर्तभाग का कथा के अन्त में (जहाँ याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग से एकान्त में मृत्यु के उपरान्त होने वाली अवस्था के विषय में बातें की हैं) उपनिषद् में आया है—उन्होंने जो कहा वह केवल कर्म ही है। उन्होंने जिसकी प्रशंसा की, वह कर्म ही है। व्यक्ति अच्छे कर्मों से अच्छा होता है और दुष्कर्मों से बुरा होता है। (बृ०उप०, 3.3.13)।

ये दोनों ऐसे मौलिक वचन हैं जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आधार में पड़े तर्क एवं उद्देश्य की व्याख्या उपस्थित करते हैं।

उपर्युक्त दोनों उक्तियों का सारांश यह है कि इस जीवन में किये गये कर्म एवं आचरण मनुष्य के भावी जीवन का निर्माण करने वाले होते हैं और वर्तमान जीवन मनुष्य द्वारा अतीत जीवन या जीवनों में किये गये कर्मों या व्यवहार का फल है। किन्तु कर्म एवं आचरण (व्यवहार) मनुष्य की इच्छा संकल्प पर निर्भर रहते हैं और यह संकल्प (या इच्छा) कामनाओं के कारण ही जागता है। मनुष्य की कई कामनाएँ हो सकती हैं, वह उनमें कुछ को दबा सकता है, किन्तु कुछ कामनाओं की निष्पत्ति अथवा सिद्धि के लिए वह संकल्प ले सकता है। अतः कामनाएँ अथवा केवल 'काम' (संकल्प) या इच्छा, कर्मों एवं आचरण का आधार (मूल या जड़) है और अन्ततोगत्वा वही जन्मों एवं मरणों के चक्र (जिसे संसार कहा जाता है) के मूल में भी है। इसी से शंकराचार्य ने ''यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा'' (बृ०उप० 4.5.7) का अनुसरण करते हुए कहा है—''कामो मूलं संसारस्य'' अर्थात् काम संसार का मूल है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (6.2) में एक अन्य महत्त्वपूर्ण वचन है। वहाँ आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु के बारे में एक कथा कही है। श्वेतकेतु अपनी विद्या के घमण्ड में चूर पंचालों के सभा-भवन में आये और वहाँ पर नौकरों द्वारा सेवा पाते हुए प्रवाहण जैवाल (एक क्षत्रिय या राजकुमार) को देखा। श्वेतकेतु को देख लेने पर राजकुमार ने उनसे पूछा—''क्या आपने अपने पिता से शिक्षा पायी है? जब श्वेतकेतु ने 'हाँ' कहा तो राजकुमार ने उनसे पाँच प्रश्न किये, यथा—(1) क्या आप यह जानते हैं कि जब मनुष्य यहाँ से जाते हैं तो वे किस प्रकार विभिन्न दिशाओं को जाते हैं? (2) क्या आप यह जानते हैं कि वे किस प्रकार यहाँ लौट आते हैं? (3) क्या आप यह जानते हैं कि सामने वाला लोक किस प्रकार बहुत लोगों द्वारा बार-बार जाने पर भी भर नहीं पाता? (4) क्या आप यह

जानते हैं कि किस कृत्य की आहुति पर जल मानव वाणी से युक्त हो जाते हैं, उठ पड़ते हैं, बोल उठते हैं? (5) क्या आप देवयान एवं पितृयान नामक मार्गों की पहुँच को जानते हैं? (अर्थात् क्या आप उन कर्मों को जानते हैं, जिसके द्वारा मनुष्य देवयान एवं पितृयान नामक मार्गों में जा सकते हैं) क्योंकि हमने एक ऋषि को यह कहते सुना है—मैंने मनुष्यों के लिए दो मार्गों की बात सुनी है, जिसमें एक पितरों की ओर जाता है और दूसरा देवों की ओर, इन्हीं दोनों मार्गों पर सारा संसार जो कुछ भी पिता (आकाश) एवं माता (पृथिवी)के बीच रहता है, चलता है।''[1] इन सभी प्रश्नों के विषय में श्वेतकेतु ने कहा कि वे कुछ नहीं जानते। राजकुमार ने आतिथ्य दिया, किन्तु श्वेतकेतु दौड़कर अपने पिता के पास गये और यह जानना चाहा कि कैसे उन्होंने कह दिया था कि उन्होंने सब कुछ पढ़ा दिया है, जबकि एक राजन्य द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्नों में एक का भी उत्तर नहीं दिया जा सका। उनके पिता ने कहा कि उन्होंने सब कुछ, जो उन्हें ज्ञात था, पढ़ा दिया था, वे स्वयं इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते। वे राजकुमार के पास गये जिसने उन्हें दान से सम्मानित किया। आरुणि को धन नहीं चाहिए था, उन्होंने प्रश्नों का उत्तर चाहा। राजकुमार ने कहा—''शिष्य के रूप में आइए''। आरुणि (गौतम) ने कहा कि वे शिष्य के रूप में ही आये हैं। राजकुमार ने कहा कि जो विद्या मैं पढ़ाऊँगा वह किसी ब्राह्मण के पास इसके पूर्व नहीं थी।[2] इसके उपरान्त उन्होंने (राजन्य या क्षत्रिय अथवा राजकुमार ने) श्वेतकेतु को पाँचों प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में दिया जो इस प्रकार है—पाँच अग्नियाँ (लाक्षणिक रूप में) हैं—स्वर्ग, वर्षा के देव, पृथिवी, पुरुष एवं नारी और पाँच आहुतियाँ हैं—श्रद्धा, सोम (चन्द्र), वर्षा, अन्न एवं बीज। वह चौथे का उत्तर दिया, पहले एवं पाँचवें प्रश्नों का उत्तर इस वक्तव्य में है—''कुछ लोग देवों के मार्ग से, कुछ लोग पितरों के मार्ग से जाते हैं, किन्तु अन्य (यथा—कीड़े-मकोड़े, पक्षियों आदि) लोगों के लिए कोई मार्ग नहीं है (वे केवल जीते हैं और मर जाते हैं)[3] दूसरे एवं तीसरे प्रश्नों का उत्तर इसी प्रकार है, यथा—जो लोग पितृयान से जाते हैं वे इस पृथिवी पर लौट आते हैं और जो ब्रह्म के पास जाते हैं, वे लौटकर नहीं आते, इसी से वह लोक भर नहीं पाता।

---

1. देवयान एवं पितृयान के विषय में जो प्रश्न बृह०उप० (6.3.2) में पूछा गया है उसका रूप यों है—वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयानस्य वा। यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयान वा। अपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्- दे सूती आशृणवं पितृणामहं देवानामृत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्तसमेति यदन्तरा पितरं मातरं च। इति। द्वे सूती...नामक पद ऋ०, 10.88.15 एवं तै०ब्रा० 1.4.2-3 में पाया जाता है। द्वयोः (स्वर्ग) एवं पृथिवी को क्रम से पिता एवं माता कहा गया है ऋ.०1.164.31 एवं 1.191.6
2. इस विद्या को 'पंचाग्निविद्या' कहा जाता है कि इस उपनिषद् में 'राजन्य' शब्द राजकुमार के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है, केवल क्षत्रिय, जैसा कि पुरुष सूक्त, 10.90.12 में आया है, न कि 'राजा'।
3. बृहदारण्यकोपनिषद्, 6.2.15-16

छा०उप० (5.3.2) में ये प्रश्न कुछ भिन्न रूप से पूछे गये हैं—(1) क्या आप जानते हैं कि यहाँ के लोग किस स्थान को जाते हैं? (2) वे कैसे लौटते हैं? (3) क्या आप जानते हैं कि देवों का मार्ग एवं पितरों का मार्ग कहाँ अलग-अलग होता है? (4) लोक भर क्यों नहीं जाता? (5) पाँचवीं आहुति में जल को मनुष्य क्यों कहा जाता है? इनके उत्तर बृहदारण्यक उपनिषद् एवं छान्दोग्य उपनिषद् में एक से नहीं हैं, यद्यपि वे पर्याप्त रूप में एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। अग्नि के पाँच अंग हैं, ईंधन, धूम, ज्वाला, जलते कोयले (अंगारे) एवं स्फुलिंग। छान्दोग्य उपनिषद् एवं बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में अग्नियाँ एक ही हैं, किन्तु उनके अंगों में थोड़ा अन्तर है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्रथम प्रश्न के उत्तर में दोनों मार्गों का उल्लेख है। दूसरे प्रश्न का उत्तर छान्दोग्य उपनिषद् में है।[2] चन्द्र तक पहुँचने पर मार्ग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। चौथे प्रश्न का उत्तर छान्दोग्य उपनिषद्[3] में है। पाँचवें प्रश्न का उत्तर पंचाग्निविद्या की उक्ति द्वारा दिया गया है।

आगे कुछ और कहने के पूर्व इस विषय में कुछ लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि शरीर के मरने के उपरान्त क्या होता है अथवा क्या सम्भव हो सकता है। इस विषय में तीन सम्भावनाएँ हैं—यथा—(1) सम्पूर्ण विलोप, (2) स्वर्ग या नरक में अनन्त प्रतिकार (बदला, अर्थात् फल भोगना), एवं (3) पुनर्जन्म। जो लोग आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करते वे प्रथम मत का प्रतिपादन करते हैं। प्राचीन भारत में भी, जैसा कि कठोपनिषद् ने प्रमाण दिया है, कुछ लोग मृत्यूपरान्त आत्मा के अतिजीवन (जीते रह जाने) में शंकाएँ रखते थे। जो लोग अतिजीवन (सरवाइवल) में विश्वास नहीं करते वे अन्य प्रश्नों से व्यामोहित अथवा चिन्तित नहीं होते। अतः मृत्यु के उपरान्त वाला अति जीवन-सम्बन्धी प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् क्या भौतिक शरीर की मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति (या उसका आत्मा या उसका कोई अपनापन) का कोई चिह्न बचा रहा है? श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रथम मन्त्र चार समस्याएँ उपस्थित करता है—(1) क्या ब्रह्म ही कारण है? (2) हम कहाँ से आते हैं? (3) हमें कौन पालता है? तथा (4) हम कहाँ जा रहे हैं? जो लोग ईश्वर, स्वर्ग एवं नरक में विश्वास करते हैं

---

1. छान्दोग्य उपनिषद्, 5.10..4-9; बृह०उप०:, 6.2.9-13
2. छान्दोग्य उपनिषद्, 5.10.4; आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षन्ति एवं बृ०उप०, 6.2.16 से चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवाः भक्षयन्ति। वे०सू०, 3.1.7 में इनका विवेचन है। भाक्तं वानात्मवित्तश्रात्तथाहि दर्शयति (उसमें आया है कि शब्दों) देव उन्हें खाते हैं, भक्षयन्ति को शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए प्रत्युत लाक्षणिक अर्थ में। वास्तव में, कहने का तात्पर्य यह है कि देवों को उनका साथ अच्छा लगता है जो लोग यज्ञ करते हैं, क्योंकि छा०उप० 3.8.1 में स्वयं आया है कि देव लोग न तो खाते हैं और न पीते हैं, किन्तु वे अमृत को देखकर अवश्य संतुष्ट होते हैं।
3. छा०उप०., 5.10.2; 4-5

उनमें बहुत से लोग आत्मा के पूर्वास्तित्त्व में विश्वास नहीं करते, वे केवल उत्तरास्तित्व (पश्चात् वाले अस्तित्व) में विश्वास करते हैं। वे ऐसा विश्वास करते हैं कि यदि व्यक्ति इस जीवन में सदाचारी है जो उसे स्वर्ग में आनन्द का अनन्त जीवन प्राप्त होगा, और जो पापमय जीवन बिताता है वह मृत्यु के उपरान्त नरक में सदा के लिए निवास करेगा। बाइबिल एवं कुरान में विश्वास करने वाले ऐसा विश्वास करते हैं और उनकी दृष्टि में सुकृत (साधुता, धर्माचरण या सदाचार) केवल ईश्वर की इच्छा के प्रति श्रद्धा रखने में है (जैसा कि बाइबिल या कुरान में 'इलहाम' या अन्त:प्रेरणा के रूप में व्यक्त है)। बहुत कम लोग प्रथम संभावना, अर्थात् सम्पूर्णनाश (विलोप) वाले सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, क्योंकि इससे मनुष्य की कामनाओं से विरोध उठ खड़ा होता है, क्योंकि व्यक्ति सोचता है कि उसने इस जीवन में जो कुछ मानसिक एवं आध्यात्मिक रूप में कमाया है वह बिना कुछ चिह्न छोड़े सर्वथा विलुप्त नहीं हो सकता। दूसरी सम्भावना अनन्त पुण्यफल या पाप फल भोगने की ओर इंगित करती है और इसमें बहुत लोग विश्वास नहीं करते, विशेषत: जब वे सोचते हैं कि जीवन तो अल्प होता है और उसी में किये गये सत्कर्मों या दुष्कर्मों के लिए स्वर्ग या नरक में अनन्त वास करना पड़ता है। अत: अपेक्षाकृत अधिक लोग तीसरी संभावना में विश्वास करते हैं, क्योंकि इसमें भौतिक मृत्यु के उपरान्त किसी न किसी रूप में एवं किन्हीं वातावरणों में आत्मा के सतत अस्तित्व का संकेत मिलता है।

उपर्युक्त उपनिषद्-वचन यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त किस प्रकार उपनिषद् काल में अपना रूप धारण कर रहा था। ऋग्वेद में देवयान एवं पितृयान नामक दो मार्ग विदित थे और यह भी ज्ञात था कि स्वर्ग में आनन्द एवं आह्लाद प्राप्त होते हैं, किन्तु ऋग्वेद से यह नहीं ज्ञात हो पाता कि स्वर्ग के आनन्दों की क्या अवधि थी और न वहाँ पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में कोई स्पष्ट एवं निश्चित उक्ति ही मिलती है। ब्राह्मण ग्रंथों में दोनों मार्गों की ओर बहुधा संकेत किया गया है और इस धारणा की ओर भी निर्देश मिलता है कि मनुष्य को कई बार मरना होगा (पुनर्जन्म), किन्तु तथापि सतकर्मों एवं दुष्कर्मों पर आधारित पुनर्जन्म के विषय में कोई स्पष्ट एवं निश्चित सिद्धान्त नहीं मिलता। अत्यन्त स्पष्ट (और संभवत: अत्यन्त आरम्भिक) वक्तव्य बृहदारण्यकोपनिषद् के दो वचनों में हैं जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त के उद्‌गम पर प्रकाश डालते हैं।[1] ये दोनों वचन याज्ञवल्क्य से सम्बन्धित हैं और उन्होंने ही दृढ़तापूर्वक कहा है कि अपने कर्मों के फलस्वरूप ही मनुष्य नये जन्म ग्रहण करता है। इन दोनों वचनों में देवयान एवं पितृयान का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु बृहदारण्यकोपनिषद्[2] एवं छान्दोग्योपनिषद्[3] ने पुनर्जन्म के दो मार्गों की चर्चा की है और

1. बृह०उप०, 3.3.13; 4.4.5-7
2. वही, 6.2.16
3. छा०उप०, 5.10

उनके लिए जो कीटों एवं मक्खियों के रूप में जन्म लेते हैं, तीसरे स्थान की बात कही है। यह दो मार्गों वाले सिद्धान्त के आगे का मार्ग है, क्योंकि इसमें एक और मार्ग जोड़ दिया गया है। एक अन्य स्तर भी पाया जाता है। छान्दोग्योपनिषद्[1] में आया है कि वैसे लोग, जो यज्ञ करते हैं, जन-कल्याण का कार्य करते हैं तथा दान देते हैं, चन्द्रलोक जाते हैं और जब उनके सत्कर्मों के फल समाप्त हो जाते हैं तो वे उसी मार्ग से लौट आते हैं, जिससे वे चन्द्रलोक गये थे (अर्थात् चन्द्र से आकाश, तब वायु, धूम्र, कुहरा, बादल एवं वर्षा के मार्ग से लौटते हैं) और पुन: किसी माता के पेट से जन्म लेते हैं। इससे विदित होता है कि जो लोग यज्ञ आदि करते हैं उन्हें दो प्रतिकार (बदले) मिलते हैं, यथा—बहुत काल तक चन्द्रलोक में निवास तथा इस पृथिवी पर पुनर्जन्म।

छान्दोग्योपनिषद् की भाँति प्रश्नोपनिषद् में भी वही सिद्धान्त आया है, किन्तु यहाँ सूर्यलोक के निवास की भी बात आयी है, यथा—संवत्सर वास्तव में प्रजापति का है, इसके दो मार्ग हैं—दक्षिणी एवं उत्तरी। जो लोग यज्ञ एवं जन-कल्याण के कार्य को आवश्यक समझकर सम्पादित करते हैं वे चन्द्र को ही अपने भावी लोक के रूप में प्राप्त करते हैं और वे ही इस लोक को फिर लौट आते हैं। अत: जो ऋषि सन्तान की कामना रखते हैं दक्षिणी मार्ग को अपनाते हैं। जो ऋषि तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वे उत्तरी मार्ग से सूर्य की ओर जाते हैं, जो प्राणों का आयतन है, अमृत है, भय से मुक्त है, यह सर्वोच्च एवं अन्तिम लक्ष्य है। यहाँ से वे लौटते नहीं, यहाँ अन्य पदार्थों के लिए निरोध है। इस पर एक श्लोक है।[2] कुछ लोग उसे पाँच पाँवों वाले (पाँच ऋतुओं), बारह रूपों वाला, (12 महीनों) पिता कहते हैं, सर्वोच्च स्वर्ग में वर्षा का दाता कहते हैं, अन्य लोग कहते हैं कि ऋषि नीचे के अर्धभाग में सात पहियों वाले (घोड़ों या सूर्य की किरणों) एवं छह तीलियों (अरों) वाले रथ में रखा जाता है। ऋग्वेद का यह मन्त्र संभवत: उन दो मार्गों के लिए उद्धृत किया गया है जो प्रतीक के रूप में वर्ष के दो भागों को बताते हैं। ऋग्वेद के इस मन्त्र का प्रथम अर्धभाग सूर्य की ओर संकेत करता है जो कि स्वर्ग के सर्वोच्च अर्धभाग में अवस्थित है और संभवत: दूसरा अर्धभाग स्वर्ग के उस भाग को बताता है जो नीचे है और उसमें छ: तीलियाँ हैं अर्थात् दक्षिणायन के 6 मास हैं। ड्यूशन[3] ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ऋग्वेद[4] का दो भागों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के इस मन्त्र के पूर्व (ऋत) वर्ष या सूर्य के पहिये को द्वादशार (12 अरों या तीलियों वाला या 12 महीनों वाला) कहा गया है, अत: जब षडरे (छह अरों या तीलियों वालों) का उल्लेख

1. छा०उप०, 5.10.5
2. ऋ०, 1.164.12
3. फिलासॉफी आफ दि उपनिषद्स, पृ० 338
4. ऋ०, 1.164.12

ऋग्वेद[1] में हुआ है तो यह 6 महीनों का द्योतक हो सकता है।

कौषीतकी उपनिषद्[2] ने देवयान एवं पितृयान का उल्लेख तो किया है किन्तु कीड़ों-मकोड़ों, पक्षियों, आदि के तीसरे स्थल का नहीं, प्रत्युत ऐसा कहा है कि कीड़े-मकोड़े आदि उसी मार्ग से लौटते हैं जिस मार्ग से मनुष्य। बृहदारण्यकोपनिषद् एवं छान्दोग्योपनिषद् ने चन्द्रलोक को ऐसा स्थल माना है जहाँ से दो मार्ग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, किन्तु कौषीतकी उपनिषद् ने अपने उल्लेख में देवयान के मार्ग के विश्राम-स्थलों (स्टेशनों) को पितृयान-मार्ग के प्रतिलोमों के रूप में रख दिया है। कौषीतकी उपनिषद् ने चन्द्र तक के सभी आरम्भिक विश्राम-स्थलों को छोड़ दिया है और सभा पुनर्जन्म लेते हुए जीवों का चन्द्र तक जानां कहा है। अन्य अन्तर भी हैं, जिन्हें हम यहाँ नहीं दे रहे हैं।

ड्यूशन महोदय[3] ने लिखा है कि ऋग्वेद[4] में उल्लिखित दो मार्ग दिन एवं रात्रि के द्योतक हैं, किन्तु बात वास्तव में ऐसी नहीं है। पितृयान मार्ग का उल्लेख ऋग्वेद[5] में हुआ है (अग्नि पितृयान मार्ग को भली जानती है) और भी "हे मृत्यु अन्य मार्ग से जाओ, जो तुम्हारा है और देवयान से भिन्न है।"[6] ये दोनों मन्त्र स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेदीय ऋषियों को देवयान एवं पितृयान के मार्गों का ज्ञान अवश्य था। अत: ऋग्वेद[7] में वर्णित दोनों मार्ग देवयान एवं पितृयान हैं न कि दिन एवं रात्रि जैसा कि ड्यूशन महोदय ने लिखा है। देवयान कभी-कभी ऋग्वेद में बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।[8] ऋग्वेद[9] में ऐसा आया है कि यम ने ऋषि के पूर्व पुरुषों के साथ आहुतियों का आनन्द लिया और ऋग्वेद[10] में यम से प्रार्थना की गयी है कि वे सदाचारी एवं तपस्वी पितरों में सम्मिलित हो जायें। शतपथ ब्राह्मण[11] में आया है कि पितरों का द्वार दक्षिण में है और देवों एवं मनुष्यों का उत्तर में।[12] अथर्ववेद[13] ने देवयान एवं पितृयान मार्गों का उल्लेख किया है।

---

1. ऋ०, 1.164.12.
2. कौ०उप०, 1.2.3
3. फिलासॉफी आफ दि उपनिषद्स, पृ० 318
4. ऋग्वेद, 10.88.15
5. वही, 10.2.7
6. वही, 10.18.1
7. वही, 10.88.15
8. शत०ब्रा०, 12.8.1.21; 1.9.3.1-2
9. ऋग्वेद, 3.58.5; 7.38.8; 7..76.2; 10.51.5; 10.98.11
10. वही, 1.154.4
11. शत०ब्रा०, 13.8.1.5
12. वही, 1.2.5.17; 12.4.2.15
13. अथर्व०, 15.12..5

कौषीतकी उपनिषद् ने आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु को चित्र गार्ग्यायणि द्वारा पढ़ायी गयी पंचाग्निविद्या के भाग के रूप में दो भागों के सिद्धान्त को निगूढ़ ढंग से व्यक्त किया है। हम इसे स्थानाभाव से यहीं छोड़ते हैं, केवल एक उक्ति को महत्त्वपूर्ण समझकर उद्धृत कर रहे हैं, उसने कहा कि वे सभी जो यहाँ से प्रस्थान करते हैं, चन्द्र को जाते हैं, शुक्ल पक्ष (पूर्व पक्ष) उनके प्राणों से आप्यायित हो जाता (बढ़ जाता) है, शुक्ल कृष्ण पक्ष में चन्द्र उन्हें पुनः जन्म लेने के लिए भेज देता है। सच है, चन्द्र ही स्वर्गिक लोक का द्वार है। यदि कोई चन्द्र को नहीं अपनाता है (अर्थात् यहाँ के जीवन से असन्तुष्ट है) चन्द्र उसे मुक्त कर देता है। किन्तु यदि कोई असन्तुष्ट नहीं है तो चन्द्र उसे वर्षा के रूप में यहाँ भेज देता है और अपने कर्मों एवं ज्ञान के अनुसार वह यहाँ पुनः कीट, पतंग, पक्षी, व्याघ्र, सिंह या मछली या सर्प या मनुष्य या किसी अन्य के रूप में विभिन्न स्थानों में जन्म लेता है। पुनः सत्कर्मों एवं दुष्कर्मों से मुक्त होकर वह जो ब्रह्मविद् है, केवल ब्रह्म की ओर बढ़ता है।''

कठोपनिषद्[1] में नचिकेता को यम ने ब्रह्मविद्या का रहस्य बताया है और यह भी बताया है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा का क्या हो जाता है—कुछ लोग दैहिक अस्तित्व के लिए माता के गर्भाशय में चले जाते हैं और अन्य लोग अपने कर्मों एवं विद्या के अनुसार वृक्षों की थून्हियों (स्थाणुओं) में परिवर्तित हो जाते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद्[2] एवं छान्दोग्योपनिषद्[3] आदि में देवयान एवं पितृयान मार्गों से जाने वाले लोगों का उल्लेख है। सर्वप्रथम हम बृह० उपनिषद् को उद्धृत करते हैं— ऐसे लोग जो (गृहस्थ भी) इसे पंचाग्निविद्या जानते हैं और वे लोग जो (आश्रमवासी एवं संन्यासी) वन में श्रद्धा के साथ सत्य (ब्रह्म या हिरण्यगर्भ) की उपासना करते हैं अर्चि (प्रकाश) को जाते हैं। अर्चि से दिन (अहन्) को, दिन से पूर्ण होते हुए पक्ष (शुक्ल पक्ष) को, आपूर्वमाणपक्ष (पूर्ण होते हुए पक्ष) से सह मासों में जाते हैं, जिस अवधि में सूर्य उत्तर में गतिशील हो जाता है। उन छह मासों से देवलोक में जाते हैं, देवलोक से सूर्य को जाते हैं और सूर्य से विद्युत को जाते हैं। जब वे विद्युत के स्थल को पहुँच जाते हैं तो ब्रह्मा के (मन से उत्पन्न पुरुष उनके पास आता है और उन्हें ब्रह्मा के लोकों को ले जाता है) इन लोकों में उच्च पद प्राप्त करके वे युगों तक रहते हैं और उनके लिए (इस संसार में पुनः) लौटना नहीं होता। किन्तु वे लोग जो यज्ञ, दान, एवं तप द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं, धूम (मार्ग) को जाते हैं। धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से सह मासों को जाते हैं, जिनके सूर्य दक्षिणायन होता है, इन मासों से पितरों के लोक में जाते हैं, पितृलोक से चन्द्रलोक को जाते हैं और चन्द्र तक पहुँच जाने पर वे अन्न हो जाते हैं और तब देवगण उन्हें उसी प्रकार खाते हैं जिस प्रकार यज्ञ करने वाला राजा

1. कठो०, 5.6.7
2. बृह०उप०, 6.2.15-16
3. छा०उप०, 5.3.10

सोम को खाते हैं। यह यज्ञ के अनुसार बढ़ता या घटता है। किन्तु जब यह (पृथिवी पर किये गये कर्मों का फल) समाप्त हो जाता है वे आकाश को लौट आते हैं, आकाश से वायु, वायु से वर्षा और वर्षा से पृथिवी पर चले आते हैं, पृथिवी पर पहुँचने पर वे अन्न (भोजन) हो जाते हैं। तब वे पुन: अग्नि में, जो मनुष्य कहलाती है, डाले जाते हैं। इससे (अर्थात् मनुष्य से) वे अग्नि में जो नारी कहलाती है, जन्म लेते हैं। ये लोग लोकों की प्राप्ति के लिए (यज्ञ आदि द्वारा) उद्योग करते हुए इस लोक में बार-बार आते हैं। वे लोग, जो इन दोनों मार्गों से अपरिचित हैं, कीटों, पतंगों, पक्षियों एवं मक्खियों के रूप में जन्म लेते हैं।"

छान्दोग्योपनिषद्[1] में बृहदारण्यकोपनिषद्[2] के ही शब्द अधिकांश में आते हैं। कहीं-कहीं कुछ अन्तर पाया जाता है। स्थानाभाव से यहाँ अन्तरों पर प्रकाश नहीं डाला जा रहा है। भविष्य जीवन को रूप देने वाले आचरणों से सम्बन्धित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचनों में एक है छान्दोग्योपनिषद्[3]—"जिनके आचरण रमणीय रहे हैं वे शीघ्र ही रमणीय योनि प्राप्त करेंगे, यथा—ब्राह्मण योनि या क्षत्रिय योनि या वैश्ययोनि। किन्तु जिनके आचरण कपूय (बुरे) रहे हैं वे शीघ्र ही कपूय योनि प्राप्त करेंगे, यथा श्वयोनि, सूकरयोनि या चाण्डालयोनि। जो इन क्षेत्रों में किसी मार्ग का अनुसरण नहीं करते वे ऐसे क्षुद्र जीव बनते हैं, जो सतत लौटते आ रहे हैं और उनके भाग्य (नियति) को हम यों कह सकते हैं—"जीना एवं मरना"। उनका तीसरा स्थल है (उन दोनों मार्गों से भिन्न)। अत: सामने का लोक पूर्ण नहीं होता। अत: इस संसार से जुगुप्सा उत्पन्न होती है।

यह द्रष्टव्य है कि भगवद्गीता[4] ने भी दो मार्गों का उल्लेख किया है, जिनमें एक वह है जिसके द्वारा जाने से योगी इस लोक में लौटकर नहीं आता और दूसरा वह है जिसके द्वारा जाने पर उसे पुन: यहाँ लौट आना पड़ता है। इन्हें शुक्ल एवं कृष्ण गति तथा सृति[5] कहा गया है। प्रथम है अग्नि, प्रकाश (ज्योति) दिन, मास का शुक्ल पक्ष एवं सूर्य का उत्तरायण मार्ग, वे लोग, जिन्होंने ब्रह्म की अनुभूति कर ली है, इस लोक से जाते समय ब्रह्मलोक की यात्रा करते हैं। दूसरा मार्ग है धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, सूर्य के 6 मासों का दक्षिणायन मार्ग, योगी उस मार्ग से चन्द्र-प्रकाश को प्राप्त कर पुन: इस लोक में लौट आता है।

---

1. छा०उप०, 5.10.1-21
2. बृह०उप०, 6.2.15
3. छा०उप०, 5.10.7-8
4. भगवद्गीता, 8.23-27
5. कृष्ण गति, 8.26; सृति, 8.27

शान्तिपर्व[1] चित्रशाला संस्करण ने उत्तरायण एवं दक्षिणायन मार्गों का उल्लेख किया है, जिसमें दूसरे की उपलब्धि दोनों वेदाध्ययन एवं यज्ञों से होती है।[2] याज्ञवल्क्य[3] ने भी इन मार्गों की ओर इंगित किया है।[4]

वेदान्त सूत्र ने बहुधा पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर संकेत किया है, किन्तु स्थानाभाव से हम सभी बातों का उल्लेख नहीं कर सकते। थोड़े ही सूत्रों की व्याख्या यहाँ उपस्थित की गई है। वेदान्त सूत्र के तीन सूत्र[5] पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विषय में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। विरोधी कहता है—यह कहना कि ईश्वर संसार का कारण है, युक्तिसंगत नहीं जँचता, क्योंकि यदि ऐसा है तो ईश्वर पर व्यवहार-वैषम्य एवं अत्याचार का अभियोग लग जायेगा। वे कुछ ऐसे लोगों को उत्पन्न करते हैं जो (देवों आदि की भाँति) अत्यन्त आनन्द का उपभोग करते हैं। कुछ ऐसे लोगों को उत्पन्न करते हैं जो (भारवाही पशुओं की भाँति) अत्यन्त क्लेशयुक्त जीवन बिताते हैं तथा कुछ ऐसे लोगों को उत्पन्न करते हैं जो बीच की स्थिति प्राप्त करते हैं अर्थात् आनन्द का अल्पांश मात्र पाते हैं। अत: ईश्वर पर ऐसा अभियोग लगाया जा सकता है कि वे द्वेष एवं प्रेम की भावनाओं से (सामान्य लोगों की भाँति) परिपूर्ण है। ईश्वर भी क्लेश उत्पन्न करता है और अन्त में सब को नष्ट कर देता है। इस प्रकार का बड़ा अत्याचार दुष्ट लोगों की दृष्टि में भी घृणास्पद है। इस पर उत्तर यों है—"यदि ईश्वर ने संसार में वैषम्य की रचना केवल अपने मन से की होती तथा किसी अन्य बात पर विचार न किया होता तो निस्सन्देह उन पर असमान व्यवहार एवं अत्याचार के दो अभियोग लगाये जाते। किन्तु ईश्वर ने सदाचार नामक वृत्ति को भी दृष्टि में रखा है। ईश्वर की स्थिति को हम वर्षा की स्थिति से तुलना करके देखें। वर्षा समान रूप से खेत पर होती है, किन्तु अंकुर समान रूप से नहीं निकलते, कोई छोटा होता है, कोई बड़ा, उत्तर होता है, कोई निकृष्ट, यह सब बीज की विशेषता पर निर्भर होता है। ईश्वर पशुओं, मनुष्यों एवं देवों की रचना का एक मात्र कारण है, जो विषमता दृष्टिगोचर हो रही है वह है विभिन्न जीवों की अपनी-अपनी विशिष्ट वृत्तियाँ एवं शक्तियाँ।"

कर्म एवं पुनर्जन्म के विषय में अति प्राचीन काल से ही लोगों का मन प्रभावित था। आपस्तम्बधर्मसूत्र[6] में आया है—"विभिन्न वर्णों के लोग अपने व्यवस्थित कर्तव्यों के सम्पादन से सर्वोच्च एवं अपरिमित सुख का भोग करते हैं (स्वर्ग में सुख भोगने के

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 26.8.10
2. बृ०उप०, 6.2.16; छा०उप०, 5.10.8
3. याज्ञ०, 3.197.
4. याज्ञ०, 3.195-196
5. वैषम्यवैर्धषये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति। न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्। उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च। —वे०सू०, 2.1.34-36
6. आप०ध०सू०., 2.1.2.2-3, 5-6

उपरान्त) कर्मफल शेष होने के कारण वे लौट आते हैं और यथोचित जाति (या कुल) रूप, वर्ण, बल, बुद्धि, प्रज्ञा, सम्पत्ति के साथ जन्म लेते हैं, (धर्मानुष्ठान) कर्तव्य पालन का लाभ उठाते हैं और यह सब आनन्द में परिणत होता है जो चक्र के समान दोनों लोकों में होता है। यही नियम दुष्कृत्य करने पर भी लागू होता है। सोने का चोर एवं ब्रह्म-हत्यारा अपनी जाति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के अनुसार कुल अवधि तक नरक की यातनाएँ सहकर क्रम से चाण्डाल, पौल्कस या वैण बनता है (का जन्म पाता है)। यही बात गौतमधर्मसूत्र[1] में भी आयी है।

कर्म का सिद्धान्त यह बताता है कि प्रत्येक अच्छा या बुरा कर्म विशिष्ट प्रकार का परिणाम उपस्थित करता है जिससे कोई बच नहीं सकता। इस भौतिक संसार में कार्य-कारण का एक सार्वभौम नियम है। कर्म का सिद्धांत इस नियम को मानसिक एवं नैतिक धरातल पर भी ला देता है। कर्म का सिद्धान्त कोई यांत्रिक कानून नहीं है, यह एक प्रकार से नैतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं है, किन्तु इसे केवल काल्पनिक कहकर ही हम नहीं त्याग सकते। यदि कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त न होता तो हम इस लोक को अनियन्त्रित मानते और यह समझते कि स्रष्टा लोगों के कर्मों की चिन्ता नहीं करता है और मनमाने ढंग से लोगों को पुरस्कार आदि देता है। वास्तव में कर्म-सिद्धान्त तीन बातों पर बल देता है—(1) यह वर्तमान अस्तित्व को अतीत अस्तित्व अथवा अस्तित्वों में किये गये कर्मों का फल मानता है, एक प्रकार का प्रायश्चित मानता है, (2) बुरे कर्म का नाश सत्कर्म से नहीं हो सकता, दुष्कर्मों का भोग तो भोगना ही है, (3) दुष्कर्म के लिए जो दण्ड होता है वह व्यक्तिगत एवं स्वयं होने वाला होता है। यहाँ पर संयोग एवं भाग्य की बात ही नहीं उठती।

कर्म सिद्धान्त से ही हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। एक व्यक्ति के कर्मों के फल अचानक या वर्तमान जीवन में नहीं भी घटित हो सकते। आदिपर्व एवं मनु में आया है—दुष्कर्म अपना फल गौ (जो खा लेने के पश्चात् ही पर्याप्त दूध दे देती है) के समान तुरन्त ही नहीं उपस्थित कर देता, किन्तु धीरे-धीरे वह अपने कर्ता की जड़ को ही कुतर डालता है।[2] अतीत अस्तित्वों में किये गये कर्म वर्तमान अस्तित्व के रूप को निर्धारित एवं निश्चित करते हैं और वर्तमान अस्तित्व के कर्म एवं पूर्व जन्मों (अस्तित्वों) के शेष कर्मों के साथ भावी अस्तित्व का रूप निर्धारित करते हैं। यही संक्षेप में, पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आधार है। इसमें जो परिवर्तन हुए हैं, उनसे सम्बन्धित वचनों, उक्तियों एवं प्रचलित दृष्टिकोणों पर विचार किया गया है। भौतिक शरीर की

---

1. **गौ०ध०सू०, 11.29.30**
2. **नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।**
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।। **—आदिपर्व, 80.2; मनु० 4.172**

मृत्यु के उपरान्त क्या होता है, इस विषय में जितने अनुमान हैं उनमें ही पुनर्जन्म का भी सिद्धान्त है जो अन्य अनुमानों के समान ही तार्किक हैं। सम्पूर्ण नाश वाले सिद्धान्त के अनुमान से (जो अनस्तित्ववादियों द्वारा घोषित हैं) तो यह अधिक सन्तोषजनक है। इतना ही नहीं, स्वर्ग या नरक में कर्मों के प्रतिकार के रूप में अनन्त काल तक रहने वाले सिद्धान्त से भी यह सिद्धान्त अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषजनक है। अधिकांश धर्मों के नेता एवं प्रवर्तक लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि ईश्वर उनके साथ है और उन्होंने 19वीं शती तक अपने धर्मों के बाहर कोई भला (व्यक्ति या घटना) नहीं देखा है। उपनिषदों एवं गीता का हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म एवं दर्शन है जिसने सहस्रों वर्ष पहले ऐसा उद्घोष किया कि सत्कर्मों वाला व्यक्ति ही भगवान् के अत्यधिक सन्निकट है और दुष्कर्मों वाला व्यक्ति भगवान् के अनुग्रह एवं संग को नहीं पा सकता।

वेदान्तसूत्र[1] 1 ने छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् में पाये जाने वाले पंचाग्निविद्या सम्बन्धी वचनों की जाँच की है। शंकर के भाष्य में पाये जाने वाले विशद् विवेचन को यहाँ उपस्थित करना सम्भव नहीं है, अतः कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तिम निष्कर्ष ही यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं—यह आत्मा (व्यक्ति की आत्मा) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती हुई सूक्ष्म तत्त्वों (भूतसूक्ष्म) के साथ अथवा उनसे घिरा हुआ चलता है, छान्दोग्योपनिषद्[2] में उल्लिखित आहुतियों की चर्चा 'आप' के रूप में हुई, क्योंकि मानव-शरीर अन्नरस, रक्त आदि के रूप में द्रव पदार्थों से परिपूर्ण है, क्योंकि अग्निहोत्र आदि पवित्र कृत्य मृत्यु के उपरान्त नये शरीर के कारण बनते हैं और उन कृत्यों में जो मुख्य पदार्थ (यथा—सोम रस, घृत, दुग्ध) प्रयुक्त होते हैं वे सभी मुख्यतः द्रव ही हैं। उस उक्ति या वक्तव्य में कि "जो यज्ञादि करते हैं वे पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक जाते हैं और श्राद्ध एक हव्य के रूप में अर्पित होता है जिसमें से सोम जो देवों का भोजन है, निकलता है", देवों का भोजन नामक शब्द लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, न कि साक्षात् भोजन करने के अर्थ में। यज्ञ, जन कल्याण, कर्म, दान आदि करने वालों की आत्मा चन्द्र के पास पहुँचने एवं सत्कर्मों के फलों (जो चन्द्र में अर्थात् चन्द्रलोक में ही भोगे जा सकते हैं) को भोगने के उपरान्त उसी मार्ग से लौटता है, जिस मार्ग से गया था, किन्तु विश्राम-स्थल यहाँ उलटे पड़ जाते हैं, जिससे कर्मों के फल, जो केवल इस पृथिवी पर ही भोगे जा सकते हैं, भोगे जा सकें।[3] इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत दो बातें हैं—(1) इस जीवन से

---

1. वे०सू०, 3.1
2. छा०उप०, 5.9.1
3. कृतात्ययेऽनुशायवान दृष्टस्मृतिभ्या यथेतमनेवं च। :(वे०सू० 3.1.8) शंकराचार्य ने "अनुशय" शब्द का अर्थ बताया है—"आमुष्मिकफले कर्मजातेउपभुक्ते ऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति।" 'अनुशय' का यहाँ पर अर्थ है "अवशेष, बचा हुआ"। देखिए मेघदूत 30, स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां शेषै पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्, यह वेदान्त सूत्र 3.1.8 के सिद्धान्त पर आधृत एक बहुत ही सुन्दर उत्प्रेक्षा है।

ऊपर एक जीवन (जिसकी ओर ऋग्वेद में बहुधा निर्देश मिलता है) तथा पुनर्जन्म। इतना ही नहीं, इस दृष्टिकोण से अच्छे कर्मों के फलस्वरूप दो परिणाम भी प्रकट होता है—स्वर्ग के भोग तथा पुनः भौतिक साधनों एवं सांस्कृतिक वातावरणों से युक्त पुनर्जन्म की स्थिति जैसा कि हम गौतमधर्मसूत्र[1] एवं गीता[2] में पाते हैं। इसी के साथ यह भी जान लेना है कि दुष्कर्मों के दो दण्ड हैं, नरक की यातनाएँ और उनके उपरान्त घृणित निम्न स्तर का जीवन।

वेदान्त सूत्र[3] ने आगे व्याख्या की है कि सभी मनुष्य चन्द्रलोक नहीं जाते, किन्तु केवल वे ही लोग जाते हैं, जो यज्ञ आदि करते हैं, जो लोग यज्ञों या जन-कल्याण के कार्यों को नहीं सम्पादित करते, वे दुष्कर्मों के दोषी हैं और नरक (जो वेदान्त सूत्र के मत से सात हैं) की यातनाओं को भोगने के लिए यमलोक जाते हैं और उसके उपरान्त इस पृथिवी पर लौट आते हैं। जो श्रद्धा एवं तप के मार्ग का अनुसरण करते हैं वे देवयान मार्ग[4] से जाते हैं और जो यज्ञ, दान एवं जन कल्याण के कर्मों का सम्पादन करते हैं, वे पितृयान मार्ग[5] से जाते हैं और जो इन दोनों में किसी भी मार्ग का अनुसरण नहीं करते वे तीसरे स्थल को जाते हैं और कीटों, पतंगों आदि के रूप में जन्म लेते हैं।[6] कौषीतकी उपनिषद्[7] के जैसे श्रुतिवचन में जो यह आया है कि जो यहाँ से प्रस्थान करते हैं वे सभी चन्द्रलोक जाते हैं, उसमें वे सभी शब्द उनके प्रयुक्त हैं जिन्हें चन्द्र के यहाँ जाने का अधिकार (योग्यता या समर्थता) है।

एक शब्द है 'संसार' जो वेदान्त एवं धर्मशास्त्र सम्बन्धी पश्चात्कालीन ग्रंथों में बहुधा किन्तु उपनिषदों में बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है "जन्मों एवं मृत्युओं के चक्र में आना-जाना"। कठोपनिषद्[8] में आया है—"जो व्यक्ति अविज्ञानवान् (बिना समझ का) है, अमनस्क (मन को संयमित नहीं रखता) है, जो सदा अशुचि (अशुद्ध या अपवित्र) है, उसे वह सर्वोच्च पद नहीं प्राप्त होता और संसार (जन्म और मरण) में आता-जाता (गुजरता) है।[9]

---

1. गौ०ध०सू०, 21.29
2. गीता०, 6.37-45
3. वे०सू०, 3.1.13-17
4. छा०उप०, 5.10.1; मु०उप०, 1.2.11
5. वही, 5.10.3; वही, 1.2.10
6. छा०उप०. 5.10.8
7. कौ०उप०, 1.2
8. कठ०उप०, 3.7
9. यस्त्वविज्ञानवान्मवत्यमनस्क सदा शुचि। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति। (कठ० उप० 3.7), "तत्पदं" का संकेत कठो० 2.15.16 की ओर है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में आया है—"स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालोगुणी सर्वविद्यः। प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्ध हितुः। 6.16.

श्वेताश्वतरोपनिषद्[1] ने परमात्मा के विषय में यों लिखा है—"वह विश्व की रचना करने वाला, विश्व को जानने वाला, आत्मयोनि (स्वयं जन्म लेने वाला), ज्ञाता, कालकाल (काल को नष्ट करने वाला), सभी गुणों से युक्त सर्वविद्य (सर्वज्ञ) प्रधान तथा क्षेत्रज्ञों (व्यक्तिगत आत्माओं) एवं गुणों (सत्व, रज, तम) का स्वामी है और संसार से मोक्ष देने, उसकी स्थिति एवं बन्धन का हेतु (कारण) है। "मंत्रायणी उपनिषद्[2] का कथन है—"जब संसार का ऐसा स्वरूप है तो (आनन्द के) भोग से क्या लाभ? मुक्तिकोपनिषद्[3] का कथन है—"मन संसार रूपी वृक्ष की जड़ के रूप में अवस्थित है। 'संसार' शब्द वेदान्त सूत्र[4] में भी आया है। गीता ने इसका प्रयोग कई बार किया है।[5] मनुस्मृति ने भी 'संसार' शब्द का प्रयोग कई बार किया है।[6] सत्, रज, तम नामक तीन गुणों के विशेषताओं का वर्णन करने[7] तथा उनके प्रभावों पर प्रकाश डालने[8] के उपरान्त मनु ने कहा है कि जिसमें सत्व, रज एवं तम की प्रधानता होती है वे क्रम से देव, मानव एवं निम्न श्रेणी के जीव होते हैं। मनु ने पुनः लोगों को नीच, मध्यम एवं उत्तम श्रेणियों में बाँटा है।[9] मनु ने 'संसार' को बहुवचन में[10] तथा 'गति' या 'योनि' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। विशेष रूप से मनु[11] जहाँ संसार का उल्लेख है, संन्यास धर्म की चर्चा है, नरक यातनाओं, रोगों, व्याधियों आदि का वर्णन है। श्री संजन महोदय ने अपने ग्रन्थ[12] में कहा है कि मनु के अनुसार प्रत्येक जीव दस सहस्र लक्षों की संख्या में अस्तित्व ग्रहण करता है। किन्तु यह उक्ति पूर्णतया भ्रामक एवं त्रुटिपूर्ण है। मनु का इतना ही कहना है कि मोक्ष के लिए इच्छुक संन्यासी को इस संभावना पर सोचना चाहिए कि कुछ आत्मा लाखों जन्मों में परिभ्रमण कर सकते हैं। याज्ञ[13] ने जन्मों घेरे में आने-जाने के अर्थ में 'संसरति' क्रिया का प्रयोग किया है और कहा है—"कुछ लोगों द्वारा किये गये कर्मों का विपाक मृत्यु के उपरान्त ही उत्पन्न होता है। अर्थात् अन्य शरीरों में (या इसी जीवन में होता है) यथा शरीरी यज्ञ के विषय में तथा कुछ लोगों के विषय में इस लोक में या

1. श्वे०उप०, 6.16
2. मंत्रा०उप०, 1.4
3. मु०उप०, 2.37
4. वे०सू०, 4.2.8
5. गीता, 9.3, 12.7 आदि
6. मनु०, 1.117 तथा कई बार 12वें अध्याय में
7. मनु०, 12.26-29
8. वही, 12.30.38
9. मनु०, 12.40-50
10. वही, 12.52.54,70
11. वही, 6.40-60
12. डोंग्मा आव रीइन्कारनेशन, पृ० 10
13. याज्ञ०, 3.169

परलोक में अर्थात् यह कोई शास्त्रीय नियम नहीं है कि कर्मों का विपाक या फल उनके सम्पादन के उपरान्त शीघ्र ही प्रतिफलित हो जाता है। याज्ञ[1] में एक सुन्दर रूपक आया है—"जिस प्रकार एक अभिनेता विभिन्न अभिनय करने के लिए विभिन्न रूपों (छोटा, कुबड़ा, आदि) एवं शरीरों को धारण करता है।[2] याज्ञ०[3] में स्वयं 'संसार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शान्तिपर्व[4] चित्रशाला संस्करण में आया है—"इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस जीवन में सुख से कहीं अधिक दुःख है।" पुराण बहुधा कहते हैं कि संसार अनित्य है, दुःखों एवं चिन्ताओं से परिपूर्ण है और केला के पातों के समान क्षणभंगुर (अर्थात् शीघ्र ही झकोरों से फट कर जीर्ण-शीर्ण हो जाने वाला है)। देखिए ब्रह्मपुराण।[5] इस अत्यधिक कर्मवादी सिद्धान्त के कारण आगे चलकर भारतीय जीवन में भाग्यवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित होने लगा और बहुत से लोग प्रभारी, आलसी एवं कर्मजरू सिद्ध होने लगे। स्वयं सन्तों ने कर्म के सिद्धान्त को बहुत बढ़ावा दिया। सन्त तुकाराम का कथन है कि सुख तो राई के समान है और दुःख पहाड़ है।

उपनिषदों में आत्मा के पुनर्जन्म-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन प्रामाणिक हैं और वे संसारावस्था या व्यवहारावस्था से सम्बन्धित हैं, किन्तु अद्वैत[6] के सर्वोच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह धराशायी हो जाता है, क्योंकि आत्मा परब्रह्म से अभिन्न है। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र[7] की व्याख्या में इस बात पर बल दिया है। उनका कथन है[8] जब तक यह आत्मा संसारी है और जब तक यह सम्यक् दर्शन से (पूर्णज्ञान से) सांसारिकता से दूर नहीं होता तब तक आत्मा एवं बुद्धि के सम्बन्ध (संयोग) नहीं

1. याज्ञ०, 3.133,162
2. विपाकः कर्मणां प्रेत्य कंषांचिदिह जायते। इह वामुत्र वैकेषां भावस्तत्र प्रयोजनम्।। यथा हि भरतो वर्णैवर्णयात्यात्मनस्तनुम्। नानारूपाणि कुर्वाणारस्तनः॥ याज्ञ०, 3.133.162। 'नानारूपाणि कुर्वाणः' से भरत का अर्थ है अभिनेता।
3. याज्ञ०, 3.140
4. शान्तिपर्व, 205.6; 198.11-12
5. संसारे ....अनित्ये दुःखबहुले कदलीदलसंनिभे —ब्रह्मपुराण, 178.179
6. मु०उप०, 2.1.5-6 की परा विद्या या बृ०उप०, 2.3.5-6 के अमूर्तब्रह्म।
7. यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्। (वे०सू० 2.3.30), यावदयमात्मा संसारी भवति यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते तावदस्य बुद्ध्या संयोगा न शाम्यति। यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च परमार्थस्तुस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति। नान्योतोस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता, (ब० 3.7.23), नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट् श्रोतृ भन्तृ विज्ञातृ (छा०, 6.8.7), तत्त्वमसि (छा०, 6.1.6) अहं ब्रह्मास्मि इत्यादिश्रुतिश्तेभ्यः।......अपि च मिथ्याज्ञानपुरः सरो यमात्मनो बुद्धमात्मातानव—इसी प्रकार वे०सू०, 1.1.5 पर शांकरभाष्य का कथन है—"सत्यं, नेश्वरादन्यः संसारी, तथापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्ध इष्यत एवं, घटकरकगिरिगुहाद्यूपाधि सम्बन्ध हव व्योम्नः।
8. बृह०उप०, 1.47., 3.7.23

टूट सकता। जब तक बुद्धि के साथ, आत्मा का यह सम्बन्ध चलता रहता है तब तक जीव सांसारिकता से लिप्त बना रहता है। किन्तु सत्य तो यह है कि जीव की स्वयं अपनी कोई सत्ता नहीं है, जो है वह केवल बुद्धि की उपाधि से परिकल्पित सम्बन्ध मात्र है। क्योंकि जब हम वेदान्त के अर्थ के निरूपण में लगते हैं तो हमें उस सर्वत्र ईश्वर के अतिरिक्त, जिसका स्वरूप ही नित्य मुक्ति (स्वतन्त्रता) है, कोई अन्य बुद्धिमान् धातु (द्रव्य या पदार्थ) दृष्टिगोचर नहीं होती।'' इसके उपरान्त शंकराचार्य ने कुछ वचन उद्धृत किये हैं।[1] और कहा है कि इस प्रकार के सैकड़ों वचन हैं। शंकराचार्य का कथन है कि स्वयं बादरायण ने, जो वेदान्तसूत्र के प्रणेता हैं, सर्वोच्च वेदान्तवादी दृष्टिकोण से तथा व्यवहारावस्था (या संसारावस्था) के दृष्टिकोण से कुछ सूत्रों की रचना की है। निम्नोक्त सूत्रों में वेदान्तसूत्रकार बादरायण ने जीव एवं परमात्मा में अन्तर स्पष्ट किया है।[2] किन्तु कुछ सूत्रों[3] में व्यक्त करते हैं कि दोनों (जीवात्मा एवं परमात्मा) में अभिन्नता है।[4]

पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक जीवन पूर्व अस्तित्व या अस्तित्वों (जीवनों) के कर्मों का परिणाम या प्रतिफल है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम अतीत की ओर बढ़ें और बहुत दूर तक निकल जायें तो कोई अस्तित्व या जन्म प्रथम नहीं हो सकता। इसी से वेदान्तसूत्र को यह घोषणा करनी पड़ी कि संसार अनादि (आरम्भहीन) है।[5] किन्तु यह उपनिषदों के कई वचनों के विरुद्ध पड़ जाता है, जो सृष्टि के विषय में उल्लेख करते हुए 'पूर्वे' या 'अग्रे' या 'आरम्भ में' नामक शब्दों का प्रयोग करता है।[6] इस विरोध को दूर करने के लिए कल्पों की धारणा के अनुसार प्रलय के उपरान्त बार-बार विश्व की रचना की धारणा उपस्थित की गयी।[7] जिसका अर्थ यह है कि ब्रह्मा द्वारा रचित विश्व एक कल्प तक चलता है, जिसके उपरान्त वह ब्रह्म में

1. छा०उप०, 6.1.6.; 6.8.7
2. वेदान्तसूत्रकार, 1.1.16-17; 1.1.21; 1.2.20; 1.3.5; 2.1.21-23; 2.3.21; 2.3.41; 2.3.43 आदि।
3. वही, 1.1.33; 2.1.14; 4.13
4. तदनन्यत्वभारम्भशब्दादिभ्यः। (वे०सू०, 2.1.14), सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदननन्य त्वमित्याह व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकव दिति महासमुद्र स्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति। अप्रत्याख्यायैव कार्य प्रपंचपरिणामप्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपासननेषूपयोक्ष्यत इति। शांकरभाष्य ने अन्त में लिखा है वे० सू० 2.1.13 में आया है।—भोक्त्रापत्तेर-विभागश्चेत्स्याल्लोकवत्।
5. न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्, वेदान्तसूत्र, 2.1.35
6. छा०उप०, 6.2.1; बृह०उप०, 1.4.1.10; 5.5.1; तै०उप०, 2.7.1
7. ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र महायुगों के बराबर होता है और इसे ही कल्प कहा जाता है। कल्प. मन्वन्तर. महायुग एवं युग के लिए है। प्राचीन उपनिषदों ने कल्प आदि क सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की है।

विलीन हो जाता है।[1] गीता[2] में आया है कि ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र युगों के बराबर होता है। चार युगों का एक महायुग होता है और ब्रह्मा की रात्रि की अवधि भी इतनी ही लम्बी है। ब्रह्मा के दिन के आगमन पर प्रकृति से सभी पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं और रात्रि के आगमन पर वे सभी प्रकृति में समा जाते हैं।[3] कल्प के अन्त में सभी तत्त्व (जीव) उस प्रकृति में, जिसका मैं अधिष्ठाता हूँ, चले जाते हैं, किन्तु जब दूसरा कल्प आरम्भ होता है, मैं उन्हें प्रकट कर देता हूँ।''

तर्क यह है—जिस प्रकार हम यह नहीं निश्चित कर सकते कि पहले कौन हुआ? बीज या अंकुरित होने वाला ओषधि पौधा। उसी प्रकार यह कहना असम्भव है कि पहले कौन आता है, शरीर या कर्म, क्योंकि बिना कर्म के कोई शरीर नहीं और न बिना शरीर के कोई कर्म। छान्दोग्योपनिषद्[4] में आया है—उस प्राणी (देवता) ने जिसने अग्नि, जल एवं पृथिवी की उत्पत्ति का, सोचा इस जीवात्मा के साथ मैं इन तीनों जीवों (अग्नि, जल एवं पृथिवी) में प्रवेश करूँगा और तब नामों एवं रूपों को विकसित करूँगा। इससे प्रकट होता है कि सृष्टि के समय जीव (आत्मा) का अस्तित्व था, जिससे यह संकेत मिलता है कि संसार आरम्भहीन (अनादि) है। ऋग्वेद[5] ने स्पष्ट कहा है कि ''धाता यथापूर्वमकल्पयत्'' अर्थात् विधाता ने पहले की भांति व्यवस्थित किया (या रचा)। इसी प्रकार गीता[6] में आया है—''इस संसार के वृक्ष का वास्तविक रूप इस प्रकार नहीं जाना जाता और न इसका अन्त, न आदि और न आधार ही जाना जाता है, शक्तिशाली अनासक्ति से दृढ़ता से जड़ीभूत इस अश्वत्थ (पिप्पल) वृक्ष को काट कर उस स्थल की खोज की जानी चाहिए जिससे वे लोग जो वहाँ पहुँच गये हैं, नहीं लौटते।''

भगवद्गीता[7] ने दृढ़तापूर्वक कहा है कि योग के मार्ग में व्यक्ति द्वारा श्रद्धा से किया गया व्यवसाय व्यर्थ नहीं जाता, भले ही उसे पूर्णता शीघ्र प्राप्त न हो सके। श्रीकृष्ण ने कहा है कि ऐसा व्यक्ति जो पूर्णता प्राप्ति में असफल हो जाता है, किसी बुरे अन्त को नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत् वह सदाचारी लोगों के लोकों को जाता है और वहाँ पर बहुत वर्षों तक निवास करता है, समृद्ध एवं पवित्र लोगों के घरों में जन्म होता है या विज्ञ योगियों के कुल में जन्म लेता है जहाँ पर वह अपने अतीत अस्तित्वों के मानसिक चिह्नों को पुनः प्राप्त करता है। वह पूर्णता की प्राप्ति के लिए पुनः उद्योगशील होता है और

---

1. देखिए, शान्तिपर्व, 231.29-32; 224.28-31
2. गीता, 8.17-19
3. भगवद्गीता, 9.7
4. छा०उप०, 5.13.21
5. ऋ०, 10.190.3
6. गीता, 15.3
7. वही, 6.37-45

अपने पूर्व जीवनों में किये गये अभ्यासों के फलस्वरूप अनिवार्य रूप से आगे बढ़ता है और सभी पापों से मुक्त होकर एवं बहुत से जीवनों द्वारा अपने को पूर्ण करता हुआ परम तत्त्व को प्राप्त करता है। गीता[1] में श्रीकृष्ण कहते हैं—"मेरे बहुत से जीवन हैं, जो बीत चुके हैं और तुम्हारे भी। मैं उन सभी को जानता हूँ, किन्तु तुम नहीं जानते।" कई स्थलों पर गीता ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को संघर्ष स्वीकार किया है।[2]

वनपर्व के अध्याय 30-32 में द्रौपदी एवं युधिष्ठिर में एक वार्तालाप हुआ है। युधिष्ठिर ने कौरवों के साथ द्यूत खेलकर सारा राज्य खो दिया था और वन में बड़े कष्ट से जीवन-यापन कर रहे थे। द्रौपदी को इस बात का बड़ा आश्चर्य था कि युधिष्ठिर ऐसे सत्यवादी, उदार, ऋजु एवं मधुर व्यक्ति किस प्रकार द्यूत ऐसे निकृष्ट कार्य में संलग्न हुए और भगवान् सभी जीवों के साथ माता-पिता-सा समान व्यवहार नहीं करता। द्रौपदी को यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सदाचारी सम्मानित व्यक्ति दु:ख उठा रहे हैं और दुराचारी एवं असम्मानित लोग आनन्दपूर्वक जीवन-यापन कर रहे हैं। अत: उसने सोचा कि भगवान् सामान्य मनुष्य की भाँति शीघ्र-कोपी या चण्डस्वभाव वाले हैं। उसने कहा—मानव प्राणी भगवान् की इच्छा के आधार पर ही अबोध तथा सुख एवं दु:ख पर नियंन्त्रण रख सकने के कारण स्वर्ग या नरक में जाते हैं। इस पर युधिष्ठिर ने द्रौपदी को चेतावनी दी कि तुम नास्तिक लोगों की भाँति बातें कर रही हो। उन्होंने कहा कि मैंने कोई कर्म इसलिए नहीं किया कि उसका पुरस्कार मिले, मैंने दान दिये, यज्ञ किये, किन्तु इसलिए कि उन्हें सम्पादित करना अपना कर्तव्य माना। उन्होंने द्रौपदी से अनीश्वरवादी व्यवहार से दूर रहने को कहा और कहा कि वह अपनी भावनाओं से भगवान् का अनादर कर रही है। इस पर द्रौपदी की बुद्धि लौटी और उसने क्षमा याचना कर कहा कि दु:खित होने के कारण ही मैंने वैसी अनीश्वरवादी बात कही, वास्तव में, भगवान् का बहुत आदर एवं सम्मान करती हूँ। इसके उपरान्त द्रौपदी ने उस विषय पर विचार-विमर्श करना आरम्भ किया, जिसे लोग दिष्ट (भाग्य) या हठ (संयोग) या स्वभाव कहते हैं और अन्त में यही निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करता है वह पूर्व जन्मों के कर्मों का फल है।[3]

---

1. **गीता, 4.5**
2. **गीता, 2.12-13; 22-27; 4.8-9; 7.19; 8.6; 15-16; 9.21**
3. **तथैव हठदुर्बुद्धिः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत्। आसीत् न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः। अकस्मादिह यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पुरुषः। त हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नों न कस्यचित्॥ एवं हथाच्च दैवाच्च स्वभावात्कर्मणस्तथा। यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत्फलं पूर्वकर्मणाम्॥ वनपर्व, 32.15-16,20; नीलकण्ठ ने "हठवादिकः का अर्थ यों किया है —प्राग्जन्माभावादकृ स तमेवोपस्थास्यतीति वदन् चार्वाकः।**

यहाँ पर पुरुषकार (मानवीय उद्योग या व्यवसाय) तथा दैव पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में इस महाग्रन्थ में पर्याप्त विवरण है।[1]

अनुशासनपर्व के प्रथम अध्याय में गौतमी, उसके पुत्र की सर्प-दंश से मृत्यु आखेटक से गौतमी का वार्तालाप तथा काल की बातें वर्णित हैं, जो कर्म सिद्धान्त पर प्रकाश डालती हैं। गौतमी को चित्त-संयम प्राप्त था। उसके पुत्र को एक सर्प ने काट लिया और वह मर गया। एक शिकारी (आखेटक) ने उस सर्प को बाँधकर गौतमी के समक्ष रख दिया और कहा कि मैं उस सर्प को मार डालूँगा क्योंकि उसने एक अबोध बच्चे को काट लिया है। इस पर गौतमी ने उसे मना किया और समझाया कि सर्प को मार डालने से बच्चा लौट कर नहीं आ सकता। तब काल वहाँ आया और उसने व्याख्या उपस्थित की—"जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी के खण्ड से जो चाहता है उसे बनाता है उसी प्रकार मनुष्य अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल पाता है। बच्चे की मृत्यु के मूल में है उसके पूर्व जीवन के कर्मों के प्रतिफल।" इस बात को गौतमी ने माना और कहा कि उसका पुत्र अपने अतीत जीवन के कर्मों के कारण मरा और उसकी मृत्यु से उसे जो शोक प्राप्त हुआ है वह स्वयं उसके पूर्व जीवन के कर्मों का प्रतिफल है।[2]

कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से हिन्दू समाज पूर्णतया प्रभावित हो उठा। संस्कृत के महान् कवियों ने भी इस विषय में संकेत किये हैं। रघुवंश पुराण[3] में आया है कि जब राम वामन के आश्रम में पहुँचे तो वे मन से अस्थिर हो गये, वामन के रूप में अपने कर्मों का स्मरण नहीं कर सके। शाकुन्तल[4] में कवि ने टिप्पणी की है—"जब कोई व्यक्ति सुन्दर दृश्य देखकर, मधुर वचन सुनकर, आनन्दों से घिरे रहने पर भी अस्थिर (दु:खी) हो जाता है, तो वास्तव में बात यह है कि अचिन्त्य रूप से उसके मन में अतीत जीवनों के प्यार एवं मित्रता के चित्र खिंच आते हैं।" सातवें अंक में जब शकुन्तला एवं दुष्यन्त का पुनर्मिलन हो जाता है तो शकुन्तला अपने पति के पूर्वत्याग (या तिरस्कार) की ओर संकेत करती है—"अवश्य ही उस समय मेरे (पूर्व जीवन) दुष्कृत्यों ने सुकृत्यों को बाधित किया और वे स्वयं प्रतिफलित हुए।"[5]

---

1. गीता, मूल खण्ड 3, पृ० 168-170 एवं पाद टिप्पणी 214-16
2. यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति। एवमात्मकृत कर्म मानवः प्रतिपद्यते। नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम्। स्वकर्मभिरयं बालः कालेन निधनं गतः। मया च तत्कृतं कर्म येनायं मे मृतः सुतः यातु कालस्तथा मृत्युर्मुंचार्जुनक पन्नगम्। अनुशासनपर्व, 1.74,78-79
3. रघु०पु०, 11.22
4. शाकुन्तल, अंक 5
5. देखिए रघु०पु०, 14.62-66; मेघदूत, 30

कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर स्वभावतः बहुत से प्रश्न उठ खड़े होते हैं। एक प्रश्न को योगसूत्र[1] के भाष्यकार व्यास ने विवेचित किया है। योगसूत्र[2] में पाँच क्लेशों (अविद्या आदि) का उल्लेख है और ऐसा आया है कि ये क्लेश, जन्म, जीवन (लम्बा या छोटा) अनुभूति प्रकार के द्वारा कर्मों के विपाक की ओर ले जाते हैं अर्थात् कर्मों का फल उपस्थित करते हैं। योगसूत्र[3] के अनुसार कर्म के चार प्रकार हैं—यथा—(1) कृष्ण (दुष्ट लोगों में पाये जाने वाले), (2) शुक्लकृष्ण (जो बाह्य साधनों से किये जाते हैं और उनसे किसी की हानि या किसी का लाभ होता) (3) शुक्ल (ऐसे लोगों के कर्म जो तप करते हैं, स्वाध्याय में लीन रहते हैं तथा ध्यान करते हैं, और इस प्रकार के बाह्य कारणों या साधनों से नहीं सम्पन्न होते और इनसे किसी की हानि या हिंसा नहीं होती), (4) अशुक्लाकृष्ण (न तो शुक्ल और न कृष्ण, जो संन्यासियों में पाये जाते हैं, ज़िनके क्लेश दूर हो गये रहते हैं जिनके शरीर अब अंतिम रहते हैं अर्थात् इसके उपरांत वे जन्म नहीं लेते)। इन चारों में केवल योगी के कर्म शुक्ल होते हैं, क्योंकि वह कर्मों के फलों का त्याग किये रहता है और वह अकृष्ण कर्म करता है, अर्थात् बुरे कर्म करता ही नहीं। योगसूत्र[4] के भाष्य ने चार प्रश्न उठाये हैं, यथा—(1) क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है? (2) क्या एक कर्म कई जन्मों का कारण होता है? (3) क्या एक से अधिक कर्म से एक से अधिक जन्म होते हैं? (4) क्या एक से अधिक कर्म से एक जन्म होता है? भाष्यकार ने प्रथम तीन प्रश्नों का विरोध किया है और चौथे को स्वीकार किया है, अर्थात् कई कर्मों से एक जन्म होता है। शान्तिपर्व[5] ने आत्मा के छह रंग बताये हैं, यथा—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, पीत एवं शुक्ल और इन्हें एक दूसरे के ऊपर रखा है, यथा—कृष्ण को सबसे बुरा कहा और शुक्ल को सर्वोत्तम।

हमारे वर्तमान जीवन की कतिपय समस्याओं पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त से प्रकाश पड़ता है। सर्वथा अनजान दो व्यक्ति जब कभी एक-दूसरे से मिलते हैं तो उनमें मित्रता एवं वैर की भावना क्यों उमड़ पड़ती है? एक कल्पना की जा सकती है कि संभवतः पूर्व जीवन में वे एक दूसरे के मित्र या वैरी रहे हैं। विश्व में देखने में आता है कि कुछ लोग विना किसी योग्यता के आनन्दोपभोग करते हैं और कुछ ऐसे लोग, जो सभी प्रकारों के योग्य हैं, अथवा जिन्होंने त्याग और तपस्या का जीवन बिताया है, बड़े कष्ट में रहते हैं। इस दशा पर कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रभूत प्रकाश डालता है। हम विश्व में छायी विषमता को देखकर विकल हो उठते हैं, इतना ही नहीं, हमारी न्याय प्रिय भावना एवं सुन्दर व्यवहार करने की क्षमता पर धक्का पहुँच सकता है, किन्तु जब हम

1. योगसूत्र, 12.13
2. वही० 2.3
3. वही, 2.13
4. योगसूत्र 2..13
5. शान्तिपर्व, 273.33-34.280

इस सिद्धान्त पर मनन करते हैं, तो संतोष मिल जाता है। इस अनुमान एवं विश्वास से कि सभी मानवीय प्रयत्नों एवं आचरणों का उचित फल एवं दण्ड प्राप्त होगा, हमारे वर्तमान जीवन को महत्त्वपूर्ण गुरुता प्राप्त हो जाती है और हम इस जीवन में सत्कर्म करने के लिए अनुप्राणित होते हैं और दुष्कर्मों, अत्याचारों एवं पापमय जीवन से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। मानवों में देखे जाने वाले सुख-दुःख सम्बन्धी वैषम्य पर तो यह सिद्धान्त प्रकाश डालता ही है, साथ ही हम इससे मौलिक कल्याण एवं आवश्यक अस्वस्थ शारीरिक दशाओं की पारस्परिक विभिन्नताओं को भी समझने में समर्थ हो जाते हैं। आज के विश्व में असद् वृत्तियों का राज्य क्यों है? इस भयंकर एवं महान् प्रश्न पर भी हमें कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से प्रकाश प्राप्त होता है। कुछ लोगों में जो विलक्षण बुद्धि योग्यता एवं समर्थता देखने में आती है, जिसके फलस्वरूप वे गणित विज्ञान, संगीत और अन्य ललित कलाओं में विशेष योग्यता प्रदर्शित कर संसार को चकित कर देते हैं, उसके मूल में क्या है? संभवतः कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। यदि सम्यक् ढंग से विचार किया जाय तो यह सिद्धान्त निराशावादी या भाग्यवादी नहीं है, प्रत्युत यह इस जीवन में पूर्ण रूप से मानवीय उद्योग करने पर बल देता है। हम देखेंगे कि कितने धर्मशास्त्र ग्रन्थ या उनसे सम्बन्धित ग्रन्थ एवं विचार पुरुषकार (मानव उद्योग) पर बल देते हैं और कुछ लोगों द्वारा प्रतिपादित दैव या स्वभाव या काल (समय) या इन सभी सम्मिश्रण से सम्बन्धित विचारों (यथा—इसी जीवन में कर्मों के फल मिलते हैं) के विरोध में मत प्रकाशित करते हैं। कभी-कभी एक बहुत दरिद्र व्यक्ति राजा हो जाता है और अपनी प्रतिभा एवं योग्यता से लोगों को चकित कर देता है। यह सब क्या है? कुछ लोग राई से पर्वत हो जाते हैं और कुछ लोग पर्वत से राई। संभवतः इन सब के मूल में पूर्व जन्म के कर्म एवं संस्कार हैं।

विश्व के उद्‌गम एवं अन्य समान समस्याओं के विषय में उपनिषद्‌काल से ही कतिपय मत प्रकाशित होते रहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्[1] में प्रश्न आये हैं—"क्या ब्रह्म ही कारण है? हम कहाँ जा रहे हैं? हे ब्रह्मविद्, हमें बताओ, किसके नियन्त्रण के भीतर हम सुख या दुःख की अनुभूति करते हैं? आगे के पद्य में आया है—क्या ब्रह्म ही कारण हैं? हम कहाँ से जन्म लेते हैं? किसके द्वारा हम जीवित रहते हैं? हम कहाँ जा रहे हैं? हे ब्रह्मविद्, हमें बताओ, किसके नियंत्रण के भीतर हम सुख या दुःख की अनुभूति करते हैं। आगे लिखा है—क्या काल या स्वभाव या आवश्यकता या संयोग या तत्त्वों को हम कारण मानें या उसे जो पुरुष (कहलाता) है? यह उनके एक साथ मिल जाने का भी परिणाम नहीं है, क्योंकि स्वयं आत्मा को सुख एवं दुःख पर अपना अधिकार नहीं है। तीसरे मन्त्र के उत्तरार्ध में आया है—"वह अकेला ही इन कारणों—

---

1. श्वेता०, उप०, 1.1

अर्थात्—काल, आत्मा आदि पर नियन्त्रण रखता है।'' याज्ञवल्क्य[1] ने वांछित एवं अवांछित परिणामों के कारणों के प्रश्नों के विषय में पाँच मत रखे हैं, यथा—कुछ लोग दैव को, कुछ लोग स्वभाव को, कुछ लोग काल को, कुछ लोग पुरुषकार (मानव उद्योग) को तथा कुछ लोग इन सभी के सम्मिलित रूप को कारण मानते हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य[2] का स्वयं अपना मत है कि अच्छे या बुरे परिणामों के कारण हैं दैव एवं पुरुषकार, जिनमें प्रथम तो पूर्व जन्मों (अस्तित्वों) का परिणाम है और अब प्रतिफलित हो रहा है। शान्तिपर्व[3] ने तीन मतों की ओर इंगित किया है, यथा पुरुषकार या दैव या स्वभाव, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है, इसका अपना मत है कि दैव एवं स्वभाव मिलकर प्रतिफल उपस्थित करते हैं।

कर्म को तीन दलों में रखा गया है, यथा—संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण (या संचीयमान)। प्रथम कर्म अतीत अस्तित्वों के कर्मों का योगफल है, जिसके प्रतिफलों की अनुभूति अभी नहीं की जा सकती है। प्रारब्ध कर्म वह है जो इस वर्तमान जीवन के आरम्भ होने के पूर्व संचित कर्मों में सबसे प्रबल था और जिसे ऐसा परिकल्पित किया गया है कि उसी के आधार पर वर्तमान जीवन निश्चित होता है। इस वर्तमान जीवन में व्यक्ति जो कुछ संगृहीत करता है वही क्रियमाण (या संचीयमान) एकत्र होता हुआ कर्म है। आगे आने वाला जीवन (अस्तित्व) संचित एवं क्रियमाण के सम्मिलित कर्मों में अत्यन्त प्रबल (या कुछ लोगों के मत से सबसे आरम्भिक) कर्म द्वारा निर्धारित एवं निश्चित होता है। कर्म विभिन्न प्रकार के होते हैं[4] और विभिन्न प्रकार के प्रतिफल उपस्थित करते हैं। सात्विक कर्मों से स्वर्ग, राजसिक कर्मों से पृथिवी या अन्तरिक्ष तथा तामसिक कर्मों से यातनाओं के स्थल प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अस्तित्व (जन्म या शरीर) भी विभिन्न होते हैं और शरीर से आत्मा प्रभावित होता है। अत: विभिन्न आत्मा नानारूप वाले होते हैं। एक विरोध उपस्थित किया जाता है कि सभी नैतिक मूल्यों का आधार इच्छा स्वातन्त्र्य है और यदि मनुष्य के अतीत जीवनों के कर्म से वर्तमान जीवन निश्चित होता है तो वर्तमान जीवन केवल कर्म की शक्ति के हाथ में एक खिलौना मात्र है और व्यक्ति के लिए इतनी छूट नहीं रहती कि वह वही कर सके जिसे वह सर्वोत्तम समझता है। मनुष्य के इच्छा स्वातन्त्र्य का प्रश्न अत्यन्त पेचीदा है और इस पर प्राचीन काल से ही महान् चिन्तकों ने सोचा विचारा है और विभिन्न मत प्रकाशित किये हैं।

---

1. याज्ञ०, 1.350
2. वही, 1.349, 351
3. शान्तिपर्व, 238.4-5; 230-4-5
4. देखिए पद्मपाद की विज्ञानदीपिका, श्लोक 5 एवं 8, ''कर्मणा फलवैचित्र्याद्वैचित्र्यं जन्मनामिह। देहवैचित्र्यतो जीवे वैचित्र्यं भासते तथा॥ संचितं संचीयमानं च प्रारब्धं कर्म तत्फलम्। क्रमेणावृत्तिरेतेषां पूर्व बलवती पिवा॥'' टीका में आया है—संचितानां शुभाशुभकर्मणां मध्ये यस्य पूर्वकालिकत्वं तस्य पूर्व प्रारम्भैः। तत्समाप्तौ तदनन्तरजातस्यैवं वा क्रमेणामावृत्तिः। अपि च संचितकर्मणां मध्ये पौर्वापर्यमनपेक्ष्य यस्य कर्मणौ बलवत्तरत्वं तस्यैव पूर्वप्रारम्भः।

जहाँ तक भारतीय कर्म-सिद्धान्त का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है, इच्छा स्वातन्त्र्य की बात इस जीवन (अस्तित्व) में अच्छे कर्म करने के लिए, नैतिक जीवन बिताने के लिए एवं दलाघाई कर्म करने के लिए परिकल्पित की गयी है, किन्तु इस प्रकार के कर्म आदि इस जीवन की परिस्थितियों (वातावरणों) की सीमाओं पर निर्भर रहते हैं। महत्त्वपूर्ण क्रियाशील विश्वास यह है कि व्यक्ति को इच्छा स्वातन्त्र्य प्राप्त है कि वह इस जीवन में अपने भावी जीवन (अस्तित्व) को श्लाघाई कर्मों द्वारा कोई रूप देने में स्वतन्त्र है। यही शान्तिपर्व[1] का सन्देश है।[2] गीता में श्रीकृष्ण ने एक लम्बे विवेचन के उपरान्त अर्जुन को यह छूट दे दी कि "जो चाहे सो करो"।[3] गीता[4] का कथन है—यदि कोई भ्रष्टचरित वाला व्यक्ति भी अविभक्त श्रद्धा से मेरी पूजा करता है, उसे सदाचारी अवश्य कहा जा सकता है, क्योंकि उसने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली है। इसी प्रकार गीता[5] ने व्यवस्था दी है—व्यक्ति स्वयं अपने को ऊपर उठाये, वह नीचे अपने को नीचे न गिराये, क्योंकि केवल आत्मा ही उसका सच्चा मित्र है और केवल आत्मा ही उसका शत्रु है। प्राचीन भारतीय सिद्धान्त के अनुसार दोनों, अर्थात् प्रारब्धवाद (अग्रनिरूपित—निर्देश अथवा दैववाद) एवं इच्छा स्वातन्त्र्यवाद को स्वीकार करना संभव है, प्रथम के अनुसार व्यक्ति किसी विशिष्ट वातावरण में जन्म लेता है और दूसरे के अनुसार व्यक्ति का इस जीवन (वर्तमान अस्तित्व) के कर्मों से सम्बन्ध है। प्रारब्धवाद (दैववाद) के अनुसार व्यक्ति का किसी विशिष्ट वातावरण में जन्म लेना निश्चित रहता है और इच्छा-स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार व्यक्ति अपने उपस्थित जीवन के कर्मों के प्रति स्वतन्त्र रहता है। भगवद्गीता[6] तो पापों के लिए भी आशा बँधाती है कि सुधार करने के लिए देरी की चिन्ता नहीं करनी चाहिए अर्थात् देरी हो जाने पर भी सुधार का आरम्भ किया जा सकता है और पुनः कहा है कि सदाचार का अल्पांश भी महान् भय से व्यक्ति की रक्षा करता है और व्यवसाय (उद्योग या प्रयास) कभी नष्ट नहीं होता।

यद्यपि गीता का सामान्य झुकाव इच्छा-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त की ओर ही है तथापि कुछ ऐसी उक्तियाँ भी हैं जिनमें पूर्वनिर्धारणवाद (प्रारब्धवाद अर्थात् वह सिद्धान्त जिसके अनुसार सब कुछ पहले से ही निश्चित रहता है, इस जीवन में क्या होगा) की झलक मिलती है। यथा, प्रकृतिजन्य गुणों के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को असहाय रूप से कर्म करने पड़ते हैं। "हठवादिता के कारण तुम सोचते हो, मैं युद्ध नहीं करूँगा,

---

1. शान्तिपर्व, 280.3
2. आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नादकर्षेद् विशांपते। उत्कर्षार्थं प्रयतते नरः पुण्येन कर्मणा, वही, 280.3; 291.3
3. यथेच्छसि तथा कुरु —गीता, 18.63.
4. वही, 9.30
5. वही, 6.5
6. भगवद्गीता, 6. 5-6

तुम्हारी यह प्रतिज्ञा व्यर्थ है, तुम्हारा स्वभाव तुम्हें वैसा करने को बाध्य करेगा, तुम अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्मों से ही विवश होकर असहाय रूप में वह कार्य करोगे जिसे तुम करना नहीं चाहते हो।''[1] यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बचपन के वातावरण के विषय में इच्छा की स्वतन्त्रता की बात ही नहीं उठती।

रामायण के इस विश्वास को व्यक्त किया है कि वर्तमान जीवन की चिन्ता या दु:ख अतीत जीवन या जीवनों में किये गये ऐसे ही कर्मों का परिणाम है। जब कैकेयी द्वारा वरदान माँगने पर राजा दशरथ ने राम को वनवास दे दिया तो राम की माता कौशल्या रोती हुई कहती हैं—''मैं विश्वास करती हूँ कि मैंने पूर्व जन्म में बहुत से लोगों को उनके पुत्रों से दूर कर दिया होगा या जीवित प्राणियों की हानि की होगी (या उन्हें मार डाला होगा), इसी से यह दु:ख मुझ पर गहरा पड़ा है, मैं बिना संदेह के ऐसा मानती हूँ कि मैंने पूर्व जीवन में, उन गौओं (या माताओं) के स्तनों को काट दिया होगा जिनके बछड़े अपनी माँ का दूध पीना चाहते थे।''

पुराणों ने भी अच्छे एवं बुरे कार्यों की महत्ता पर बल दिया है। उनके कथनानुसार अच्छे या बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है, जब तक फलों का नाश नहीं हो जाता। सैकड़ों जीवनों के उपरान्त भी कर्म का नाश नहीं होता।[2] पद्मपुराण[3] में आया—विना कर्मफल भोगे कर्म का नाश नहीं होता, अतीत जीवनों के कर्म से उत्पन्न बन्धन को कोई हटा नहीं सकता, इसमें पुन: आया है—''मनुष्य अपने कर्मों द्वारा देवता बन सकता है, या मानव बन सकता है, पशु या पक्षी या क्षुद्र जीव या स्थावर (वृक्ष या पाषाण-खण्ड) बन सकता है, अपनी शक्ति या सन्तान के उत्पत्ति से कोई व्यक्ति पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के प्रभावों को दूर नहीं कर सकता।''[4] उपनिषदों में वर्णित

1. भगवद्गीता, 18.59-60
2. अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म ह्यपि जन्मशतै: प्रिय। नारदीयपुराण, (उत्तर भाग 29.18); 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' का उद्धरण शांकरभाष्य की टीका भावमी, वे०सू० 4.1.13 में आया है।
3. प०पु०, 2.81.48; 94.118
4. उपभोगादृते तस्य नाश एव न विद्यते। प्रावतनं बन्धनं। बन्धकं? कर्म कोऽन्यथा कर्तुमर्हति।। (पद्म०, 2.81.48; 94..118); देवत्वमथ मानुष्यं पशूनां पक्षिणां तथा। तिर्यक्त्वं स्थावरत्वं च याति जन्तुः स्वकर्मभिः।। पूर्वदेहकृतं कर्म न कश्चित्पुरुषो भुवि। बलेन प्रजया वापि समर्थः कर्तुमन्यथा।। पद्म० 2.94.13,15; प्रथम पद्म०, 2.81.43 में आया है। ऋ०, 5.4.10, प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम एवं मनु०, 9.137—पुत्रेणलोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। पद्मपुराण के अनुसार ये वचन मात्र प्रशंसात्मक हैं। न तु भोगादृते पुण्यं पापं वा कर्म मानवम्। परित्यजति भोगाच्च पुण्यापुण्ये निबोध मे। मार्कण्डेय, 14.17, यादृशं वपते बीजं क्षेत्रे तु कृषिकारकः। भुनक्ति तादृशं वत्स फलमेव न संशयः। यादृशं क्रियते कर्म तादृशं परिभुज्यते। विनाश हेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम्।। पद्म०, 2.99.7-8।

पुनर्जन्म की भावना बुद्ध के काल में सार्वभौम रूप धारण कर चुकी थी। बुद्ध ने नित्य व्यक्तित्व या आत्मा की बात को स्वीकार नहीं किया था। वे कोई आध्यात्मिक दार्शनिक नहीं थे, वे चाहते थे कि मानवता अबोधता (अज्ञान) एवं दु:ख से मुक्ति पा सके और उसे निर्वाण प्राप्त हो जाये, इसी से उन्होंने आत्मा की नित्यता को अस्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त ग्रहण किया था।

प्राचीन काल के उपनिषदों के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दो हैं, यथा—(1) जीवात्मा एवं परम ब्रह्म की अभिन्नता एवं (2) व्यक्ति के कर्तव्यों एवं आचरण पर आत्मा के आवागमन (पुनर्जन्म) का निर्भर होना। इन दोनों सिद्धान्तों को याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को बताया है।[1] जो अच्छा करता है, वह अच्छा जन्म पाता है, जो अच्छा नहीं करता है, बुरा करता है, वह बुरा जन्म पाता है,...जो पवित्र कार्य आदि करता है, वह पवित्र हो जाता है उन्हें स्वयं ड्यूशन महोदय ने पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में सबसे अधिक प्राचीन माना है। इसके साथ स्वयं ड्यूशन महोदय की उक्ति से सिद्ध हो जाता है कि उपनिषदों के दो प्रमुख मौलिक सिद्धान्तों का उद्घोष ब्राह्मण याज्ञवल्क्य द्वारा किया गया था, जिन्होंने उसी उपनिषद्[2] में अपनी पत्नी मैत्रेयी से आत्मा एवं तत्त्वों आदि का ब्रह्म से तादात्म्य बताया है (इदं सर्वयद्यमात्मा)। इतना ही नहीं, इन सिद्धान्तों की शिक्षा देने वाले अन्य शिक्षक भी थे। उदाहरणार्थ, उद्दालक, आरुणि ने विस्तार के साथ अपने पुत्र श्वेतकेतु को तत्त्वमसि[3] का अर्थ समझाया है।

अब हम उन उदाहरणों को देखेंगे जिन पर ड्यूशन महोदय ने अपने निष्कर्ष आधृत किये हैं। छान्दोग्योपनिषद्[4] में एक कथा आयी है। पाँच ऐसे गृहस्थ, जो वेद के महान् पाठक थे, आपस में मिले और 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म' के विषय में उन्होंने चर्चा की। उन्होंने उद्दालक आरुणि के पास, जो 'वैश्वानर' नामक आत्मा के विषय में जानते थे, जाने को सोचा। जब वे उनके यहाँ पहुँचे तो उद्दालक आरुणि ने कहा कि मैं स्वयं सभी कुछ की व्याख्या नहीं कर सकूँगा अत: तुम लोगों को अश्वपति कैकेय (कैकय देश के राजा) के पास जाना चाहिए, जो वैश्वानर नामक आत्मा की जानकारी रखते हैं। उद्दालक के साथ वे सभी गृहस्थ अश्वपति कैकेय के पास पहुँचे जिन्होंने दूसरे दिन प्रश्न का उत्तर देने को कहा। दूसरे दिन वे छह व्यक्ति समिधा लेकर राजा के पास पहुँचे जिन्होंने दूसरे दिन प्रश्न का उत्तर देने को कहा। अश्वपति कैकेय ने अन्य आरम्भिक कृत्यों को स्थगित कर दिया और उनसे पूछा कि उनमें प्रत्येक किसका ध्यान करता है। जब सबने ध्यान के आधार यथा—स्वर्ग आदित्य, वायु, आकाश एवं पृथिवी (इसका नाम उद्दालक ने लिया) की बात बतला दी, तो राजा ने बताया कि ये सभी वैश्वानर के अंश (भाग) हैं और

1. बृह०उप०, 13.2.13
2. वही, 2.4.1-14
3. छा०उप०, 6.8.16
4. वही, 5.11.1

उन्होंने उनसे अग्निहोत्र के सम्पादन की उचित विधि भी बतला दी।

दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि यहाँ पर उद्दालक आरुणि को वास्तविक 'वैश्वानरविद्या' में अनभिज्ञ कहा गया है, किन्तु दूसरे ही परिच्छेद[1] में उन्हें 'तत्त्वमसि' नामक श्रेष्ठ सिद्धान्त का व्याख्याता (शिक्षक) कहा गया है। सम्भवत: ये दोनों उद्दालक एक ही नहीं हैं, वे दो व्यक्ति हैं, या यह कथा ही कपोलकल्पित है। दूसरी बात यह है कि अश्वपति कैकेय ने जो कुछ सिखाया वह वैश्वानर के विषय में था, न कि ब्रह्मविद्या (जीवात्मा एवं परम ब्रह्म के तादात्म्य) के विषय में। यास्क के काल के पूर्व से ही वैश्वानर के विषय में कई मत थे, जिनका उल्लेख बहुधा ऋग्वेद[2] में हुआ है। निरुक्त[3] ने तीन विभिन्न मत उद्धृत किये हैं—यथा, वैश्वानर विद्युत है या आदित्य है या लौकिक अग्नि। छान्दोग्योपनिषद्[4] ने निष्कर्ष निकाला है और उसे पाँच प्राणों की आहुतियों (प्राणाय, स्वाहा, अपानाय, स्वाहा) की पंक्ति में रखा है। वेदान्त सूत्र[5] में भी इसकी चर्चा है और यही निष्कर्ष है कि इसका अर्थ है परमात्मा न कि जीवात्मा या अग्नि (एक तत्त्व के रूप में) या जठरानल।

इसके उपरान्त ड्यूशन महोदय ने गार्ग्य बालाकि की गाथा[6] कही है। गार्ग्य बालाकि ने काशी के राजा अजातशत्रु को ब्रह्म की व्याख्या सुनानी चाही और राजा ने इस बात के लिए एक सहस्र गौएँ देने की बात कही और यह भी कहा कि लोग 'जनक, जनक' (अर्थात् जनक ही दाता तथा ब्रह्म की व्याख्या सुनने वाले हैं) का उद्घोष कर दौड़ते हैं। बालाकि ने ब्रह्मध्यान के लिए बारह पदार्थों की चर्चा की, किन्तु राजा ने उत्तर दिया कि मैं यह सब पहले से ही जानता हूँ और यह भी कहा कि ब्रह्म इन पदार्थों से भिन्न है और उसे आपके (अर्थात् बालाकि के) कहने के अनुसार समझा नहीं जा सकता। इस पर बालाकि मौन रह गये और शिष्य हो जाना चाहा। तब अजातशत्रु ने कहा—यह तो प्रतिलोम है कि ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानार्थ क्षत्रिय के पास शिष्य होने के लिए जाय। ऐसा कहकर राजा ने बालाकि का हाथ पकड़ लिया और अपने आसन से उठ पड़े। इस गाथा की कुछ बातें द्रष्टव्य हैं। इससे यह नहीं प्रकट होता कि ब्राह्मण जाति ब्रह्मविद्या को नहीं जानती थी और न यही व्यक्त होता कि इसका ज्ञान केवल क्षत्रियों को ही था, दूसरी ओर जनक का विशिष्ट उल्लेख हुआ है कि वे गौओं के दाता हैं और ब्रह्मविद्या को सुनने के लिए तत्पर रहते हैं तथा लोग उनसे गौएँ प्राप्त करने एवं ब्रह्म

---

1. छा०उप०, 6.8.7
2. ऋग्वेद, 1.52.6; 1.98.1
3. निरुक्त०, 7.21-23
4. छा०उप०, 5.18.21; 5.19-24
5. वे०सू०, 1.2.24-32
6. बृह०उप०, 2.1

विद्या का ज्ञान देने के लिए उनके यहाँ जाया करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्[1] से विदित है कि विदेह को राजा जनक ने एक सहस्र गौएँ दी थीं और जब याज्ञवल्क्य ने उनको ले लिया तो राजा जनक की सभा में बैठे कतिपय लोगों, यथा अश्वल (राजा के होता पुरोहित) आर्तभाग, गार्गी, उद्दालक आरुणि, विदग्ध शाकल्य ने उनसे कई प्रश्न पूछे और जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गायें दी है। जनक याज्ञवल्क्य को विदेह का राज्य तथा अपने को दास के रूप में देते हैं। अत: बालाकि की गाथा से यदि कोई बात व्यक्त की जा सकती है तो वह यह है कि जनक ऐसे क्षत्रिय ने ब्रह्मविद्या की शिक्षा ग्रहण कर ली थी किन्तु बालाकि को, जो ब्राह्मण था, इसका ज्ञान न था। यद्यपि उसने ऐसा कह रखा था कि मुझे यह ज्ञात है और उसको काशी के राजा अजातशत्रु से इसका ज्ञान प्राप्त हुआ तथा अजातशत्रु ने ऐसा कहा कि ब्राह्मण क्षत्रिय का शिष्य नहीं होता। सभी ब्रह्मविद्या निष्णात नहीं हो सकते थे, क्षत्रियों की तो बात ही दूसरी है। अर्थात् उनमें तो इने-गिने ही ब्रह्मविद् हो सकते थे। अत: ड्यूशन महोदय त्रुटिपूर्ण सामान्यीकरण करने (व्यापक सिद्धान्त बनाने) के दोषी हैं। यह द्रष्टव्य है कि इस कथा में काशी के राजा अजातशत्रु ऐसा नहीं कहते कि यह विद्या पहले ब्राह्मणों को नहीं ज्ञात थी (जैसा कि प्रवाहण जैवलि ने कहा था) प्रत्युत् उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया कि एक ब्राह्मण उनके पास यह विद्या ग्रहण करने को आया है।

यही कथानक कौषीतकी उपनिषद्[2] में उन्हीं शब्दों में आया है। यहाँ बालाकि ने अपने ध्यान के विषयों के बारे में 16 व्याख्याएँ की हैं।[3] बृहदारण्यकोपनिषद् एवं कौषीतकी उपनिषद् में पुनर्जन्म के विषय में कुछ नहीं है, इन दोनों उक्तियों में केवल इतना ही व्यक्त है कि आत्मा से सभी प्राण, सभी लोक, सभी देव एवं सभी तत्त्व निष्पन्न होते हैं।[4] यह वैसा ही है जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद्[5] एवं छान्दोग्योपनिषद्[6] में आया है।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ड्यूशन महोदय ने सनत्कुमार एवं नारद के संवाद को अपने इस तर्क की सिद्धि के लिए प्रयुक्त किया है कि क्षत्रिय लोग ही वेदान्त के महान् सिद्धान्तों के मौलिक उद्भावक थे। उन्होंने छान्दोग्योपनिषद् का सहारा लिया है, जहाँ आया है कि नारद सनत्कुमार के पास गये और प्रार्थना की—"महोदय, मुझे पढ़ाइए। सनत्कुमार ने उनसे कहा—"बताइए, आप कितना जानते हैं, तब मैं बताऊँगा कि उसके आगे क्या है।" नारद ने बताया कि मैंने चार वेदों, इतिहास-पुराण का

1. बृह०उप०, 3.1
2. कौ०उप०, 4.1.-19
3. वे०सू०, 1.4.16-18
4. बृह०उप०, 2.2.20
5. वही, 4.4.7
6. छा०उप०, 4.1.16

अध्ययन कर लिया है और उन्होंने विद्याओं की सूची उपस्थित की जिसमें देवविद्या, ब्रह्मविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या सम्मिलित थी।[1] नारद ने स्वीकार किया कि मुझे केवल मन्त्र ही ज्ञात हैं, आत्मा के बारे में नहीं जानता। उन्होंने कहा "मैंने आप के समान लोगों से सुना है कि आत्मविद् दुःख को जीत लेता है। मैं दुःख में हूँ, भगवन्, दुःख से पार होने में मेरी सहायता अवश्य करें।" सनत्कुमार ने कहा, "आपने जो कुछ पढ़ा है, वह नाम मात्र है,कुछ नाम से बढ़कर भी है।" सनत्कुमार ने नाम से बढ़कर वाणी पर ध्यान करने को उत्तम कहा और शिक्षा दी कि मन वाणी से उत्तम है और आगे बहुत सी बातों का उल्लेख किया जो अपने पूर्ववर्ती से उत्तम है और इस प्रकार वे 'भूमा' (परमात्मा) का उल्लेख किया है, जिससे सभी कुछ की उद्भूति होती है। अन्त में छान्दोग्योपनिषद्[2] में आया है—भगवान् सनत्कुमार ने नारद को सब कुछ दिखाया, जिसके दोष जड़ से नष्ट हो गये हैं और जो अविद्या से ऊपर है, उसे लोग सनत्कुमार स्कन्द कहते हैं।

उपर्युक्त लम्बे वचन में ऐसा कहीं भी नहीं आया है कि सनत्कुमार एवं नारद ब्राह्मण थे या क्षत्रिय। संस्कृत साहित्य में स्कन्द को युद्ध का देवता[3] कहा गया है और वनपर्व[4] में उसे देवों की सेनाओं का सेनापति कहा गया है तथा शान्तिपर्व[5] में आया है कि लोक की उत्पत्ति एवं प्रलय के ज्ञान की प्राप्ति के लिए नारद देवल के पास गये। इससे ड्यूशन महोदय खट से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि सनत्कुमार क्षत्रिय थे और नारद ब्राह्मण।

महाभारत, मनुस्मृति एवं पुराणों में उन्हें वर्ण या जाति के ऊपर अर्ध दैविक ऋषि कहा गया है। गीता[6] ने नारद को देवर्षि कहा है। वायुपुराण ने पर्वत एवं नारद को कश्यप के पुत्रों के रूप में तथा देवर्षियों में गिना है।[7] मनुस्मृति[8] ने नारद को प्रथम दस प्रजापतियों में परिगणित किया है। ब्रह्मपुराण[9] ने स्कन्द एवं सनत्कुमार को ब्रह्मा का पुत्र कहा है। नारदीय पुराण[10] ने सनक, सनन्दन, सनत्कुमार एवं सनातन को ब्रह्मा का मानस पुत्र कहा है और सनत्कुमार को ब्रह्मवादी कहा है, जिन्होंने नारद को सभी धर्मों का ज्ञान दिया था। वामनपुराण[11] ने इन चारों को धर्म एवं अहिंसा का पुत्र तथा योगशास्त्र का

---

1. छा०उप०, 7.1-2
2. वही, 7.26.2
3. सेनानीनामहं स्कन्दः, गीता, 10.24
4. महाभारत, वनपर्व, 229.22-23
5. शान्तिपर्व, 275.267
6. गीता, 10.13
7. वायु पु०, 61.85
8. मनु०, 1.25
9. ब्र०पु०, 1.46-47
10. ना०पु०,पूर्व भाग, 2.3
11. वामन पु०, 60.68-69

व्याख्याता कहा है। इन सभी बातों से बढ़कर कूर्मपुराण[1] में आया है कि ये चारों ऋतु के साथ विप्र (ब्राह्मण) योगी एवं ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं।[2] सनत्कुमार को शाब्दिक या लाक्षणिक रूप से स्कन्द कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने अविद्या को उसी प्रकार आक्रमण करके जीत लिया जिस प्रकार स्कन्द देवता ने असुरों की सेनाओं को परास्त किया था।

छान्दोग्योपनिषद्[3] में उल्लेख है कि भारत के किसी भाग में तीन व्यक्ति, यथा—शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य एवं प्रवाहण जैवलि, ऐसे व्यक्ति थे जो उद्‌गीथ (अर्थात् ओम्) के गूढ़ अर्थ में निष्णात थे। वे उद्‌गीथ पर विचार करने के लिए बैठ गये। प्रथम दो (जो ब्राह्मण थे) ने एक दूसरे से प्रश्नोत्तर किया। इस पर प्रवाहण जैवलि ने उन्हें बताया कि वे ऐसे विषयों के बारे में उत्तर दे रहे हैं जो नित्य नहीं हैं। इसके उपरांत प्रवाहण जैवलि ने उनसे कहा कि इस विश्व का मूल आकाश है, प्राणियों की उत्पत्ति आकाश से हुई है और प्राणी पुनः वहीं लौट जायेंगे तथा यह आकाश उद्‌गीथ है जो उच्च से उच्चतर और अनन्त....आदि है। ड्यूशन ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए इस वचन का भी सहारा लिया है। उपनिषदों में उद्‌गीथ विद्या कतिपय उपासनाओं में परिगणित है। अतः जो बात प्रकट होती है वह यह है कि प्रवाहण जैवलि को वह विद्या ज्ञात थी और किसी स्थान के दो ब्राह्मणों को वह अज्ञात थी। इस सिद्धान्त की, जो ब्राह्मणों को तादात्म्य (ब्रह्माद्वैतवाद) के केन्द्रीय सिद्धान्त से अनभिज्ञ ठहराता है, परीक्षा करके उसे ठीक मानना संभव नहीं है। इसी संदर्भ में[4] प्रवाहण जैवलि ने उल्लेख किया है कि अतिधन्वा शौनक ने उदरशाण्डिल्य को उद्‌गीथ-विद्या का ज्ञान दिया है। ड्यूशन ने बिना कोई प्रमाण उपस्थित किये कह दिया है कि यहाँ भी ब्राह्मण ने क्षत्रिय से शिक्षा ग्रहण की। वे संभवतः यह बात भूल गये कि शौनक एवं शाण्डिल्य दोनों ब्राह्मण नाम हैं। यह तथ्य यह सिद्ध करता है कि अपने सिद्धान्त की पुष्टि में आतुरतावश एक गंभीर विद्वान् भी किस प्रकार त्रुटियाँ कर सकता है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि शौनक ने, जो ब्राह्मण (अतिधन्वा नामक) था, एक अन्य ब्राह्मण (उदरशाण्डिल्य) को उस विद्या में शिक्षित किया। इसके अतिरिक्त, उद्‌गीध विद्या कतिपय उपासनाओं में एक उपासना है और प्रवाहण ने जो पढ़ाया है वह यह है कि सभी मूल भूत (प्राणी) आकाश से उत्पन्न होते हैं और उसी में पुनः समाहित हो जाते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि आकाश ब्रह्म

1. कूर्म पु०, 1.7.20-21
2. अग्रे ससर्ज वै ब्रह्म मानसानात्मनः समान। सनकं सनातनं चैव तथैव च सनन्दनम्। ऋतुं सनत्कुमारं च पूर्वमेव प्रजापतिः। पञ्चैते योगिनो विप्राः परं वैराग्यमाश्रितः।

—वही, 1.7.19-21

3. छा०उप०, 1.8
4. वही, 1.9.3

की ओर संकेत करता है, जैसा कि वेदान्त सूत्र[1] भी कहता है।

ड्यूशन एवं भण्डारकर के मतों का आधार है पंचाग्निविद्या के विषय में प्रवाहण जैवलि एवं श्वेतकेतु का संवाद[2] तथा अश्वपति कैकेय एवं उद्दालक आरुणि के बीच वैश्वानर के विषय में हुई वार्ता[3] दूसरी वार्ता के विषय में हम ऊपर पढ़ चुके हैं। प्रथम वार्ता वाला प्रसंग बड़ा महत्त्वपूर्ण है जिसे लोगों ने ठीक से समझा नहीं है। श्वेतकेतु एवं उसके पिता आरुणि गौतम को पंचाग्निविद्या बताने के पूर्व प्रवाहण जैवलि ने कहा है[4]—"तुम्हारे पूर्व यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गयी, अत: सभी लोकों में अधिकार (शासन) केवल क्षत्रिय जाति के पास ही रह सका है।" बृ०उप० के वचन में शब्द आये हैं—"आज के पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण में नहीं पायी जाती थी, किन्तु मैं तुम्हें इसे बताऊँगा, क्योंकि कौन व्यक्ति तुम्हें नहीं बतायेगा जो मुझे इस प्रकार सम्बोधित करते हो। (अर्थात् "मैं आप के पास शिष्यरूप में उपस्थित हुआ हूँ)।" कौषीतकी उप० (1) में देवयान एवं पितृयान का सिद्धान्त चित्र गार्ग्यायणि द्वारा (एवं उसके पुत्र श्वेतकेतु) को बतलाया गया है, किन्तु यह कथन कि केवल क्षत्रिय ही इस सिद्धान्त के उद्भावक एवं जानकार थे, वहाँ नहीं आया है और गार्ग्यायणि ब्राह्मण अध्यापक के सदृश प्रतीत होते हैं। प्रश्न यह है—"छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदों के उपर्युक्त वचनों में इस विद्या का क्या तात्पर्य है?" उपनिषदों (विशेषत: छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक) में वैसे पुरुषों के लिए, जो ब्रह्मविद्या के मार्ग पर अधिक दूर नहीं जा सके हैं, ब्रह्म की उपासना के लिए कतिपय विद्याओं की विस्तृत चर्चा हुई है, यथा—उद्गीथविद्या[5], दहरविद्या[6], मधुविद्या[7], संवर्गविद्या।[8] इसी प्रकार पंचाग्निविद्या भी एक उपासना है। ड्यूशन आदि ने इसे स्वीकार किया है कि जीवात्मा एवं परमात्मा की एकात्मता एवं कर्मों तथा आचरण पर आधृत आत्मा के पुनर्जन्म के विषय में महान् एवं मौलिक वचन याज्ञवल्क्य द्वारा कहे गये जो बृ०उप० में पाये जाते हैं। पंचाग्निविद्या का सम्बन्ध पुनर्जन्म के केवल एक पक्ष से है, और वह पक्ष है वह मार्ग जिसका अनुसरण वे लोग करते हैं जो ग्राम में रहते हुए यज्ञ, जन-कल्याण-कार्य एवं दान करते रहते हैं। पाँच अग्नियों एवं पाँच आहुतियों का सम्बन्ध केवल पितृयान मार्ग से है। इसमें उस गति या दशा की गूढ़, एवं अर्ध भौतिक व्याख्या पायी जाती है जिसके द्वारा व्यक्ति इस पृथिवी पर बार-बार जन्म लेते

1. वे०सू०, 1.1.22
2. बृ०उप०, 6.2 एवं छा०उप०, 5.3-10
3. छा०उप०, 5.11.24
4. छा०उप० 5.3.7
5. वही, 1.8-9; बृह०उप०, 1.3
6. छा०, 8.1.1-2, बृ०उप० 1.3, वे०सू० 1.3.14-21
7. छा०उप० 3.1.1, बृ०उप०, 2.5.1-15
8. छा०, 4.3

हैं। अधिक-से-अधिक यही तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि कुछ क्षत्रिय राजाओं या सामन्तों ने पवित्र लोगों द्वारा चन्द्रलोक से पुनः पृथिवी लोक पर आने की विधि पर किसी गूढ़ या आध्यात्मिक व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त कर लिया होगा। इस विषय में स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्रवाहण जैवलि किसी देश के राजा थे या मात्र एक क्षत्रिय (राजन्य, बृ०उप०, 6.2.3 एवं छा०उप०, 5.3.5), किन्तु इतना स्पष्ट रूप से कहा हुआ है कि अश्वपति केकय राज्य (भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित) के राजा थे, जबकि जीवात्मा एवं परमात्मा की एकात्मता एवं आत्मा की अमरता के मौलिक उद्घोषक थे याज्ञवल्क्य, जो विदेह (मिथिला, बिहार प्रदेश) के निवासी थे जो केकय से कम-से-कम एक सहस्र मील दूर था। याज्ञवल्क्य का दर्शन केकय ऐसे सुदूर देश में एक लम्बे काल के उपरान्त ही पहुँचा होगा। यदि यह बात तर्क के लिए मान भी ली जाय कि अश्वपति के समान कुछ शासक ऐसे थे जिन्होंने सर्वप्रथम पवित्र याज्ञिकों (यज्ञ करने वालों) के सम्मुख पुनर्जन्म के मार्ग की व्याख्या उपस्थित की, तब भी ड्यूशन महोदय की स्थापना किसी प्रकार के उपर्युक्त पुष्ट प्रमाणों के समक्ष नहीं ठहरती।

उपनिषदों ने एक ऐसा कठोर नियम बनाया है कि सभी प्रकार के अच्छे या बुरे कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं और व्यक्ति के कर्मों एवं आचरण से ही आगे के जीवन निर्धारित एवं निश्चित होते हैं। किन्तु उपनिषदों के कुछ वचनों से प्रकट होता है कि उन्होंने इस विषय में कुछ अपवाद छोड़ रखे हैं। एक अपवाद यह है कि जब कोई व्यक्ति ब्रह्म की अनुभूति कर लेता है, उसके सभी अच्छे या बुरे कर्म जो ब्रह्मानुभूति के उपरान्त या भौतिक देह के मरने के पूर्व किये गये हों, कोई परिणाम नहीं उपस्थित करते। छा०उप० (6.14.3) में सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्य उपकोसल से कहा है—"जिस प्रकार जल कमलदल से नहीं चिपक सकता, उसी प्रकार जो ब्रह्म को जानता है उसमें दुष्कर्म नहीं लगा रह सकता।" छा०उप० (5.24.3) में पुनः आया है—"जिस प्रकार इषीका-तूल के सूत्र अग्नि में भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार वैश्वानर (ब्रह्म) के अभिप्राय को जानने वाले अग्निहोत्री व्यक्ति के बुरे कर्म भस्म हो जाते हैं।"[1] बृ०उप० (4.4.22) में आया है—"जो इन दोनों को जानता है उसको ये अभिभूत नहीं करते, चाहे वह भले ही कहे कि किसी कारणवश उसने बुरा कर्म किया या किसी कारणवश अच्छा कर्म किया, वह इन दोनों को पार कर जाता है, उसे किया हुआ अथवा न किया हुआ, कोई भी कर्म नहीं तपाता।" मुण्डकोपनिषद् (2.2.8) ने व्याख्या दी है—"जब,

---

1. यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त इति। छा०उप० (4.14.3), तद्यथैषी कातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। छा०उप० (5.24.3), एतमु हैवेते न तरत इति। अतः पापमकरवमिति। अतः कल्याणमकरवमिति। उभे उ हैवेष एते तरति। नैनं कृताकृते तपतः। बृह०उप० (4.4.22), क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। मुण्डक उप० (2.2.8) एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सपत्स्य इति। छा०उप० (6.14.2)।

कोई व्यक्ति सर्वोच्च (कारण) को देख लेता है (उसकी अनुभूति कर लेता है) और निम्नतम (कार्य) भी जान लेता है तो उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं।"किन्तु यह उन्हीं कर्मों के लिए सत्य है जो ब्रह्मानुभूति के पूर्व किये गये थे तथा उनके लिए जो अनुभूति की प्राप्ति के उपरान्त शरीर द्वारा किये गये। किन्तु वह व्यक्ति उस प्रारब्धकर्म को खण्डित नहीं कर सकता जिसने उसे वह जन्म दिया जिसमें उसने ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति की। भावना यह है कि वे कर्म, जिनके फलस्वरूप व्यक्ति को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ, मृत्युपर्यन्त भोगे जाने चाहिए, इसके उपरान्त ही व्यक्ति भौतिक बन्धन से मुक्त होता है। छा०उप०[1] का कथन है कि उस व्यक्ति के लिए, जिसने किसी गुरु से परमात्मा का सत्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, केवल तब तक की देरी है जब तक वह इस शरीर से मुक्त नहीं हो जाता, तभी वह पूर्ण हो पाता है। वे०सु० (4.1.13-15) में इन सभी वचनों का आधार लिया गया है और शंकराचार्य ने उनके उद्देश्य की संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। गीता (4.37) में भी आया है कि ज्ञान की अग्नि से सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। यहाँ पर 'कर्म' का तात्पर्य है संचित एवं संचीयमान न कि प्रारब्ध कर्म। विद्या की प्राप्ति एवं शरीरपात के बीच के कर्मों के विषय में शंकराचार्य ने धनुष से छूटे हुए तीर का उदाहरण दिया है, जो आरम्भिक वेग की समाप्ति पर हो सकता है। कुछ ग्रन्थों में ऐसा आया है कि जब इस जीवन में किये गये शुभ एवं अशुभ कर्म अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं तो उनके फल इसी जीवन में प्राप्त हो जाते हैं (विज्ञानदीपिका, 10)।

उपनिषद्-सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति को अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य भोगना चाहिए। किन्तु कभी-कभी कोई दुष्कर्म अनजाने में भी हो जाता है, यथा—

---

1. **तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तदव्यपदेशात्। इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु। अनारब्धकार्ये एवं सु पूर्वे तदवर्धः। वेदान्तसूत्र (4.1.13-15), शांकरभाष्यः "ब्रह्माधिगमै सत्युत्तरपूर्वयोरधयोरश्लेषविनाशौ भवतः उत्तरस्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मणः एमम‍धवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः। अवश्यम्भाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधार्यते। बृ०उप० (1.4.10) पर शांकरभाष्य में आया है : "यावच्छरीरपातस्तावत्फलोपभोगांगतया विपरीतप्रत्ययं रागादिदोषं च तावन्मात्रमाक्षिपत्येव। मुक्तेषुवत्प्रवृत्तफलत्वात्तद्धेतुकस्य कर्मणः। तेन न तस्य निर्वर्तिकी विद्या। अविरोधात्।......ज्ञानोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं तत्कालजन्मान्तरसंचितानां च कर्मणामप्रवृत्तफलानां विनाशः सिद्धो भवति।" पाद्मपाद की विज्ञानदीपिका में आया है—"उभयोर्ज्ञानतो नाशौ भौगात्प्रारब्धकर्मणः" (श्लो 9)। टीकाकार का कथन है : ज्ञान के दो प्रकार हैं, यथा—परोक्ष एवं अपरोक्ष। प्रथम का स्वरूप यों है : "ब्रह्म का अस्तित्व है और मुझे उसकी उपासना अवश्य करनी चाहिए।" द्वितीय का स्वरूप इस प्रकार है: "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। अतोऽहमपि ब्रह्मैवेत्याकारकं यज्ज्ञान तदपरोक्षम्। अपरोक्षज्ञानं तावत्प्रारब्धेतरकर्मनाशकम्। एवं चात्र ज्ञानमपरोक्षमेव। तस्मादुभयोः संचितसंचीयमानयोः कर्मणोर्नाशो बीजलोपः।"**

अचानक हाथ की बन्दूक से गोली छूट जाय और कोई व्यक्ति मर जाय या बुरी तरह से घायल हो जाय। इस बात को लेकर धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में एक विवेचन उठ खड़ा हुआ था और आगे चलकर प्रायश्चित का विधान बनाया गया। वैदिक काल से ही धार्मिक कृत्यों के होते समय किसी प्रकार की अनियमितताओं एवं दुर्घटनाओं के रक्षार्थ तथा दुर्निमित्तों या व्यक्तिगत आपत्तियों (यथा—कुत्ते का काटना आदि) के लिए कुछ कृत्य सम्पादित किये जाते रहे हैं। इन विषयों में केवल व्यक्तिगत पवित्रता तथा किसी आपत्ति से रक्षा पाना ही उद्देश्य है, यहाँ पाप-सम्बन्धी कोई प्रश्न नहीं है। गौतमधर्मसूत्र में इस विषय में एक विवेचन है, जो सम्भवत: इस प्रकार के अत्यन्त आरम्भिक पाप एवं प्रायश्चित सम्बन्धी व्याख्या है। गौतम का कथन है कि पापों के शमन के लिए प्रायश्चितों के विषय में दो मत है, जिनमें एक यह है कि पापों के लिए प्रायश्चित नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि जब तक उनके फलों को भोग नहीं लिया जाता उनका नाश नहीं होता, और दूसरा मत यह है कि प्रायश्चित किया जाना चाहिए, क्योंकि इस विषय में वैदिक वचन उपलब्ध है, यथा—"पुनःस्तोम नामक यज्ञ करने के पश्चात् व्यक्ति सोम यज्ञ करने के योग्य हो सकता है (अर्थात् वह सभी प्रकार के यज्ञ कर सकता है)", "व्रात्यस्तोम करने के पश्चात् व्यक्ति वैदिक यज्ञों के सम्पादन के योग्य हो जाता है", " जो अश्वमेध करता है वह सभी पापों यहाँ तक कि ब्रह्म हत्या को भी लाँघ जाता है।"[1] कुछ लोगों का ऐसा मत था कि केवल वे पाप प्रायश्चितों से दूर होते हैं जो अनजान में हो जाते हैं, किन्तु कुछ लोग ऐसा दृष्टिकोण रखते थे कि वे पाप भी प्रायश्चितों से शमित होते हैं, जिन्हें जानबूझकर किया जाता है, क्योंकि इस विषय में वैदिक संकेत प्राप्त होते हैं (मनु 11/45)।[2] इस विषय में हमने इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड 4 पृ० 1-178 में विस्तार के साथ पढ़ लिया है।

पापों के फलस्वरूप पुनर्जन्म पाने के विषय में पाठकों का ध्यान निम्नलिखित ग्रन्थों की ओर आकृष्ट किया जा रहा है—मनुस्मृति[3], याज्ञवल्क्य स्मृति[4] विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय 44), अत्रिस्मृति[5], मार्कण्डेयपुराण[6], ब्रह्मपुराण[7], गरुडपुराण[8] (प्रेतकाण्ड,

---

1. तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसन्ते। न कुर्यादित्याहुः। न हि कर्म क्षीयत इति। कुर्यादित्यपरम्। पुनः स्तोमेनेष्ट्वा पुनः सवनमायान्तीति विज्ञायते। व्रात्यस्तोमेश्चेष्ट्वा। तरति सर्व पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां यो श्वमेधेन यजते। अग्निष्टुताभिशस्यमान ःयाजयेदिति च। गौ०ध०सू० (19.3-10)। देखिए वसिष्ठधर्मसूत्र (22.3-7), तै०सं० (5.3.12.2) एवं शतपथ ब्राह्मण (12.3.1.1)।
2. अनभिसन्धिकृते प्रायश्चितमपराधे। अभिसन्धिकृतेप्येके। वसिष्ठ (20.1.2)।
3. (12.54-69)
4. (3.131, 135-136, 207-215)
5. 4.5-14, 17-44
6. 15.1-41
7. 217.37-110
8. याज्ञ० 3.206-215

2.60-88, जहाँ याज्ञ० 3.206-215 ज्यों-का-त्यों रख दिया गया है), मिताक्षरा[1], मदनपारिजात[2], पराशरमाधवीय (खण्ड 2, भाग 2, पृ० 246, 259, 263, 269)। स्थानाभाव के कारण इस विषय में हम विस्तार से विवेचन नहीं उपस्थित करेंगे, केवल थोड़े-से उदाहरण प्रस्तुत किये जायेंगे।

मनु० (12.54-69, जिनसे बहुत-सी बातों में याज्ञ० 3.206-208 की सहमति है) में आया है—''महापातकी लोग बहुत वर्षों तक भयंकर नरकों में रहकर निम्नलिखित जन्म प्राप्त करते हैं। ब्रह्महत्यारा कुत्ता, सुअर, गधा, ऊँट, कौआ (या बैल), बकरी, भेड़, हरिण, पक्षी, चाण्डाल एवं पुक्कस के जन्मों को पार करता है; सुरा पीने वाला ब्राह्मण कीटों, मकोड़ों, पतंगों, मल खाने वाले पक्षियों, मांसभक्षी पशुओं के विभिन्न जन्मों को पाता है, ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाला ब्राह्मण मकड़ों, सर्पों, छिपकलियों, जलचरों, नाशक निशाचरों की योनियों में सहस्रों बार जन्म लेता है : गुरु के पर्यंक को अपवित्र करने वाला (गुरु-पत्नी के साथ संभोग करने वाला) घासों, गुल्मों, लताओं, मांसभक्षी पशुओं, फणिधरों तथा व्याघ्र ऐसे क्रूर पशुओं की योनियों में सैकड़ों बार जन्म लेता है। जो व्यक्ति लोगों को मारा-पीटा करते हैं वे कच्चा मांस खाने वालों की योनि में जन्म लेते हैं, जो व्यक्ति निषिद्ध भोजन करते हैं, वे कीट होते हैं, जो चोरी करते हैं, वे ऐसे जीव बनते हैं जो अपनी जाति के जीवों को खा डालते हैं, यथा—मछली, जो लोग हीन जाति की नारियों से संभोग करते हैं, वे प्रेत होते हैं, जो व्यक्ति बहिष्कृत लोगों के साथ कुछ विशिष्ट अवधि तक रह लेता है, जो दूसरों की पत्नियों के साथ संभोग करता है, जो ब्राह्मण की सम्पत्ति (सोना के अतिरिक्त) को छीन लेता है, वह ब्रह्मराक्षस होता है। जो व्यक्ति लोभवश रत्नों, मोतियों, मूँगों या किसी अन्य प्रकार के बहुमूल्य पत्थरों को चुराता है, वह स्वर्णकारों के बीच जन्मता है, अन्न चुराने पर ब्राह्मण चूहा होता है, काँसा चुराने पर व्यक्ति हंस पक्षी होता है, दूसरे को जल से वंचित करने पर व्यक्ति प्लव नामक पक्षी होता है, मधु चुराने पर डंक मारने वाला जीव होता है, मीठा रस (ईख आदि का) चुराने पर कुत्ता होता है। मांस चुराने पर चील होता है, तेल चुराने पर तैलपक (तिलचट्टा) कीड़ा, नमक चुराने पर झिल्ली जीव तथा दही चुराने पर बकाला (बगला) पक्षी होता है, रेशम, वस्त्र चुराने पर क्रम से तीतर, मेढक एवं क्रौंच पक्षी का जन्म मिलता है, गौ चुराने पर गोधा, चोटा चुराने पर वाग्गुद (चमगादड़?) पक्षी, सुगंध चुराने पर गंधमूषक (छछूँदर), पत्तियों वाले शाक चुराने पर मोर, भाँति-भाँति के पक्वान्न चुराने पर शल्य (साही) तथा बिना पका भोजन चुराने पर शल्य (या झाड़ी में रहने वाला जीव विशेष) का जन्म मिलता है। अग्नि चुराने पर बगला (बक) बर्तनों के चुराने पर हाड़ा, रंगीन वस्त्र चुराने पर चक्रवाक पक्षी, हिरण या हाथी चुराने पर भेड़िया,

1. 3.216
2. पृ० 701-702

घोड़ा चुराने पर बाघ, फलों एवं कन्द-मूलों के चुराने पर बन्दर, नारी चुराने पर भालू, पीने वाला पानी चुराने पर चातक, सवारी (यान) चुराने पर ऊँट, पालतू पशु चुराने पर बकरा का जन्म प्राप्त होता है। जो व्यक्ति किसी अन्य की कोई सम्पत्ति बलपूर्वक छीन लेता है या जो उस याज्ञी सामग्री को, जिसका कोई अंश अभी यज्ञ में नहीं लगा है, खा लेता है तो वह निम्न श्रेणी का पशु होता है, जो नारियाँ उपर्युक्त प्रकार की चोरी करती हैं, वे भी पातकी होती हैं और वे ऊपर वर्णित ज़ीवों की पत्नियों के रूप में जन्म ग्रहण करती हैं।

जब एक बार प्रायश्चितों के सिद्धान्त द्वारा उपनिषदों में वर्णित कर्म-सिद्धान्त ढीला कर दिया गया तो आरम्भिक कालों में भी पापों के परिणामों को दूर करने के अनेक प्रायश्चित-मार्ग व्यवस्थित हो गये। गौतम[1] ने अपराध-पूर्ण कर्मों के प्रभावों के शमन के लिए पाँच साधन बताये हैं, यथा—जप, तप, होम, उपवास एवं दान। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड-4 जहाँ पृ० 44-51 में जप, पृ० 42-43 में तप, पृ० 43-44 में होम, पृ० 51-52 में दान तथा पृ० 52-54 में उपवास पर विशेष रूप से लिखा है। यहाँ कुछ लिखना आवश्यक नहीं है। किन्तु कुछ विशिष्ट परिमार्जनों एवं साधनों की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। शूद्रों एवं प्रतिलोम जातियों के सदस्यों को वेदाध्ययन की अनुमति नहीं थी, अतः मध्यकालीन ग्रन्थों, विशेषतः पुराणों में यहाँ तक कह दिया कि कृष्ण के नाम का स्मरण सभी प्रायश्चितों एवं तपों से उत्तम है और यदि कोई व्यक्ति प्रातः, मध्याह्न, सायं, रात्रि या अन्य कालों में नारायण का स्मरण करता है उसके सभी पाप कट जाते हैं।[2] (विष्णुपुराण) पापों की मुक्ति के लिए अन्य साधन भी थे, यथा-तीर्थयात्रा।[3] एक अन्य साधन था प्राणायाम-अभ्यास।[4]

अत्यन्त आरम्भिक काल में भी सबके समक्ष पाप-निवेदन करना पापमोचन का एक साधन माना जाता था। वरूण-प्रघास नामक चातुर्मास्य यज्ञ में पत्नी को उसके द्वारा स्पष्ट प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से यह स्वीकार करने पर कि उसका किसी प्रेमी से शरीर-सम्बन्ध था, पवित्र मान लिया जाता था और उसे पवित्र कृत्यों में भाग लेने की अनुमति

---

1. तस्य निष्क्रियणानि जपस्ततो होम उपवासो दानम्। गौ०ध०सू० (19.11) 19.12 में गौतम ने वैदिक वचनों की एक लम्बी सूची दी है, जिनके पाठ से व्यक्ति पापों से मुक्त होता है। मनु (11.249-250) ने कुछ वैदिक सूक्त तथा मन्त्र निर्धारित किये हैं जिनके जप से ब्रह्महत्या, सुरापान, सोने की चोरी, गुरुतल्प-गमन (गुरु की पत्नी के साथ संभोग) तथा अन्य बड़े या हलके पाप नष्ट हो जाते हैं। मनु (11.259.260) ने अघमर्षण सूक्त (ऋ० 10.190.1-3) के जप की बड़ी प्रशंसा की है, क्योंकि उससे सभी पाप कट जाते हैं।
2. विष्णुपुराण 2.6.39 एवं 41, ब्रह्मपुराण 22.39, जो प्रायश्चित्तविवेक पृ० 31 अपरार्क, पृ० 1232 तथा प्रायश्चित्ततत्त्व, पृ० 524 में उद्धृत हैं।
3. महाग्रन्थ का खण्ड 4, पृ० 55-56 एवं पृ० 552-580
4. वही, पृ० 42

मिल जाती थी।[1] और आपस्तम्बधर्मसूत्र[2] ब्रह्मचारी को संभोग करने के पाप के मोचनार्थ सात घरों में भिक्षा माँगते समय अपने दुष्कृत्य की घोषणा करनी पड़ती थी।[3]

अनुताप—मनु[4] ने व्यवस्था दी है कि कोई भी पापी लोगों के समक्ष पाप-निवेदन करने से, अनुताप करने से, तपों द्वारा, वैदिक वचनों के जम द्वारा तथा (यदि वह तप न कर सके तो) दान द्वारा पाप के प्रतिफलों से मुक्त हो जाता है। व्यक्ति पाप करने के उपरान्त अनुताप करने से पापमुक्त हो जाता है और जब "मैं ऐसा अब कभी न करूँगा" इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है तो वह पवित्र हो जाता है। विष्णुपुराण में आया है कि यदि पाप करने के उपरान्त व्यक्ति अनुताप (पश्चात्ताप या परिताप) करता है तो सबसे बड़ा प्रायश्चित है हरिस्मरण। उपर्युक्त कथन वैदिक वचनों तथा धर्मशास्त्र-ग्रन्थों के वक्तव्यों एवं व्यवस्थाओं से यह प्रकट है कि हिन्दुओं के कर्म-सिद्धान्त में पाप-निवेदन की व्यवस्था थी। अतः स्काटलैण्ड के पादरी मैकनिकोल कृत "इण्डियन थीइज्म" पृ० 223 में लिखित यह वक्तव्य कि हिन्दुओं के कर्म-सिद्धान्त में अनुताप को कोई स्थान नहीं है, सर्वथा असत्य एवं भ्रामक है। वास्तव में, हिन्दुओं में ईसाइयों के समान सस्ता 'कन्फेशन' (पाप की स्वीकारोक्ति) नहीं है, प्रत्युत उनमें नरक की यातनाओं एवं दुःखदायी जन्मों की बातें भी पायी जाती हैं। पश्चात्कालीन पौराणिक लेखक बहुत सीमा तक ईसाइयों की सामान्य मान्यता के सन्निकट आ गये थे और हरिस्मरण से अपने को पाप-मुक्त समझने लगे। ईसाइयों में ऐसा विश्वास है कि ईसामसीह को पापमोचक समझकर पाप निवेदन करके पाप से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। आश्चर्य है, मैक्निकोल महोदय प्रसंगोचित वचनों एवं पौराणिक बातों को भी पढ़ लेना भूल गये और एक असत्य एवं भ्रामक वक्तव्य दे बैठे।

मैक्निकोल महोदय ने अपना ग्रन्थ "इण्डियन थीइज्म" सन् 1915 में लिखा था। उनके बहुत पहले से बहुत से पाश्चात्य लेखकों ने, जो ईसाई धर्म के वातावरण में पले थे, ऐसा व्यक्त किया कि मृत्यु के पश्चात् मानव की नियति के विषय में प्राचीन भारतीय सिद्धान्त उसी विषय पर कही गयी बाइबिल की भावनाओं से अपेक्षाकृत बहुत अच्छे हैं और अधिक स्वीकार करने योग्य हैं। हम यहाँ केवल दो-तीन उदाहरणों से ही सन्तोष करेंगे। अर्बेरी महोदय ने अपने ग्रन्थ "एशियाटिक जोंस" (पृ० 37) में अर्लस्पेंसर को लिखे गये सर विलियम जोंस के एक पत्र का उद्धरण दिया है—"मैं हिन्दू नहीं हूँ, किन्तु मैं भविष्य जीवन से सम्बन्धित हिन्दुओं के सिद्धान्त को ईसाइयों द्वारा अनन्त दण्डों से सम्बन्धित मान्य धारणाओं से अपेक्षाकृत अधिक बौद्धिक, अधिक पवित्र तथा लोगों को दुष्कर्म से दूर रखने में अधिक समर्थ मानता हूँ।" लोवेस डिकिंसन ने अपने ग्रन्थ

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, महाग्रन्थ का खण्ड 2, पृ० 575-576 एवं पृ० 1098
2. आपस्तम्बधर्मसूत्र (1.9.24.15, 1.10.28.19 एवं 1.10.29.1)।
3. गौतम, 23.18, मनु 11.122
4. 2.6.40

"रिलिजिएन एण्ड इम्मौरैलिटी" (डेण्ट एण्ड संस, 1911, पृ० 74) में लिखा है— "वास्तव में, यह सन्तोषप्रद भावना है कि हमारी वर्तमान समर्थताएँ हमारे गत जीवन के कार्यों द्वारा निर्धारित होती हैं और हमारे वर्तमान कर्म पुनः हमारे भावी चरित्र को निश्चित करेंगे।" ओवेन रट ने, जो "दि स्कैल्स आफ कर्म" (लण्डन, 1925) के लेखक हैं, कि ईसाई धर्म ने उन बौद्धिक एवं नैतिक समस्याओं का समाधान करने में असफलता व्यक्त की है जिनसे वर्तमान संसार की विषमताओं में रहने वाले लोग ग्रस्त हैं। उन्होंने यह लिखा है कि कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर लिखने के सात वर्ष पूर्व हमने उसका अध्ययन किया था, अतः जो कुछ उन्होंने लिखा है वह उनका व्यक्तिगत वक्तव्य है न कि कर्म पर एक लेख मात्र है (पृ० 12-13)। जिन्होंने इस सिद्धान्त के विरोध में लिखा है उन्होंने यह स्वीकार करते हुए कि उपनिषद् का यह सिद्धान्त यद्यपि अति प्राचीन है और विश्व में न्याय एवं अन्याय के सम्बन्ध में एक अति गम्भीर विवेचन है, लिखा है कि यह (कर्म-सिद्धान्त) एक दुर्बल एवं कठिनाइयों से परिपूर्ण सिद्धान्त है। यहाँ पर एक प्रश्न किया जा सकता है—वे कौन-से धर्म एवं दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्त हैं जो कठिनाइयों से परिपूर्ण नहीं हैं? हम ईसा के धर्म को उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं। जो ईसाई नहीं हैं (और बहुत से आधुनिक ईसाई भी) उनकी दृष्टि में मौलिक पाप का सिद्धान्त बिना वपतिस्मा लिये हुए शिशुओं की नरक-दण्ड-सम्बन्धी भावना, पूर्वनिश्चितवाद, जो इस बात पर आधृत है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् स्वर्ग एवं पृथिवी का स्रष्टा है, विचित्र-सा एवं दोषपूर्ण लगेगा। एल०टी० हाबहाउस ने "मॉरल्स इन इवल्यूशन" (भाग 2, 1906) में प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार ईश्वर वाले सभी सिद्धान्त, विशेषतः ईसाई धर्म, कठिनाइयों से परिपूर्ण हैं। ऐसा कहना कि ईसामसीह का धर्म विलक्षण है, इस धर्म को मानने वाले लोग विशिष्ट हैं। ईश्वर को अन्यायी सिद्ध करना होगा और इसीलिए प्रो० टायनबी (क्रिश्चियानिटी एमंग दि रिलिजियंस आव दि वर्ल्ड, आक्सफोर्ड युनि० प्रेस, 1958) ऐसे लेखकों ने ऐसा सोचना एवं आग्रह करना आरम्भ कर दिया है कि ईसाई धर्म को इस प्रकार के विश्वासों से निर्मुक्त हो जाना चाहिए (पृ० 13 एवं 95)।

कर्म का सिद्धान्त यह बताता है कि एक व्यक्ति के अच्छे या बुरे कर्म दूसरे में स्थानान्तरित नहीं हो सकते और न कोई व्यक्ति किसी अन्य के पापों को भोग सकता है। किन्तु ऋग्वेद में ऐसे विश्वास के संकेत हैं कि ईश्वर पिताओं के पापों के कारण उनके पुत्रों को दण्डित कर सकता है। ऋ० (7.86.5) में वसिष्ठ वरुण से प्रार्थना करते हैं— "हम लोगों से हमारे पिताओं के उल्लंघनों को दूर कर दीजिए, और उन सब को भी जो हमने स्वयं अपने शरीर में किये हैं, 'हम' लोग अन्य लोगों द्वारा किये गये पापों से दुःखी न हों और न हम लोग वह करें जिसके लिए आप दण्डित करते हैं" (यह विश्वदेव को सम्बोधित है)। शान्तिपर्व (279.15 ऍवं 21=290.16 एवं 22, चित्रशाला संस्करण) में आया है—चार प्रकार से यथा—आँख, मन, वचन एवं कर्म से व्यक्ति जो

कुछ करता है, वह वैसा ही फल पाता है। दूसरे द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कर्मों के फल को अन्य व्यक्ति नहीं भोगता, व्यक्ति वही पाता है जो स्वयं करता है'' और देखिए शान्तिपर्व (153.38 एवं 41)।

इस सिद्धान्त का परिमार्जन बहुत पहले ही हो गया। गौतमधर्मसूत्र (11.9-11) में आया है कि राजा को शास्त्र के अनुकूल वर्णों एवं आश्रमों की रक्षा करनी चाहिए यदि वे कर्तव्यपालन से विचलित हों तो उन्हें कर्तव्यपालन में सचेष्ट रखना चाहिए क्योंकि राजा को उनके द्वारा किये गये धर्म का अंश प्राप्त होता है। मनु (8.304-305,308) ने कहा है कि वह राजा, जो प्रजा की रक्षा करता है, प्रजा के आध्यात्मिक पुण्य का छठा भाग पाता है, यदि वह प्रजाजनों की रक्षा नहीं करता तो वह उनके पाप का छठा भाग पाता है। और मनु (9.301)। कालिदास ने शकुन्तला में यही बात कही है।[1] मनु (8.316) में आया है कि यदि चोर राजा के पास आता है, पाप-निवेदन करता है और राजा से कहता है कि वह उसे भारी डण्डे के हथियार से मारे और राजा उसे मारता है या छोड़ देता है तो चोर पाप से मुक्त हो जाता है, किन्तु यदि राजा उसे दण्डित नहीं करता तो वह चोर के समान अपराधी सिद्ध होता है। वसिष्ठ (19.46 एवं 20.41)। मनु० (3.100) में आया है कि यदि उस व्यक्ति के घर में जो पवित्र एवं सादा जीवन व्यतीत करता है, खेत में पड़े अन्न को बीन कर अपनी जीविका चलाता है और पाँच अग्नियों में होम करता है, कोई अतिथि बिना सम्मान पाये निवास करता है तो उसका सारा पुण्य अतिथि का हो जाता है। और इस विषय में शान्ति, विष्णुधर्मसूत्र तथा कतिपय पुराण।[2] यह सब सम्भवतः अर्थवाद है, अर्थात् केवल गृहस्थों को अतिथि-सत्कार के लिए प्रोत्साहन देना मात्र है। साक्ष्य देने वाले को न्यायाधीश ने इस प्रकार समझाया है—''तुमने जो कुछ सुकृत सैकड़ों जीवनों में किये होंगे वे सभी उस पक्ष को मिल जायेंगे जो तुम्हारे असत्य साक्ष्य से हार जायेंगे, (याज्ञ० 2.75)। मिताक्षरा एवं अपरार्क ने कहा है कि यह सब केवल डराने के लिए है। (फिर भी असत्य भाषण का पाप तो होगा ही।'' मनु (8.90), एवं (12.81)।

भगवद्गीता ने, इस बात के रहते हुए भी कि वास्तविकता के ज्ञान (तत्त्वज्ञान) से सभी कर्मों के प्रभाव नष्ट हो जाते हैं, अन्त में ईश्वर-भक्ति पर बल दिया है, सब कुछ भगवान् के चरणों में अर्पित कर देने को कहा है—''सभी विभिन्न मार्गों को छोड़कर मेरी ही शरण में आओ, चिन्ता न करो, मैं तुम्हें सभी पापों के प्रतिफलों से

---

1. सर्वतौ धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः। अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्यह्यरक्षतः॥ मनु (8.304), मिलाइए शाकुन्तल (2.14)'' युदुतिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां अपि तत्फलम्। तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः॥

2. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते। स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति॥ शान्तिपर्व (184.12, चित्रशाला संस्करण), विष्णुधर्मसूत्र (67.33) विष्णुपुराण (3.9.15 एवं 3.2.68), वराहपुराण (170.46)।

मुक्त कर दूँगा।"[1]

पति एवं पत्नी के विषय में धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में बहुत कुछ है। किन्तु वहाँ जो कुछ कहा गया है उसे ज्यों-का-त्यों नहीं ग्रहण करना चाहिए। मनु (5.1.64-166) ने कहा है—"पति से झूठा व्यवहार करके (किसी अन्य के साथ व्यभिचार करके) पत्नी इस जीवन में निन्दित तो होती ही है, वह (मृत्यु के उपरान्त) लोमड़ी हो जाती है और (कोढ़) ऐसे भयंकर रोगों से ग्रसित होती है। वह स्त्री, जो विचार, वाणी एवं कर्म पर संयम रखती है, जो अपने पति के प्रति असत्य नहीं होती, वह अपने पति के साथ (स्वर्ग में) रहती है, और पतिव्रता नारी कहलाती है। मन, वचन एवं कर्म में संयमित नारी अपने आचरण द्वारा इस जीवन में सर्वोच्च यश कमाती है और परलोक में पति के साथ निवास करती है। जिस प्रकार मदारी सर्प को बिल से बलपूर्वक बाहर निकाल लेता है, उसी प्रकार पतिव्रता नारी यमदूत से अपने पति का जीवन खींच लेती है और पति के साथ परलोक जाती है।" यह भी एक अर्थवाद है, किन्तु सम्भवतः यह उन कालों की प्रचलित भावनाओं की ओर संकेत है।

महाभारत में आया है कि यदि पाप के प्रतिफल कर्ता के जीवन में नहीं देखे जाते तो वे पुत्रों एवं पौत्रों में अवश्य प्रकट ही होंगे। यह भी अर्थवाद ही है।[2]

मनु० (8.318, वसिष्ठ 19.45) में ऐसा आया है कि (चोरी ऐसे) पापमय कर्म के लिए राजा द्वारा दण्डित हो जाने पर व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है और वह पवित्र होकर उसी प्रकार स्वर्ग जाता है जिस प्रकार अच्छे कर्म वाले व्यक्ति (राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा)।

कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त का श्राद्ध-सिद्धान्त से मेल बैठाना बड़ा कठिन है। श्राद्ध में श्राद्धकर्ता के तीन पूर्वपुरुषों को पिण्ड दिये जाते हैं। इस विषय में हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड 4 (पृ० 335-339) में पढ़ लिया है। पितरों को पिण्डदान देने की प्रथा वेदकालीन है और सम्भवतः वह वेदों से भी प्राचीन है तथा कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त पश्चात्कालीन है। सामान्य लोग श्राद्ध के सिद्धान्त को नहीं छोड़ना चाहते थे और इसी से दोनों का प्रचलन साथ-साथ चलता रहा है।

---

1. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। भगवद्गीता (18.66)। यहाँ धर्म का अर्थ मार्ग है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने लक्ष्य तक जाता है। बहुत-से मार्गों की ओर शान्ति वर्ष (342.10-16=354.10-160 चित्रशाला) में संकेत है, यथा—मोक्षधर्म, यज्ञधर्म, राजधर्म, अहिंसा धर्म। उस अध्याय में अन्तिम श्लोक यों हैं—"एवं बहुविधैर्लोकेधर्मद्वारैरनावृतैः। ममापि मतिराविग्नामेघलेखेव वायुना॥"
2. नाधर्मश्चरितौ...कृन्तति॥ पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति। फलत्येव ध्रुव पापं गुरुमुक्तमिवोदरे।। आदि (80.2-3)। और शान्तिपर्व (139.22=137.19) : "पापं कर्म कृतं किंचिद्यपि तस्मिन् न दृश्यते। नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु॥

उपनिषदों एवं उनकी टीकाओं, वेदान्तसूत्रों एवं भाष्यों तथा भगवद्गीता के अतिरिक्त कर्म एवं पुनर्जन्म से सम्बन्धित बहुत ही कम अन्य ग्रन्थ हैं। तुलनात्मक ढंग से पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ हैं। पद्मपाद (सम्भवतः शंकराचार्य के अनन्य शिष्य) कृत विज्ञानदीपिका, जिसमें कुल 71 श्लोक हैं और जिसका सम्पादन म०म० डॉ० उमेश मिश्र ने किया है (1940)। इस ग्रन्थ में संचीयमान कर्म की तुलना खेत में खड़े अन्नों से की गयी है, संचित कर्म की घर में रखे अन्नों से तथा प्रारब्ध कर्म की तुलना पेट में पड़े अन्नों से की गयी है। पेट में पड़ा भोजन पच जाता है, किन्तु इसमें कुछ समय लगता है। संचित एवं संचीयमान कर्म का नाश सम्यक् ज्ञान से होता है। किन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश कुछ काल तक उसके फलों के भोगने के उपरान्त ही होता है। इस पुस्तक ने इस पर बल दिया है कि वैराग्य से ही तत्त्व का सच्चा ज्ञान होता है, वासनाओं का नाश होता है, कर्म तथा पुनर्जन्म की समाप्ति होती है।

एक अन्य ग्रन्थ है भट्ट वामदेव कृत जन्म-मरण विचार, जो केवल 25 पृष्ठों में प्रकाशित है। यह कश्मीर के शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसमें आया है कि शिव की तीन शक्तियाँ हैं—चित्शक्ति (जो प्रकाश या चेतना के समान है), स्वातन्त्र्य (इच्छा-स्वातन्त्र्य) एवं आनन्दशक्ति। छह, कंचुक (आवरण या म्यान) है—माया, कला, शुद्ध विद्या, राग, काल एवं नियन्त्रण। जब शरीर का यन्त्र टूट जाता है, तो चेतना प्राणन (साँस) पर अवरोध करके आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर द्वारा दूसरे शरीर में ले जायी जाती है। अतिवाहिक (सूक्ष्म शरीर) मृत शरीर एवं आगामी भौतिक शरीर के बीच एक द्वार या यान का कार्य करता है। इस ग्रन्थ में अन्य बातें भी हैं, जिन्हें स्थानाभाव से हम यहाँ नहीं दे पा रहे हैं। इसमें आया है कि ईश्वर की कृपा से मनुष्य पवित्र होता है तथा दीक्षा एवं अन्य साधनों से वास्तविकता का परिज्ञान करता है और शिव के पास पहुँचता है। इसमें ऐसा कथित है कि सभी मनुष्य मुक्ति नहीं पाते, किन्तु वे, जो दीक्षा, मन्दिरों एवं सत्यज्ञान को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, नरक में पड़ते हैं। कर्म के प्रकारों एवं उनके प्रभावों को दूर करने के विषय में बहुत ही कम विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

एक अन्य ग्रन्थ है अच्युतराय मोडक लिखित (1819 ई०) 'प्रारब्धध्वान्तसंहति' (अर्थात् प्रारब्ध के विषय में अन्धकार या अज्ञान का नाश)। डॉ० एच०जी० नरहरि (न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द 5, पृ० 115-118) ने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि, तिथि एवं विषयानुक्रमणिका उपस्थित की है। अच्युतराय के अनुसार—ग्रन्थ का अर्थ है "प्रारब्ध-वाद-ध्वान्तसंहति" अर्थात् "प्रारब्ध सिद्धान्त के द्वारा उत्पन्न अन्धकार का नाश।" उन्होंने इस भावना की आलोचना की है कि गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त तक के सभी मानवीय कर्म केवल अतीत जीवन के कर्मों द्वारा प्रशासित होते हैं। उनका कथन है कि सभी मानवीय क्रियाओं के मूल में प्रारब्ध, संस्कार (उपचेतन या अव्यक्त वृत्तियाँ) एवं प्रयत्न (मानवीय प्रयत्न) पाये जाते हैं। उनका कथन है कि देहपात के उपरान्त परमेश्वर द्वारा प्रेरित संचित पुण्य एवं पाप फल देना आरम्भ कर देते हैं और उनमें जो

पुण्य (अच्छा कर्म) या पाप (बुरा कर्म) या दोनों जो अत्यन्त प्रबल होता है यथोचित शरीर का आरम्भ कर देता है। जब मिश्र (अच्छे एवं बुरे कर्म मिलकर) कर्म अत्यन्त प्रबल होते हैं तो व्यक्ति ब्राह्मण जाति में जन्म लेता है, जब पाप कर्म अत्यन्त प्रबल होता है तो तिर्यक योनि में तथा जब पुण्य कर्म अत्यन्त प्रबल होता है तो देवत्व प्राप्त करता है। आयु.सौ वर्ष की हो सकती है। भोग है अनुकूल एवं प्रतिकूल अनुभूति। सुख पुनः रम्य या प्रिय हो सकता है। रम्य एवं प्रिय एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं, क्योंकि सोना संन्यासी को रम्य (सुन्दर) लग सकता है, किन्तु यह उसके लिए प्रिय (या प्यारा) नहीं है। पुनः प्रिय के तीन प्रकार और सुख के तीन प्रकार बताये गये हैं, जिन्हें स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा रहा है। अब तक सुख लौकिककार्य (सामान्य) है, किन्तु अन्य सुख भी हैं, यथा—वैदिक, प्रतीकोपासना, आहार्य (मान लिया गया) एवं वासनात्मक। वासनात्मक सुख के तीन प्रकार हैं—सात्विक, राजस एवं तामस। इसी प्रकार दुःख के भी प्रकार बताये गये हैं, जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है। अन्य बातों का उल्लेख भी नहीं किया जा रहा है।

बहुत से विद्वानों ने कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विरोध में बातें कहीं हैं। अब हम बहुत ही संक्षेप में उन विरोधों की जाँच करेंगे। प्रथम विरोध है प्रिंगिल-पैटिसन का (आइडिया आव इम्मार्टेलिटी, आक्सफोर्ड, 1922), पूर्व जीवन की कोई स्मृति नहीं होती, बिना स्मरण के अमरता व्यर्थ है। ऐसा ही विरोध मिस लिली डूगल ('इम्पार्टेलिटी'), कैनन स्ट्रटर आदि ने भी उपस्थित किया है। इसका उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है। क्या कोई व्यक्ति अपने जीवन के प्रथम दो वर्षों की बातें स्मरण कर लेता है? यह भी विदित है कि अति वृद्धावस्था में लोग अपने पौत्रों के नाम तक ठीक से स्मरण नहीं कर पाते, अपने गत जीवन में दस वर्ष पूर्व व्यक्ति ने क्या-क्या किया, वास्तव में, ये सारी बातें स्मरण में नहीं आ पातीं। सचमुच, यह कारुणिक बात है कि हमें अतीत जीवनों की सुधि नहीं हो पाती। यदि अतीत जीवनों की सारी बातें स्मरण होने लगें तो हमारा मन व्यामोह में पड़ जाय। कर्म गुरुत्वाकर्षण के नियम के समान एक सार्वभौम कानून है, जो सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त है। गुरुत्वाकर्षण को लोग सहस्रों वर्षों से नहीं जानते थे। किन्तु वह नियम पहले से ही विद्यमान था। बहुत से लोग अपने अतीत जीवनों को स्मरण करने की बात कहते रहे हैं। लाला देशबन्धु गुप्त, पं० नेकीराम शर्मा एवं ताराचन्द माथुर ने शान्तिदेवी की कहानी पर प्रकाश डाला है। शान्तिदेवी को अपना पूर्व जीवन स्मरण हो आया था। 'थियोसोफिस्ट मंथली' (जनवरी 1925) में बहुत-सी गाथाएँ दी हुई हैं, जिनमें अतीत जीवनों के स्मरण हो आने की बात पायी जाती है। श्रीमती एनी बेसेण्ट एवं श्री लेडबीटर ने ''दि लाज आव अलसीओन (अद्यार, 1024) ई०पू० 70,000 से ई०पू० 624 तक के 48 जीवनों का उल्लेख किया है। जिनमें कुछ के चित्र भी हैं जो पूर्व जीवन से सम्बन्धित हैं।

एक अन्य विरोध है, जिसका सम्बन्ध है आनुवंशिकता (वंशानुक्रम) से। माता-पिता एवं सन्तानों में दैहिक एवं मानसिक समानुरूपता पायी जाती है। इस बात का उत्तर हम कैसे दे सकते हैं? एक ऐसा उत्तर दिया जा सकता है कि आत्मा, जिसे जन्म लेना रहता है, अपनी स्थिति के अनुकूल माता-पिता की सन्तान होता है। किन्तु बच्चे अपने माता-पिता के सर्वथा अनुरूप नहीं होते। उनमें व्यक्तिगत अन्तर तो पाया जाता ही है। कर्म यह नहीं स्पष्ट कर पाता कि व्यक्ति माता-पिता से क्या प्राप्त करता है, किन्तु वह इतना तो बता पाता है कि व्यक्ति अपने पूर्व जीवन से क्या प्राप्त करता है।

एक विरोध यह है कि इस कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करने से लोग मानवीय दु:ख के प्रति निर्मम हो जायेंगे और किसी दु:खित व्यक्ति को इस प्रकार का दु:ख भोगना ही चाहिए। किन्तु, वास्तव में, बात ऐसी नहीं है। अति प्रारम्भिक वैदिक काल से ही लोग दान एवं करुणा-प्रदर्शन के गुणों की प्रशंसा करते रहे हैं। ऋग्वेद (10.117.6) में आया है—जो व्यक्ति केवल अपने लिए खाना पकाता है और केवल अकेला खाता है, वह पाप करता है" (कवलाद्यो भवति केवलादी)। बृ०उप० (5.2.3) ने सभी लोगों के लिए तीन कर्तव्य निर्धारित किये हैं—आत्म-संयम, दान एवं दया। यदि समर्थ व्यक्ति किसी की सहायता नहीं करता है तो वह कर्तव्यच्युत कहा जायेगा। यह सम्भव है कि दु:ख उठाने वाले व्यक्ति के कर्म का फल ही ऐसा रहा हो कि वह सहायता करने वालों की कृपा पायेगा।

एक अन्य विरोध निम्नोक्त है। पृथिवी की जन-संख्या बढ़ती जा रही है। प्रश्न उठता है—"अतिरिक्त जीव कहाँ से आते जा रहे हैं? देखिए इस विषय में जे०ई० संजन की पुस्तक 'डोग्मा ऑव दी-इन्कारनेशन' (पृ० 81) एवं बर्थेलोट का मत ('ट्रांसमाइग्रेशन ऑव सोल्स')। कतिपय प्राणियों की जातियाँ समाप्त हो गयी हैं और बहुत से जीव समाप्त होते जा रहे हैं, यथा-सिंह। जो लोग कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, ऐसा कह सकते हैं, कि जो जीव पशुओं के रूप में थे अब मानवों के स्वरूप में आ रहे हैं, क्योंकि उनके बुरे कर्म, जिनके फलस्वरूप वे निकृष्ट कोटियों में विचरण कर रहे थे, अब नष्ट हो रहे हैं।

कुछ पुराण ऐसा कहते हैं कि जो व्यक्ति अति पापी होता है वह निम्नतर अवस्थाओं को प्राप्त होगा। वायुपुराण (14.34-37) में आया है कि वह पहले पशु होगा, तब हिरण, उसके उपरान्त पक्षी, तब रेंगने वाला कीट और इसके उपरांत जंगम (वृक्ष या पाषाण)। थियोसोफिस्ट तथा आजकल के कुछ अन्य विद्वान् ऐसा कहते हैं कि एक ओर मनुष्य हो जाने पर प्रत्यावर्तन नहीं होता, अर्थात् प्रतीपगमन (पीछे लौटना) नहीं होता। किन्तु कठोपनिषद् (5.6-7) में स्पष्ट आया है कि मृत्यु के उपरान्त कुछ लोग वृक्ष के तने हो जाते हैं और कुछ लोग विभिन्न शरीर-रूप धारण करते हैं, और यह सब उनके

कर्मों एवं ज्ञान पर निर्भर होता है।[1]

उपर्युक्त सभी प्रमाणों को हम केवल अर्थवाद कहकर छोड़ नहीं सकते, अर्थात् ऐसा नहीं समझ सकते कि वे लोग पापियों को डराने-धमकाने के लिए कहे गये हैं। डॉ० राधाकृष्णन ने निर्देश दिया है कि यह सम्भव है कि पशुओं के रूप में पुनर्जन्म की बात उन लोगों के विषय में एक लाक्षणिक प्रयोग है जो मानवरूप में पाशविक गुणों वाले होते हैं।[2]



1. छा०उप० (5.10-7), मनु० (12.9, 12.62-68), याज्ञ० (3.213-215=मनु० 12.53-59) एवं योगसूत्र (12.13)।
2. ऐन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ, सन् 1932 का संस्करण, पृ० 292

4

धर्मशास्त्रों के अनुसार कर्म-सिद्धान्त

कर्म और कर्मवाद भारतीय चिन्तनधारा की एक आधारभूत मान्यता है। भारतीय दर्शन,भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म कर्मवाद को पृष्ठभूमि के रूप में अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं। कर्म एवं कर्मवाद भौतिक और अभौतिक चेतन और अचेतन जगत् की समस्त घटनाओं की व्याख्या, कार्यकारण सिद्धान्त को आधार बना कर करता है। यह एक ऐसा व्यापक शाश्वत् और अनुलंघ्य नियम है, जिसके अधीन समस्त सृष्टि है, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी कोई भी इस नियम से परे नहीं है। जहाँ यह एक ओर विश्व की वैज्ञानिक व्याख्या करता है, वहाँ दूसरी ओर यह विश्व की नैतिकता के लिए एक व्यापक आधार प्रस्तुत करता है। यह एक सर्वमान्य मत है कि कर्म की शृंखला ने संसार-चक्र को प्रवाहित्त किया है और आगे भी वह इसे पल्लवित और पुष्पित करता रहेगा। कर्म सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म की मान्यता को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है। यही कारण है कि भारतीय शास्त्रों में कर्म और पुनर्जन्म का महत्त्व इतना व्यापक हो गया है कि इसे माने बिना किसी प्रकार की व्यवस्था या किसी प्रकार के सिद्धान्त का संगत विवेचन सम्भव नहीं है।

कर्म के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में भी बड़ी व्यापकता से विचार किया गया है। कर्म का अर्थ, कर्म स्वरूप एवं क्षेत्र, कर्म के प्रकार, कर्म का वर्गीकरण, विपाक प्रक्रिया में कर्म, कर्म का कायिक वाचिक और मानसिक भेद, कर्म के शुक्ल और अशुक्ल भेद, कर्म तथा उसका पल, कर्मवाद या कर्म सिद्धान्त आदि प्रमुख विषय हैं, जिन पर धर्मशास्त्रों ने अपना विचार व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं पर धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण में परस्पर मतभेद अवश्य है, किन्तु इस मान्यता में कर्म का फल कर्त्ता को प्राप्त होता है और कर्म सृष्टि और प्राणी के जन्म-चक्र का संचालक है, कोई मतभेद नहीं दिखाई देता है। धर्मशास्त्रों का समाजदर्शन भी इस कर्म, कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों से बँधा हुआ है, इसलिए धर्मशास्त्रों के समाज, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना और कार्य एवं प्रयोजन को समझने के लिए कर्म, कर्मवाद और पुनर्जन्म का एक साधारण ज्ञान अति आवश्यक है।

कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना है, इसका सामान्य अर्थ करना, व्यापार या हलचल होता है। 'करना' अर्थ में मनुष्य जो कुछ करता है, वही उसका कर्म है, इसी सामान्य

अर्थ में गीता में इसका उपयोग हुआ है। पर यदि कर्म के अर्थ को व्यापक अर्थ में देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि —"मनुष्य जो कुछ करता है—खाना-पीना, खेलना, रहना, बैठना, श्वासोच्छ्वास करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना-लेना, जगना, मारना, मनन, और अध्ययन करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ-याग करना, खेती, व्यापार और धन्धा करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि ये सब कर्म हैं।[1]

प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञ-याग ही वह कर्म है, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वैदिक ग्रन्थ में यज्ञ-याग की विधि बताई गई है, परन्तु इसके विषय में कहीं-कहीं परस्पर विरोध भी परिलक्षित होता है। अतएव उनकी एकता एवं संगति दिखलाने के लिए जैमिनि ने पूर्वमीमांसाशास्त्र की रचना की। जैमिनि के अनुसार वैदिक और श्रौत यज्ञ-याग करना ही प्रधान कर्म है, इसे वे धर्म कहते हैं। मनुष्य जो कुछ करता है वह सब यज्ञ के लिए करता है। यदि धन कमाता है तो यज्ञ के लिए और धन-धान्य का संग्रह करता है तो भी यज्ञ के लिए।[2] धर्म यज्ञ का एक साधन है, वह स्वतन्त्र रीति से साध्य वस्तु नहीं है। इसलिए यज्ञ से जो मिलने वाला फल है, उसी में उस कर्म का भी समावेश हो जाता है। उस कर्म का अलग से कोई फल नहीं होता। मीमांसकों के अनुसार यज्ञ करने से एक प्रकार की सुख की प्राप्ति होती है और इस सुख की प्राप्ति के लिए व्यक्ति यज्ञ बड़ी ही निष्ठा से करता है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में भी यज्ञ-याग आदि का काम्य कर्मों का निर्देश करता है।[3] ब्रह्म ज्ञान के विना किये जाने वाले यज्ञादि कर्म ही है। इसी तरह यह भी मीमांसकों के ही मत का अनुकरण है कि—'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'[4]-अर्थात् यज्ञ के लिए किये गये कर्म बन्धक नहीं हैं। शेष सब कर्म, बाधक हैं। गीता में कर्म का लक्षण बतलाते हुए भी कहा गया है कि—अक्षर परब्रह्म से पंचभूतादि विविध सृष्टि निर्माण की जो क्रिया है, वही कर्म है।[5]

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि कर्म व्यापार अथवा क्रिया है। चाहे वह मनुष्यकृत हो, सृष्टि के अन्य पदार्थों की क्रिया हो अथवा मूल सृष्टि से उत्पन्न होने की क्रिया हो उसका परिणाम सदैव केवल इतना होता है कि एक प्रकार का नाम-रूप बदल कर उसकी जगह दूसरा नाम-रूप उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि इन नाम रूपों से आच्छादित मूल द्रव्य कभी नहीं बदलता, वह सदा एक सा ही रहता है। उदाहरणार्थ-बुनने की क्रिया से 'सूत' का नाम बदल कर द्रव्य को वस्त्र का नामरूप मिल जाता है। कुम्हार के व्यापार से मिट्टी के नाम-रूप के स्थान पर घट का नाम-रूप मिल जाता है।

1. गीता रहस्य, तिलक, कर्मयोगशास्त्र प्रकरण, पृ० 55
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 25.26
3. वेद वादरताः प्रार्थनान्यदस्तीतिवादिनः—गीता, 2.42
4. वही, 3.9
5. वही, 8.3

कर्म के स्वरूप तथा क्षेत्र पर 'मनुस्मृति' तथा अन्य धर्मशास्त्रों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मनुस्मृति में कर्म के द्वारा चारों वर्णों, आश्रमों आदि कर्मों का निर्देश किया गया है। जैसे—ब्राह्मण का कर्म वेदाध्ययन, क्षत्रिय के लिए युद्ध, वैश्य के लिए वाणिज्य आदि। वर्ण आश्रम कर्म का सम्यक् प्रतिपादन स्मृति ग्रन्थों में किया गया है। इसलिए इन्हें 'स्मार्त कर्म' या 'स्मार्त यज्ञ' कहते हैं। इन श्रौत और स्मार्त कर्मों के अतिरिक्त और भी धार्मिक कर्म हैं, जैसे—व्रत, उपवास आदि। इनका विस्तृत प्रतिपादन पुराणों में किया गया है इसलिए इन्हें पौराणिक कर्म कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रतिपादक शास्त्र के आधार पर कर्मों के नाम श्रौत कर्म (जो श्रुति द्वारा प्रतिपादित होते हैं), स्मार्त कर्म (जिनका प्रतिपादन स्मृतियों के द्वारा किया जाता है) आदि माने गये हैं।

धर्मशास्त्रों में कर्मों के वर्गीकरण के लिए विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न आधार अपनाये गये हैं। कर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वर्गीकरण के इन आधारों का एक संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

विधान के आधार पर कर्म के भेद

विधान के आधार पर कर्मों के दो भेद किये गये हैं—विहित कर्म तथा निषिद्ध कर्म। विहित कर्म के अन्तर्गत नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों को रखा गया है, जो कर्म प्रतिदिन किये जाने वाले हैं, जैसे—स्नान, संध्या आदि, वे नित्य कर्म कहलाते हैं। जिनके करने से कुछ विशेष फल अथवा अर्थ की सिद्धि नहीं होती, परन्तु उनके न करने से दोष अवश्य लगता है। नैमित्तिक कर्म उसे कहते हैं, जिन्हें पहले किसी निमित्त के उपस्थित हो जाने पर करना पड़ता है, जैसे—अनिष्ट ग्रहों की शान्ति, प्रायश्चित आदि। जिसके लिए हम शांति प्रायश्चित करते हैं, वह निमित्त कारण यदि पहले न होगा तो हमें नैमित्तिक कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। काम्य कर्म हम उसे कहते हैं जब हम कुछ विशेष इच्छा रखकर उसकी सफलता के लिए शास्त्रानुसार कर्म करते हैं। जैसे वर्षा होने के लिए या पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ करना, ये तीनों विहित कर्म के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि शास्त्रों में इनको करने का विधान किया गया है। कुछ कर्म ऐसे भी हैं, जो नित्य नैमित्तिक और काम्य कर्म के अन्तर्गत नहीं आते, जैसे—मदिरापान, असत्य भाषण इत्यादि, जिन्हें शास्त्रों ने त्याज्य कहा है, इसलिए ये निषिद्ध कर्म कहलाते हैं, क्योंकि शास्त्रों ने इनको करने का निषेध किया है।

प्राकृतिक गुण के आधार पर कर्म के भेद

प्रकृति के तीनों गुणों के आधार पर मनु ने कर्म को तीन रूपों में विभाजित किया है। जैसे—सात्त्विक, राजसिक व तामसिक। मनु ने यह भी कहा है कि मनुष्य को सत्त्व गुण वाले कर्मों को सर्वाधिक करणीय समझना चाहिए। सात्त्विक कर्मों के अन्तर्गत वेद का अध्ययन, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धर्म कार्य, आत्मा का मनन आदि सम्मिलित हैं। सात्त्विक कर्म की सामान्य विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि जिस कर्म को करने से भूत, वर्तमान तथा भविष्य में मनुष्य लज्जित नहीं होता, जिस कर्म को सदैव

जानने की इच्छा रहती है तथा जिस कर्म से मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है, वह सत्त्व गुण से प्रभावित होने के कारण सात्विक कर्म है।[1]

सात्विक कर्म में धर्म की प्रधानता रहती है। सात्विक कर्मों को करने से मनुष्य को देवत्व की प्राप्ति होती है। अत: मनु के अनुसार मनुष्य को अधिक से अधिक सात्विक कर्म करते रहना चाहिए। सात्विक कर्म ही श्रेष्ठ और उत्तम कर्म है। दूसरा कर्म राजसिक कर्म है। राजसिक कर्मों में मनु ने उन कर्मों को रखा है, जिनके प्रति शीघ्र ही रुचि हो जाती है और फिर अधैर्य उत्पन्न होता है, ऐसे कर्म में प्रवृत्ति को अनुचित माना जाता है। जैसे—निरन्तर विषय भोग की इच्छा रखना, दूसरों पर विजय प्राप्त करना आदि। रज में अर्थ की प्रधानता रहती है, अर्थात् राजसिक कर्म अर्थ प्रेरित होते हैं। सात्विक कर्मों के प्रभाव से जहाँ देवत्व की प्राप्ति होती है, वहीं राजसिक कर्मों से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। तीसरा कर्म, तामसिक कर्म है। तम के गुण से उत्पन्न कर्म तामसिक कर्म कहलाते हैं। लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, अनाचार, यावकवृत्ति तथा प्रमाद आदि तामसिक कर्म कहलाते हैं। तम में काम की प्रधानता रहती है। तामसिक कर्मों के करने से मनुष्य मृत्यु के पश्चात् निकृष्ट गति या तिर्यक् (वृक्ष, पशु आदि) की योनि प्राप्त करता है। अत: मनु के अनुसार तामसिक कर्मों से निरन्तर बचना चाहिए।

गीता में भी कर्म के उसी प्रकार तीन भेद किये गये हैं—सात्विक, राजसिक तथा तामसिक। यहाँ तीनों कर्मों की व्याख्या कर्त्ता के मन में फल के प्रति उठने वाली प्रवृत्ति के आधार पर किया गया है। जो कर्म कर्मफल की आशा त्यागकर बिना आसक्ति के धर्मानुसार किये जाते हैं, उन्हें सात्विक कर्म कहते हैं। फल की इच्छा रखते हुए अहंकार-पूर्ण मनोभाव से किया गया कर्म राजसिक है तथा तामसिक कर्म वह है जो मोहवश वर्तमान तथा भविष्य को सोचे विना किया जाता है।[2]

कर्म विपाक प्रक्रिया के आधार पर कर्म के भेद

कर्म विपाक प्रक्रिया अर्थात् कर्म एवं कर्म फल का चक्र अनन्त है। इस प्रकिया में प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है। इस संदर्भ में कर्म का जो भेद सामान्यत: किया जाता है, वह मनुस्मृति और गीता के कर्म की सामान्य अवधारणा से भिन्न है। कर्म विपाक प्रक्रिया में कर्म के तीन भेद माने गये हैं—

1. संचित कर्म
2. प्रारब्ध कर्म
3. संचीयमान अथवा क्रियमाण कर्म।

---

1. वेदाभ्यासस्तयो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रह·।
   धर्मक्रियात्मचित्ता च सात्त्विक गुणलक्षणम्॥—मनुस्मृति, 12.31
2. गीता, 18.23,24

इन तीनों प्रकार के कर्मों को तिलक जी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि किसी मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है, चाहे वह कर्म इस जन्म में किया गया हो या पूर्व जन्म में, वह सब संचित् कर्म कहा जाता है। इसी संचित् कर्म का दूसरा नाम 'अदृश्य' है और मीमांसकों की परिभाषा में इसे 'अपूर्व' भी कहा गया है। इन नामों की अन्वर्थता के संदर्भ में यह कहा गया है कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है उसी समय के लिए वह केवल दृश्य रहती है, उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया स्वरूपत: तो शेष नहीं रहती, किन्तु उसके सूक्ष्म अवयव अदृश्य संस्कार शेष रहते हैं, जिन्हें न दिखाई देने के कारण अदृश्य और विलक्षण भावी फल के कारण होने से अपूर्व कहा गया है। संचित कर्मों को एक साथ भोगना असम्भव है, क्योंकि इनके परिणामों के साथ-साथ शुभ और अशुभ दो प्रकार के कर्म जुड़े रहते हैं, जैसे—कोई संचित कर्म स्वर्ग-पद, तो कोई नरक पद हो सकता है। इसलिए इन दोनों के कर्म फलों को एक ही साथ भोगना सम्भव नहीं है, इन्हें एक के बाद एक क्रमश: भोगना पड़ता है। अत: संचित् कर्म में से जितने कर्मों के फलों का भोगना पहले प्रारम्भ होता है उतने अंश को ही प्रारब्ध कर्म कहते हैं। क्रियमाण का तात्पर्य है कि वह कर्म जो अभी हो रहा है अथवा जो अभी किया जा रहा है।[1]

अन्य आधारों पर कर्म के भेद

कर्म के भेद के उक्त आधारों के अतिरिक्त कुछ अन्य आधार भी धर्मशास्त्रों में मिलते हैं, जिनके आधार पर कर्मों का वर्गीकरण होता है। इन आधारों में कभी कर्म के कारणों जैसे—मन, वचन, और शरीर को दिया जाता है, तो कभी कर्मों से होने वाले भले या बुरे फल को दिया जाता है। मनु के अनुसार समस्त कर्म मन, वाणी तथा शरीर की ही उपज है और ये कर्म शुभ अथवा अशुभ भाव उत्पन्न करते हैं, जिनके अनुसार मनुष्य की उत्तम, मध्यम तथा अधम गति (जन्मान्तर की प्राप्ति) होती है।[2] मनु के अनुसार, शरीर के कर्म दोष या पाप कर्म मनुष्य की वृक्षादि योनि तथा मन के कर्म दोष चाण्डालादि कुल में जन्म लेने के लिए विवश करते हैं।[3] एक व्यक्ति शुभ कर्मों से देवभाव, शुभ अशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्य भाव को प्राप्त होता है तथा केवल अशुभ कर्मों से नीचे योनियों में जन्म लेता है। उक्त तीनों आधारों से अर्थात् शरीर वचन और मन से होने वाले पाप कर्मों की गणना करते हुए मनु ने उन्हें मानसिक पाप कर्म, वाचिक पाप कर्म तथा कायिक पाप कर्म कहा है और उनमें विभिन्न अशुभ

---

1. गीता रहस्य, तिलक, पृ० 284
2. शुभाशुभ फलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
   कर्मजा गतयोनृणामुच्चाधममध्यमाः॥—मनु०, 12.3
3. देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
   तिर्यक्त्वं तामसा नित्यामित्येषा त्रिविधा गतिः॥—वही, 12.40

कर्मों की गणना भी की है।[1]

1. मानसिक पाप कर्म—अन्याय से दूसरे की वस्तु प्राप्त करने की इच्छा, मन से दूसरों का अनर्थ चाहना और परलोक के अस्तित्व को न मानना—ये तीन मानसिक अशुभ कर्म हैं।

2. वाचिक पाप कर्म—कठोर तथा असत्य वचन कहना, चुगली करना, अनावश्यक विवाद करना—ये चार वाचिक अशुभ कर्म हैं।[2]

3. कायिक पाप कर्म—अन्याय से दूसरों की वस्तु या धन लेना, शास्त्र निषिद्ध हिंसा करना तथा परस्त्री गमन—ये कायिक या शारीरिक पाप कर्म हैं।[3]

मनु के अनुसार, शुभ-अशुभ कर्मों के परिणामों का विवेचन उनसे प्राप्त होने वाले योनियों के आधार पर किया गया है। ब्रह्म हत्या करने वाला मनुष्य कुत्ता, बकरी, पक्षी आदि अथवा चाण्डाल योनि में जन्म लेता है।[4] मद्यपान करने वाला व्यक्ति कीड़े-मकोड़े अथवा हिंसक पशुओं की योनि प्राप्त करता है। चोरी करने वाला मकड़ी या पिशाच बनता है।[5] गुरु पत्नी से सम्भोग करने वाला व्यक्ति बाँस, लता या कच्चा मांस खाने वाले पशु या क्रूर कर्म करने वाला प्राणी बनता है। चाण्डाल स्त्री से यौन सम्बन्ध रखने वाले, परस्त्री गमन करने वाले तथा विभिन्न पाप करने वाले मनुष्यों की अधोगति का भी उल्लेख मनु ने किया है।[6] इसी प्रकार मनु ने शुभ कर्मों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि वेद का अध्ययन, तप, गुरुसेवा, सत्य, अहिसा और इन्द्रिय संयम आदि शुभ कर्म हैं।[7] सबसे उत्तम कर्म आत्मज्ञान है, जो मोक्ष का मार्ग है। कर्मों का वर्गीकरण करते समय मनु ने कर्त्ता की कर्मफल के प्रति होने वाली मनोवृत्ति पर विशेष ध्यान दिया है। कर्म और कर्मफल परस्पर सम्बद्ध होते हैं। प्रत्येक शुभ एवं अशुभ कर्म अपना फल कर्त्ता को अवश्य देता है और कर्त्ता अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भी अवश्य पाता

1. परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्ट चिन्तनम्।
   वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥—मनु०, 12.5
2. पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
   असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥—वही, 12.6
3. अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
   परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥—वही, 12.7
4. श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोधा विभग पक्षिणाम्।
   चाण्डालपुक्कसानां च ब्रह्मज्ञ यौनिमृच्छति॥—वही, 12.55
5. कृमिकीटपतङ्गानां न विडगुजा चैव पक्षिणाम्।
   हिंस्त्राणां चैव सात्वानां सुरा यो ब्रह्मणो व्रजेत॥—वही, 12.56
6. तृण गुल्मलतानां च क्रव्यादा दष्ट्रिणामपि।
   क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः॥—वही, 12.58
7. वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
   अहिंसा गुरुसेवा व निःश्रेयस्करः परम्॥—वही, 12.83

है। यह एक यांत्रिक प्रक्रिया के समान चलता है किन्तु कर्त्ता को उसके कर्मफल से बाँधने में केवल कर्म पर्याप्त नहीं है, उन कर्मफलों के प्रति कर्त्ता की मनोवृत्ति ही वह मुख्य कारण है, जो कर्त्ता को उसके लिए कर्म के फल से बाँधती है। कर्म यदि कर्मफल की प्राप्ति की कामना से कर्म करता है तो कर्म का फल उसे अवश्य मिलेगा। किन्तु यदि कर्त्ता रूप में कर्म के फल की प्राप्ति की इच्छा न रखकर केवल धर्म बुद्धि या कर्तव्य बुद्धि से कर्म करता है, तब उसे कर्म फल नहीं मिलेगा। उसके लिए किये हुए कर्म उसकी आत्मशुद्धि करते हैं और वह मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर मनु ने वैदिक कर्मों के दो भेद किये हैं—प्रवृत्त कर्म, निवृत्त कर्म। इन्हीं को प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग भी कहते हैं। प्रवृत्ति मार्ग का शाब्दिक अर्थ है वह मार्ग जो मनुष्य को संसार की ओर प्रवृत्त कराता है। कर्ता को उसके कर्मों के अनुसार फल देकर संसार-चक्र को चलाने में सहायक होता है। निवृत्ति मार्ग कर्म भी कर्म है किन्तु यह कर्त्ता को उसके फल से हटाकर मोक्ष की ओर ले जाने में सहायक होता है। अत: इसे निवृत्ति मार्ग कहते हैं।

मनु ने प्रवृत्ति और निवृत्ति कर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रवृत्त कर्म वे कर्म हैं,जिसमें कर्त्ता को स्वर्ग एवं सुखादि की प्राप्ति होती है। ये कर्म संसार में प्रवृत्त कराने वाले होते हैं। उदाहरण के लिए वैदिक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों को लिया जा सकता है। इस लोक में या परलोक में इच्छापूर्वक (सकाम भाव से) किया गया (ज्योतिष्टोम यज्ञ रूप) कर्म संसार में प्रवृत्ति का साधक होने से प्रवृत्त कर्म कहा जाता है। द्वितीय-नि:श्रेसय (मुक्ति) साधक संसार से निवृत्ति कराने वाला (प्रतीकोपासनादि रूप) तथा इच्छा रहित निष्काम भाव से ब्रह्मज्ञान के अभ्यासपूर्वक किया गया कर्म (संसारनिवृत्ति साधक होने से) निवृत्त कर्म कहा जाता है।[1] सामान्यतया निष्काम भाव से किया गया कर्म निवृत्त कर्म कहा जाता है। और सकाम भाव से किया गया कर्म प्रवृत्त कर्म कहा जाता है।[2] निष्काम कर्म 'राग विहीन' कर्म होते हैं। इन कर्मों के द्वारा भी वचन की उत्पत्ति नहीं होती है। अत: इनके द्वारा जाति, आयु, भोग—ये तीनों की प्राप्ति नहीं होती। निष्काम बुद्धि से किया हुआ कर्म आगे बन्धन पैदा नहीं करता। सकाम कर्म के द्वारा ही जाति, आयु और भोग—ये तीनों प्राप्त होते हैं। इन कर्मों के द्वारा ही व्यक्ति एक विशिष्ट स्थान, कुल, वातावरण, जाति तथा शरीर को प्राप्त करता है।

शरीर को 'भोगायतन' कहा गया है, सत्य तो यह है कि कर्म के द्वारा शरीर प्राप्त होता है और साथ ही साथ यह भी सत्य है कि शरीर के द्वारा कर्म भी होते हैं। संसार स्वयं कर्मजाल है। इसकी उत्पत्ति सब प्राणियों के कर्मों के ऊपर आधारित है। कर्मों को

---

1. **सुखाभ्युदायिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च।**
   प्रवृत्तं च निवृत्तं च हि विधं कर्म वैदिकम्॥—मनु०, 12.88
2. **इह-वामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।**
   निष्काम ज्ञानपूर्व तु निवृत्तमुपदिश्यते॥—वही, 12.89

भोगने के हेतु देह की आवश्यकता होती है। शरीर द्वारा किये गये कर्मों को चार वर्गों में रखा जा सकता है—

1. शुक्ल (पुण्य या धर्म)
2. कृष्ण (पाप या अधर्म)
3. शुक्ल कृष्ण (पुण्य-पाप मिश्रित)
4. अशुक्ल अकृष्ण (न पुण्य न पाप)

जिन कर्मों से अपना-पराया किसी का अहित नहीं होता, किसी प्राणी को कष्ट नहीं होता, बल्कि जो केवल परहित साधक होते हैं, केवल दूसरों को सुख पहुँचाते हैं, वे कर्म ही 'शुक्ल' कर्म कहे जाते हैं। समाज के लिए अकल्याणकारी अर्थात् असामाजिक कर्म जिसके द्वारा दूसरों का अहित होता है तथा प्राणियों को कष्ट होता है, वे कर्म 'कृष्ण कर्म' कहलाते हैं। इस प्रकार के कर्म करने वाले व्यक्ति को पापी या पापात्मा कहा जाता है।

साधारणतया सामान्य व्यक्ति के कर्म पाप-पुण्य मिश्रित होते हैं, ऐसे व्यक्तियों के कर्मों के द्वारा समाज में किसी का अहित होता है, जिसके फलस्वरूप उसको दुःख प्राप्त होता है और किसी का हित होता है, जिसके परिणामस्वरूप उसको सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्मों के फलों के अनुरूप गुणों वाली वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और इनके अनुसार ही प्राणी जाति, आयु और भोग प्राप्त करता है और सुख-दुःखादि फल भोगता है। इन वासनाओं के द्वारा कर्म में प्रवृत्ति होती है और पुन: कर्म के द्वारा वासनाएँ बनती हैं। इस रूप में 'पाप-पुण्य मिश्रित' कर्मों वाले प्राणियों को उनकी मनोवृत्तियों के कारण सुख-दुःख रूपी कर्म फल प्राप्त होते हैं। वासनामय कर्म अर्थात् रागपूर्ण कर्म ही प्राणियों को निरन्तर संसार-चक्र में घुमाते रहते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि वासनामय कर्म ही संसार है। इनके बिना संसार चक्र की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। कर्म स्वयं फल प्रदान करने की शक्ति नहीं रखते। वह तो कर्त्ता की मनोवृत्ति है जो फल प्रदान करने की क्षमता कर्म में उत्पन्न करती है, चूँकि ये कर्म शुभ और अशुभ मिश्रित होते हैं, अत: इन्हें 'शुक्ल-कृष्ण', 'मिश्रित कर्म' या 'पाप-पुण्य मिश्रित' कर्म कहा जाता है।

जो कर्म फलों की आशा से रहित होकर किये जाते हैं, उन निष्काम कर्मों को (अशुक्ल-अकृष्ण) कर्म कहते हैं। ये कर्म किसी की मनोवृत्ति से नहीं किये जाते हैं। भावनाओं से प्रेरित होकर न किये जाने के कारण इनसे धर्म-अधर्म रूप कर्माशय उत्पन्न नहीं होते और इसी कारण इन कर्मों का फल भी प्राप्त नहीं होता। कर्मयोगी लोग इस प्रकार के कर्म करते हैं। ये कर्म वासनारहित होते हैं। अत: ये धर्म-अधर्म रूप नहीं होते। यह तो स्पष्ट है कि कर्मों को किये विना प्राणी का शरीर जीवित नहीं रह सकता, फिर भी कर्मों में प्रवृत्त करने वाली वासना से बचा जा सकता है क्योंकि वासना के कारण

ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश उत्पन्न होते हैं। वासनारहित कर्म केवल कर्तव्य के लिए ही किये जाते हैं। आत्म सन्तुष्ट व्यक्ति के लिए कोई भी फल शेष नहीं रह जाता, उसके जितने कार्य होते हैं वे सब वासनारहित होते हैं। उसके सम्पूर्ण कार्य ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा किये किये जाते हैं अत: वे समाज के कार्य होते हैं। वह अज्ञानी लोगों की तरह अपने को कर्म करने का अभिमानी कर्त्ता समझकर उनमें आसक्त नहीं होता, यही कारण है कि वह समस्त कर्मों को करते हुए भी निर्लिप्त रहता है।[1]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि (मनुष्य) प्रवृत्त कर्म का सेवन कर देवों की समानता (स्वर्ग) पाता है। निवृत्त कर्म का सेवन करता हुआ पंचभूत (पृथ्वी, जलवायु, तेज, और आकाश) का अतिक्रमण कर पुनर्जन्म रहित होकर मोक्ष प्राप्त करता है।[2]

कर्म तथा उसका फल

कर्म और उसके फल के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों की मान्यता का प्रभाव भारतीय जीवन और दर्शन दोनों में परिलक्षित होता है। जीवन में यह विश्वास है कि व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम और निम्न गति प्राप्त करता है। दर्शनशास्त्र में कर्म और उसके फल के सम्बन्ध की सम्भावना, अनिवार्यता और अपरिहार्यता आदि का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है। योग दर्शन में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कर्म और उसके फल को समझने के लिए क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय के स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्ध को समझना आवश्यक है। क्लेश पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये कर्म के कारण बनते हैं तथा पुनः कर्मों से उत्पन्न होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बीज और वृक्ष की भाँति क्लेश और कर्म का सम्बन्ध चलता रहता है। प्रथमत: कर्म क्लेश से उत्पन्न होता है और आगे चलकर वह क्लेशों को जन्म देता है और पुनः क्लेश से कर्म। इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है। कर्मों के विपाक या फल को तीन वर्गों में रखकर समझा जा सकता है—

1. जाति,
2. आयु, और
3. भोग।

कर्म के कारण ही व्यक्ति विभिन्न उच्च, मध्य एवं निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करता है। किसी योनि विशेष से जन्म लेना न तो आकस्मिक है और न उसकी इच्छा पर निर्भर है। यह तो उसके पूर्व जन्म के कर्मों के ऊपर आधारित है, वह एक बाध्यता है। उसके पूर्व कर्म जिस प्रकार के जन्म के उपादान संग्रह करेंगे। उस प्रकार का जन्म उसे

---

1. कल्याण, परलोक और पुनर्जन्मांक, कर्म विपाक मीमांसा से, उद्धृत, पृ० 251
2. वही

अवश्य ही ग्रहण करना पड़ेगा।

अतः कर्म का प्रथम फल या परिणाम जाति या जन्म है। कर्म का दूसरा परिणाम आयु या जीवन की अवधि है। विभिन्न वर्ग के प्राणियों की आयु भिन्न-भिन्न होती है। कुछ प्राणी कुछ क्षण या कुछ दिन तक जीवित रहते हैं, तो दूसरे कुछ महीने या कुछ वर्ष। ये भी प्राणी संसार में हैं जो सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहते हैं। प्रत्येक व्यक्तियों के जीवन में भी भेद पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि कोई प्राणी किसी वर्ग विशेष में जन्म ले लेता है, तो वह उस वर्ग की अधिकतम आयु तक जीवित रहे। इस कम या अधिक जीवन अवधि का कारण भी कर्म है, जिसका कर्म जितने दिन के भोग के लिए रहता है, वह प्राणी उतने दिन तक जीवित रह पाता है। कर्म का तीसरा परिणाम फल भोग है। भोग दुःख और सुख के अनुभव को कहा जाता है, प्राणियों का जन्म तथा जीवन इस भोग के लिए ही प्राप्त होता है। जिस प्राणी का कर्म जिस प्रकार के भोग की सामग्री का संग्रह करने में समर्थ होता है, उस प्राणी को उसी प्रकार का फल भोगना पड़ता है। जीवन और भोग भी परस्पर सम्बद्ध हैं, जीवन भोग के लिए प्राप्त होता है और भोग जीवन के लिए सम्भव है। भोग समाप्ति होते ही जीवन समाप्त हो जाता है, किन्तु जीवन की समाप्ति हो जाने से कर्म फल से छुटकारा नहीं मिल जाता। जीवन के न रहने पर भी कर्म के आशय बने रहते हैं। आशय का तात्पर्य है कर्मों के वासनात्मक संस्कार। जन्म, जीवन और भोग कर्मों के दृश्य या बाह्य विपाक हैं, किन्तु आशय कर्मों के अन्तः विपाक हैं। ये आशय ही जन्म, जीवन और भोग की भूमिका उत्पन्न करते हैं। एक जन्म के जीवन और भोग के समाप्त होते ही दूसरे जन्म के जीवन और भोग की भूमिका आशय में तैयार रहती है।[1] अतः मृत्यु एक शरीर की समाप्ति है एक जीवन की समाप्ति नहीं है। इसी बात को गीता में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मृत्यु प्राप्त व्यक्ति का पुनर्जन्म भी निश्चित है।[2]

जन्म-मृत्यु तथा कर्म फल भोग की परंपरा का नाम ही संसार या बन्धन है, इससे छुटकारा प्राप्त करने के लिए विभिन्न दर्शनों में उपाय बतलाये गये हैं। अधिकांश दर्शन कर्म-संन्यास का समर्थन करते हैं, किन्तु धर्मशास्त्रों तथा गीता में कर्म करते हुए कर्म बन्धन से छुटकारा दिलाने वाले मार्ग का विशेष समर्थन है। मनु ने उसे निवृत्त मार्ग कहा है और गीता में उसे निष्काम कर्म या कर्मयोग कहा गया है।

निष्काम कर्म

गीता के अनुसार निष्काम कर्म वह है जो फल की आशा को त्याग कर किया जाता है। सुख-दुःख, जय-पराजय, हानि-लाभ का विचार या आशा किये विना निष्काम बुद्धि से संद्कार्य में लगे रहने ही को निष्काम कर्म योग कहा गया है। निष्काम कर्मयोग

1. योगसूत्र, व्यासभाष्य, 2.13
2. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्यं च।—गीता, 2.2

मोक्ष का सरलतम उपाय है। एक बार किया गया कर्म कभी समाप्त नहीं होता, उसकी प्रतिक्रिया चलती रहती है। अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित करके स्वयं को निमित्त मानना और कर्म के परिणाम पर अपना अधिकार न मानते हुए मोह और अहंकार से परे रहकर अपने धर्म के अनुसार बरताव करना निष्काम कर्मयोग है। गीता में विवेचन है कि संसार के चाल-ढाल परखने से दिखलाई पड़ता है कि आत्मज्ञानी पुरुषों के जीवन बिताने के अनादि काल से दो मार्ग चले आ रहे हैं।[1] पूर्ण आत्म ज्ञान प्राप्त करने पर जहाँ शुक जैसे पुरुष संसार छोड़कर आनन्द से भिक्षा माँगते फिरते हैं, वहीं जनक सरीखे आत्म ज्ञानी के पश्चात् भी स्वधर्मानुसार लोगों के कल्याणार्थ संसार के सैकड़ों कर्मों में अपने को समाहित किये हुए पाये गये हैं। पहले मार्ग को सांख्य या सांख्यनिष्ठा कहते हैं और दूसरे को कर्मयोग या योगनिष्ठा कहते हैं। यद्यपि दोनों निष्ठाएँ प्रचलित हैं पर कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, ऐसा माना गया है। कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठान के लिए आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है। जब यह ज्ञान बुद्धि में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो आत्मा का न तो कभी जन्म होता है और न कभी मृत्यु। वह अज, नित्य, शाश्वत् और पुरातन है एवं शरीर के विनाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार (देही) शरीर का स्वामी आत्मा—पुराने शरीर का त्याग कर दूसरा नया शरीर धारण करता है। इसलिए तब यह आवश्यक है कि जन्म और मृत्यु के विषय में व्यर्थ का शोक न करके मनुष्य अपना कर्म करता रहे। इस कर्मयोग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक बार प्रारम्भ किये हुए कर्म का नाश भी नहीं होता अर्थात् कर्मयोग मार्ग में यदि एक जन्म में सिद्धि न मिले तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्म में इसकी वृद्धि होती है एवं अन्त में इससे कभी न कभी सच्ची सद्गति अवश्य मिलती है।

कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त

भारतीय दर्शन,संस्कृति और सामाजिक जीवन में यदि कोई सिद्धान्त सर्वमान्य रूप से स्वीकृत है तो वह है कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त। भारतीय विचारधारा में अनेक प्रकार की दृष्टियाँ जगत्, ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में उपलब्ध होती हैं, किन्तु सभी के मूल में कर्मवाद का सिद्धान्त स्वीकृत है। इसलिए कर्मवाद को समझे विना भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति और भारतीय समाज को भली-भाँति नहीं समझा जा सकता।

कर्मवाद एक व्यापक सिद्धान्त है। उसकी यह मान्यता है कि समस्त ब्रह्माण्ड, विश्व,व्यक्ति और समाज एक व्यापक, शाश्वत् एवं अनुलंघ्य नियम में बँधे हुए हैं। यह अनुलंघ्य नियम है, कर्म का नियम। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है, चाहे वह शुभ करता है या अशुभ, उचित या अनुचित सबका फल अवश्य उसे मिलता है। वह फल कर्त्ता को भोगना पड़ता है, इतना ही नहीं इसके अन्तर्गत यह भी

---

1. गीता रहस्य, तिलक, 3.3

स्पष्ट है कि कोई भी कर्त्ता अपने किए हुये कर्मों के फल से न वंचित रह सकता है और न छुटकारा ही पा सकता है।[1] इसके साथ ही यह भी मान्यता है कि व्यक्ति जो भी दु:ख या सुख भोगता है, वह किसी अन्य का किया हुआ नहीं होता, अपितु उसके अपने कर्मों के ही फल का परिणाम होता है। इस प्रकार कर्मवाद का विश्लेषण करने पर इसके अन्दर मुख्य तीन पहलू आते हैं—कर्त्ता, क्रिया और फल। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्त्ता कोई कर्म या क्रिया करता है तो उसकी प्रतिक्रिया अन्य वस्तु या व्यक्ति पर तत्काल ही पड़ जाती है और उसके बाद वह कर्म समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में कर्त्ता को भविष्य में होने वाले फल के साथ उस कर्म के सम्बन्ध की योजनाएँ कैसे सम्भव हैं? क्योंकि यह साधारण सा नियम है कि कारण के रहने पर ही कार्य होता है और कार्य की उत्पत्ति के पहले कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का होना संभव नहीं है। यदि अपनी तात्कालिक प्रतिक्रिया से अतिरिक्त किसी अन्य फल का कारण भी उक्त क्रिया को माना जाये तो उस फल तक उसको स्थायी मानना होगा। अन्यथा उस फल का वह कारण कैसे माना जा सकेगा? किन्तु यह भी अनुभव सिद्ध है कि कर्म क्रिया रूप होने के कारण तत्कालीन ही अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर नष्ट हो जाता है। इस विरोध को बहुत गहराई से भारतीय चिन्तनधारा में समझा गया है और इसको दूर करने के लिए दार्शनिक दृष्टि से इस पर पर्याप्त चिन्तन भी हुआ है।

कर्म और कर्मफल के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध को लेकर अनेक प्रकार की स्थापनाएँ भारतीय दर्शन में उपलब्ध होती हैं, किन्तु यहाँ हम केवल न्याय दर्शन एवं मीमांसा के दृष्टिकोण का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। न्याय दर्शन का कहना है कि जब कोई कर्त्ता कोई कर्म या क्रिया करता है तो उसकी दो प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। एक प्रतिक्रिया तो दृष्ट है, जिसे सामान्यतया लोग प्रतिक्रिया कहते हैं और दूसरी प्रतिक्रिया अदृष्ट है, जो बाहर न उत्पन्न होकर उस कर्त्ता में उत्पन्न होती है। यह कर्त्ता की आत्मा में उत्पन्न होता है और तब तक के लिए विद्यमान रहता है, जब तक उसका फल कर्त्ता को प्राप्त न हो जाय। अत: कर्म और कर्म फल के बीच-कार्य-कारण सम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि कर्म अदृष्ट द्वारा फल जनक होता है और आत्मा के नित्य होने से चिर स्थाई रहता है। जब वह अदृष्ट फलोन्मुख होता है, उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त हो जाता है और फल प्राप्त होने के बाद वह अदृष्ट समाप्त हो जाता है।

इस अदृष्ट की मान्यता के साथ नैयायिकों ने ईश्वर की मान्यता को भी ज़ोड़ दिया है, उनका कहना है कि अदृष्ट स्वयं में एक गुण विशेष मात्र है, वह फल की व्यवस्था

---

1. **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।**
   येनैव यथा पूर्व कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
   स एव तत्रथा मुक्ते नित्यं विहितमात्मना॥—इतिहास समुच्चयः, 2.52

अपने आप में समर्थ नहीं है। इसीलिए एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व की आवश्यकता है जो समस्त प्राणियों के अदृष्ट को समझकर उसके अनुसार फल का विधान कर सके और उन कर्मों के करने वाले प्राणियों को फल प्रदान करने की परिस्थिति तैयार करे तथा उन्हें अपने कर्मों के फल भोगने के लिए बाध्य करे।

इसके विपरीत मीमांसकों का कहना है कि कर्म एक शाश्वत् नियम 'चाहिए' या विधि वाक्य से प्रेरित होकर किये जाते हैं। इन कर्मों से एक 'अपूर्व' उत्पन्न होता है। वह अपूर्व कर्त्ता में उत्पन्न न होकर उस कर्म से होने वाले फल में उत्पन्न होता है, जिस प्रकार खेत जोतने से, दही मंथन से या चावल पकाने से उर्वरक शक्ति खेत में, मक्खन दही में और विकृति चावल में उत्पन्न होती है, उसी प्रकार समस्त कर्मों का फल उन वस्तुओं में होता है, जो उस कर्मों के फल होते हैं। कर्म एक शाश्वत नियम होने के कारण अपना अपूर्व उन फलों में उत्पन्न कर देता है। इसके लिए ईश्वर की मान्यता आवश्यक नहीं, अवसर आने पर वे फल स्वयं ही कर्त्ता को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं और कर्त्ता को वह फल भोगना पड़ता है।

कर्मवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति जो कुछ कर्म अपने इस जीवन में करता है, उन सबका फल उसको उसी जीवन में प्राप्त हो जाये और जो कुछ भी वह फल सुख या दु:ख रूप में इस जीवन में भोगता है, उन सब भोगों का कारण कहलाने वाला कर्म केवल इस जीवन में भोगता है, उन सब में कर्मवाद का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म और उत्तरजन्म या जन्ममरण के चक्र की स्थापना करता है। समस्त भोगों की व्याख्या इस आधार पर की जाती है कि मनुष्य या प्राणी अपने जीवन में जो सुख या दु:ख भोगता है, उन सबका कारण इस जन्म के ही कर्म नहीं होते, अपितु उसके पूर्वजन्म के कर्म होते हैं। इसलिए कर्मवाद के सिद्धान्त पर यह आरोप नहीं बनता कि जन्म के पूर्व व्यक्ति की स्थिति न होने के कारण उसका कोई कर्म नहीं होता और तब कोई जन्म से अन्धा, लंगड़ा और रोगी कैसे हो सकता है। और कोई व्यक्ति जन्म से सम्पन्न या दरिद्र घर में कैसे उत्पन्न हो जाता है? क्योंकि कर्मवाद केवल इस जन्म के कर्म पर आधारित सिद्धान्त नहीं है। वह इस जन्म से पूर्वजन्म को भी स्वीकार करता है। कर्मवाद के आधार पर उक्त प्रश्नों के उत्तर सरलता से दिये जा सकते हैं कि जन्म से दु:ख सुख प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल प्राप्त करता है। उसी प्रकार यह अनुभव-विरोध कि जो व्यक्ति जीवन में अच्छा कर्म करता है, दु:खी रहता है और जो बुरा कर्म करता है, वह सुखी रहता है कर्मवाद के सिद्धान्त में बाधक नहीं बन पता, क्योंकि कर्मवाद के आधार पर व्याख्या करने वाले यह कहते हैं कि इस समय प्राप्त होने वाला सुख-दु:ख पिछले जन्म के किए हुए कर्मों के पाप-पुण्य के फल हैं और इस जन्म में किये जाने वाले शुभ और अशुभ कर्म जिनका फल इस जन्म में नहीं मिल पाता अपना फल उत्तर जन्म में देते हैं।

कर्मवाद के सिद्धान्त की कुछ आधारभूत मान्यताएँ हैं, इन्हीं आधारभूत मान्यताओं पर कर्मवाद के सिद्धान्त को भली-भाँति समझा जा सकता है। इन मान्यताओं का संक्षेप में वर्णन करना विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यक प्रतीत होता है, ये निम्नलिखित हैं—

(1) कर्म केवल भौतिक क्रिया ही नहीं है, अपितु इसके अन्तर्गत मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक सभी क्रियाओं का समावेश है। कर्म का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर से नहीं है, अपितु सूक्ष्म शरीर से भी है। स्थूल पंचभौतिक शरीर मृत्यु के उपरान्त नष्ट हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर कर्मों के समस्त संस्कारों के साथ मृत्यु के उपरान्त भी रहता है, जिसके साथ आत्मा एक योनि से दूसरी योनि में जाकर जन्म ग्रहण करता है।

(2) कर्मवाद के अनुसार कर्मों के संस्कार धर्म अथवा अधर्म, पुण्य अथवा पाप पूर्ण सुरक्षित रहते हैं। न तो किये हुए कर्म का नाश सम्भव है और न अकृत कर्म का अभ्युपगम ही सम्भव है। इसे ही कृतप्रणाश तथा अकृताभ्युपगम कहा जाता है। अर्थात् जब कोई कर्त्ता कर्म करता है तो वह कर्म अपने संस्कार रूप में तब तक बना रहता है, जब तक उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त न हो जाये। दूसरी ओर कर्त्ता को कोई भी ऐसा फल नहीं मिलता जो उसके कर्म का परिणाम या फल हो।

(3) कर्मवाद के अनुसार कर्म-चक्र अनादि और अनन्त है इसे चक्र कहने का तात्पर्य यह है कि एक वृत्त के रूप में है, जिसमें आदि और अन्त बतलाना या खोजना संभव नहीं है। प्राणी अपने पूर्व कर्मों के अनुसार जन्म लेता है, पुन: कर्म करता है और पुन: जन्म लेता है। कर्म जन्म और भोग का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसको कर्म विपाक भी कहा जाता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि कोई सृष्टि आदि सृष्टि नहीं और कोई प्रलय अंतिम प्रलय नहीं। प्रत्येक सृष्टि अपने आप में जो नवीन है किन्तु उसका आधार उसके पूर्व की सृष्टि है। जब ब्रह्मा सृष्टि करना प्रारम्भ करते हैं तो उस सृष्टि में उस सृष्टि से पूर्व वाली सृष्टि के प्राणियों के उन कर्मों को ध्यान में रखते हैं, जिनका फल अभी तक उन कर्मों के कर्त्ताओं को प्राप्त नहीं हुआ रहता। अत: नवीन सृष्टि के प्राणियों की योनि का निर्धारण उनको प्राप्त होने वाले फल की व्यवस्था आदि उनके पूर्वजन्म के कर्म के आधार पर की जाती है।[1]

(4) कर्मवाद के अनुसार कर्म का परिणाम संस्कार के रूप में कर्त्ता के चरित्र, प्रवृत्ति, विचार और भावनाओं पर पड़ता है। यह संस्कार उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। जीवन-पर्यन्त तो यह उसके साथ रहती ही है, मरने के

---

1. येषां ये योनि कर्माणि प्राक्सृष्ट्या प्रतियेथिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमाना: पुन: पुन: ॥—महाभारत, शान्तिपर्व, 131.48,49

बाद दूसरे जन्म में भी यह उसके साथ जाता है। आज के कर्म का फल कल को भोगना पड़ता है और कल के कर्म फल का भोग परसों। इस प्रकार कर्म फल का क्रम सदैव चलता रहता है।[1]

(5) कुछ विचारकों का मत है कि कर्मवाद के सिद्धान्तों के अनुसार आत्मा की अमरता को स्वीकार करना अनिवार्य है, क्योंकि जब पूर्व जन्म के कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है और इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्म में मिलेगा तो फल पाने वाले आत्मा का अस्तित्व तीन जन्मों तक अवश्य स्वीकार करना होगा। इस प्रकार अनेक पूर्व जन्म और उसके उत्तर जन्म की परम्परा स्वीकार करने में आत्मा को निर्विवाद रूप से नित्य एवं अविनाशी मानना होगा।

(6) कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक जीवन का और व्यक्तिगत जीवन में विद्यमान अपरिहार्य विषमता और विसंगतियों में रहने वाले मानव को अपने जीवन से सन्तुष्ट रहने के लिए एक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। जीवन की परिस्थितियाँ समान नहीं हैं, कोई धनी है तो कोई निर्धन, कोई सुखी है तो कोई दु:खी। ऐसी स्थिति में निराशा और हताशा का होना स्वाभाविक है, यदि उसके पास विसंगतियों को सुलझाने का ठोस आधार न हो। कर्म का सिद्धान्त एक ठोस दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, जिसके आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य के वर्तमान जन्म में जो परिस्थितियाँ हैं, वह उसके पूर्वजन्मों के कर्मों के फल के रूप में प्राप्त हुई हैं। इसने जिस वर्ण, जिस व्यवस्था, जिस परिवेश और परिवार में जन्म ग्रहण किया है, वे सब उसके प्रारब्ध से प्राप्त हुए हैं।

(7) कर्म का सिद्धान्त इस अवस्था को भी दृढ़ करता है कि मनुष्य अपने कर्मों के फल का भोग या तो स्वर्ग या नरक के रूप में मृत्यु के पश्चात् प्राप्त करता है या पुनर्जन्म में सुख-दु:ख के रूप में प्राप्त करता है।

(8) कुछ विचारकों का यह मत है कि कर्मवाद अनिवार्य रूप से नियतिवाद या भाग्यवाद का समर्थन करता है, क्योंकि कर्मवाद के अनुसार मानव जीवन की सारी विषमताओं की व्याख्या पुनर्जन्म के आधार पर हो जाती है।

अत: यह कहा जा सकता है कि मानव का वर्तमान जीवन पूर्व कर्मों के पूर्व रूप से नियमित और नियंत्रित है। ऐसी स्थिति में कुछ भी करने की स्वतन्त्रता नहीं है, वह केवल वही कर सकता है, जो उसके पूर्व संस्कार करने के लिए प्रेरित करते हैं, किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मवाद अनिवार्य रूप से

---

1. यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥ —मनु०, 1.28

भाग्यवाद या नियतिवाद नहीं है। कुछ अंश तक इसमें नियतिवाद की झलक अवश्य मिलती है, किन्तु नियतिवाद या भाग्यवाद का पूर्व रूप से समर्थक नहीं है। कर्मवाद का सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होने वाले परिवेश शारीरिक, मानसिक क्षमताएँ, उसके प्रारब्ध के कारण हैं, इसमें इसका कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं है कि वह इसे बदल सके। जन्मस्थान, माता-पिता, परिवार-परिवेश आदि ऐसे तथ्य हैं, जिसमें उसे चुनाव या परिवर्तन की स्वतन्त्रता नहीं है, फिर भी उसे इसके उपयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। उसके संकल्प में इतनी शक्ति और क्षमता है कि वह अपने पुराने संस्कारों को नये कर्मों के द्वारा बदल सकता है। नये संस्कार अर्जित कर सकता है और अपने आने वाले जीवन को नयी दिशा दे सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मवाद पुरुषार्थवाद का समर्थन करता है। नियतिवाद या भाग्यवाद का नहीं। किसी भी व्यक्ति को जो कुछ प्राप्त होता है, वह उनके कर्मों के फल हैं, किन्तु जिन कर्मों का अभी फल नहीं मिला है उन कर्मों के संस्कार को नये कर्मों के द्वारा, दृढ़ संकल्प, संयम, गुरु उपदेश आदि से बदला जा सकता है।

मनु का विचार

मनु समस्त कर्मों को मन, वाणी और शरीर की उपज मानते हैं। कर्म के अच्छे या बुरे प्रभाव उत्पन्न होते हैं, जिसके अनुसार प्राणी को दूसरे जन्म में उत्तम, मध्यम या अधम गति प्राप्त होती है। मन, वाणी और शरीर मनुष्य के समस्त कर्मों के साधन हैं। इन्हीं से वह पुण्य कर्म करता है और स्वर्ग, देव आदि योनियों में जाकर सुख भोग प्राप्त करता है। इन्हीं के द्वारा वह पाप कर्म भी करता है, जिससे उसको नरक या दु:ख भोगना पड़ता है तथा निम्न योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। मनु ने शरीर, मन और वाणी से होने वाले पाप कर्मों की गणना तथा उनसे होने वाले फलों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है—

मन से होने वाले पापों में

अन्याय से दूसरों की चीजों को लेने की इच्छा, मन से दूसरों का बुरा चाहना, परलोक में अविश्वास आदि को अधिक महत्त्व दिया गया है।

वाणी से होने वाले पापों में

कठोर और असत्य भाषण, सब प्रकार की चुगली तथा अनावश्यक वाद-विवाद आदि को अधिक महत्त्व दिया गया है।

शरीर से होने वाले पापों में

अन्याय से दूसरों के धन का अपहरण, शास्त्र के विधान के अतिरिक्त हिंसा, परस्त्री के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करना आदि को प्रमुख माना गया है।

मनु का कहना है कि शरीर के कर्म दोषों या पाप कर्मों से मनुष्य वृक्ष आदि योनि, वाणी के कर्म दोष से पक्षी और मृग की योनि तथा मन आदि पाप कर्मों के दोष से चाण्डाल आदि कुल में जन्म लेता है। व्यक्ति शुभ कर्म से देवत्व प्राप्त करता है। मिश्रित कर्मों से मनुष्यत्व और अशुभ कर्म से नीच योनि में जन्म लेता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु ने शुभ और अशुभ कर्मों की गणना बड़े विस्तार के साथ की है तथा उनसे प्राप्त होने वाले शुभ और अशुभ फल योनियों का वर्णन भी विस्तारपूर्वक किया है, जिसका सारांश केवल इतना है कि कर्मवाद का सिद्धान्त अटल और अनिवार्य है। कर्म अपना फल अवश्य देते है। शुभ कर्मों का फल शुभ होता है और अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है।



1. शुभैः प्रयागैर्देवत्वं व्यमिश्रैर्मानुषो भवेत।
अशुभैः केवलश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते॥—मनु०, 12.2

5

बौद्ध धर्म में कर्म सिद्धान्त

बौद्ध दर्शन में कर्मवाद

''कम्म निबन्धनासत्ता रथस्सानीव जायतो''

भारतीय वाङ्मय में कर्मवाद को पूरी प्रतिष्ठा मिलती है। बौद्ध दर्शन में भी कुशल कर्मों के सम्पादन की विवेचना की गई है। यह कहा गया है कि हे भिक्षु, कर्म ही अपना है, कर्म ही योनि है, कर्म ही बन्धु है, कर्म ही प्रतिशरन है—

कम्मस्या सत्ता, कम्म यौनि, कम्मबंधु, कम्मपरिस्सरना[1] भगवान् बुद्ध ने चेतना को ही कर्म कहा है—''चेतनाहं भिक्खवे कम्म बदामि''। जितने भी संसार के क्रियमाण कर्म हैं वे सब मन से ही होते हैं। मन ही सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है। धम्मपद में भगवान् बुद्ध ने कहा है—

मनो पुब्बंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं।।[2]
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन एवं मोक्ष का कारण है। अर्थात् जितने भी धर्म (कर्म) हैं उनका अग्रणी मन है। यदि कोई प्रदुष्ट मन से कर्म करता है या बोलता है तो दुःख उसका पीछा उसी प्रकार करता है जैसे गाड़ी में जुते हुए बैल के पैर का पीछा चक्का करता है। यदि कोई प्रसन्न मन से बोलता है और कहता है तो सुख उसका पीछा उसी प्रकार करता है जैसे प्राणियों का पीछा छाया करती है। मन में किया गया कर्म मानसिक कर्म कहलाता है। काय तन वाक् से किया गया कर्म चेतयित्वा कर्म कहलाता है। लेकिन करण कर्म तथा वाक् कर्म में भी मन का योग अपेक्षित है। चेतना को मानस कर्म कहते हैं। चेतना से जो उत्पन्न होता है अर्थात् चेतयित्वा कर्म चेतनाकृत है। चेतयित्वा के दो भेद हैं—कायिक और वाचिक। यदि हम समुत्थान पर विचार करते हैं

---

1. मज्झिम निकाय 2 पृ० 336........
2. धम्मपद गाथा।

तो केवल मानस कर्म है क्योंकि सब कर्मों का समत्थान (आरम्भ) मन से है। गीता में भी मन को ही बंध एवं मोक्ष का कारण माना गया है। कर्म चेतना और चेतयित्वा कर्म है। चेतना दो प्रकार की होती है। पहले प्रयोग की अवस्था है। इसमें एक चेतना का उत्पाद होता है। शुद्ध चेतना है—यह आवश्यक है कि—"मैं इस कर्म को करूँ।" इसे सूत्र चेतना कर्म की संज्ञा देता है। यहाँ चेतना ही कर्म है। पीछे शुद्ध चेतना की इस अवस्था के अनन्तर पूर्वकृत संकल्प के अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद होता है। कार्य के संचालन या वाक्‌ध्वनि के नि:सरन के लिए यह चेतना होती है। इसे चेतयित्वा कर्म कहते हैं। कायविज्ञप्ति काय कर्म है और वाग्विज्ञप्ति वाक् कर्म है।

भगवान् बुद्ध ने चार प्रकार के कर्मों का निर्देश दिया है। पहला कृष्ण कर्म जिसका विपाक कृष्ण होता है। शुक्ल कर्म जिसका विपाक शुक्ल होता है। दोनों तथा दोनों से भिन्न जिसका विपाक न शुक्ल होता है न कृष्ण। यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने कर्मों का उत्तराधिकारी है 'कम्म दायादसत्ता'। केवल अंतिम स्थिति मे कर्म का क्षय होता है। किन्तु अक्रिया द्वारा नहीं अपितु विगत कृवन कर्मों द्वारा होता है। गीता के अनुसार—कर्म की तीन कोटियाँ हैं—जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ, कर्त्तापन के अधिकार से रहित, फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा विना राग-द्वेष से किया हुआ है वह कर्म स्पत्विय या शुक्ल कर्म है। पुन: जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने वाले अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है वह राजस कर्म कहलाता है तथा जो कर्म परिणाम, हानि और सामर्थ्य को न विचारकर केवल अज्ञान से आरंभ किया जाता है वह कर्म तामस कर्म कहलाता है।[1]

कर्मों की उपर्युक्त कोटियाँ क्रमश: सात्त्विक, राजसी एवं तामसी विचारधारा के लोगों द्वारा सम्पादित की जाती हैं। परन्तु जो कर्म निष्काम भाव से सम्पादित होता है वह सर्वश्रेष्ठ कर्म है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य परमानन्द की प्राप्ति है और वह आनन्द केवल निष्काम भाव से शाम्त्र विहित कर्म को प्राप्त हो सकता है।

मैत्री भावना भी एक चेतना सन्तति है। मैत्री भावना में कोई प्रतिभाहक नहीं है। परमानुग्रह नहीं होता है। तथापि मैत्रीचित के बल से ही उसके लिए पुण्य का उत्थान होता है। मैत्रीचित में रुचि का होना ही मानस कर्म है।

विज्ञप्ति कर्म वह है जो काम द्वारा या वाक् द्वारा चित की अभि व्यक्ति को ज्ञापित करती है। प्राणातिपात विरति का समादान (ग्रहण) जिस वाक्य से होता है वह वाग्विज्ञप्ति है। काम का प्रत्येक कर्म कामविज्ञप्ति है।

---

1. मंयुत्त निकाय, पृ० 70

कुशल कर्मों का विपाक कुशल (शुक्ल) होता है। यह दु:ख से परित्राण करता है तथा निर्वाण की ओर ले जाता है। अकुशल कर्मों का विपाक अक्षेम (कृष्ण) होता है। उससे व्यक्ति नरक एवं दु:ख का भागी बनता है।

लोकोत्तर कर्म अनाश्रय है। अत: यह पुण्य अपुण्य से रहित होता है। अर्थात् यह अविवाद है। यह हित परम पुरुषार्थ अर्थात् दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति का उत्पाद करता है। यह निर्वाण परमशुभ है। क्योंकि यह रोग के अभाव के समान सर्वथा शान्त है (निब्बानं परमं सुखं) सास्त्रवा: अनास्त्रवा: धर्मा......मार्ग (अभिकोष) अत: जिसका दु:ख विपाक है वह अकुशल है तथा जिसका सुख विपाक है या जिसका विपाक नि: श्रेयस है वह कुशल है। संयुत्त निकाय में लिखा है—

''यादिसं वपते बीजं, तादिसं हरते फलं''।[1]

अर्थात् जो जैसा बीज बोता है वह वैसा ही फल पाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुशल कर्मों का विपाक कुशल होता है और अकुशल कर्मों का विपाक अकुशल होता है। 'सुत्तनिपात' में लिखा है—''अभूतवादी नित्यं उपेति।'' अर्थात् असत्य बोलने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है, और सत्य बोलने वाला व्यक्ति कीर्ति को प्राप्त करता है। उसी प्रकार हिंसा करने वाला व्यक्ति कुशल विपाक को नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि बुद्ध ने कहा है कि ''अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।'' दूसरे को अपने जैसा समझकर न मारे न मारने की प्रेरणा दें।

महाभारत में लिखा है कि मनुष्य कर्म स्वभाव वाला होता है (मनुष्या: कर्मलक्षणा:)।

. सुत्तनिपात में लिखा है कि मनुष्य अपने कर्मों से उसी प्रकार बँधा है जैसे रथ के अरे (आनी) चक्के से बँधे हैं।

''कम्मनिबंधसत्ता रथरसानीव जायतो'' अर्थात् चक्र से जैसे आनी बँधा होता है उसी प्रकार प्राणी कर्म से बँधा है। अगर चक्र अरे से बँधा न हो तो चक्र की गति में तीव्रता नहीं आ सकती, उसी प्रकार यदि मनुष्य के जीवन में कर्म न हो तो वह जीवन के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता और न अपने जीवन में महान् लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जिस-जिस शरीर से मनुष्य जो-जो कर्म करता है उन-उन शरीर से मनुष्य कर्म के विपाक को प्राप्त करता है और उन कार्यों में ''विपाक को भोगे बिना उपकर्मों का क्षय भी नहीं हो सकता है। जो मनुष्य कर्म करता है फल उसी को प्राप्त होता है दूसरे को नहीं।

'सुत्तनिपात' के 'वसल सुत्त' में लिखा है कि ब्राह्मण एवं वृषल का निर्धारण जाति नहीं, कर्म है। कर्म से ही कोई वृषल होता है एवं कर्म से ही कोई ब्राह्मण।

---

1. महायांकत

''न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मनो।

कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मनो।''

पाप करने वाला व्यक्ति वृषल होता है। अथवा जो पाप करके यह इच्छा करता है कि दूसरे मुझे न जानें, जो प्रतिच्छन्न कर्मवाला है उसे वृषल कहते हैं।

''यो कत्वा पापकं कम्म, मायं जच्चा तिगच्छति।

यो पतिच्छन्नकम्मन्तो तं जच्चा वसलो होति।''

भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण के स्वरूप को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ब्राह्मण वही है जो चन्द्रमा की तरह निर्मल एवं शुद्ध है, स्वच्छ है, निर्लिप्त तथा भवतृष्णा से विहित है।

चन्दं व विमल सुद्धं, विप्पसन्नमन खिल।

नन्दी भवपरिक्खीनं, तमहं बूमि ब्राह्मणं॥

वासेट्ठसुत्त में लिखा है कि तप से, ब्रह्मचर्य से, संयम और दम से ब्राह्मण होता है और ब्राह्मण उत्तम होता है।

''तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च।

एतेन ब्राह्मनो होति, एवं ब्राह्मनमुत्तमं॥''

वासेट्ठसुत्त में यह भी लिखा है कि कर्म से ही शिल्पी होता है कर्म से ही वनिम होता है और कर्म से ही सेवक होता है। चोर भी कर्म से ही होता है, योद्धा भी कर्म से ही होता है और राजा भी कर्म से ही होता है। गीता में भी इसी प्रकार दर्शाया गया है—

''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।

तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥[1]

अर्थात्—गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं। इनके नियामक होने के बावजूद मुझे निर्लिप्त मानो कर्मफल को जानने वाले पंडित हेतु से उत्पन्न कर्म को इस प्रकार यथार्थरूप में दिखते हैं। संसार कर्म से चलता है, प्रजा कर्म से चलती है। चालू रथ का चक्र जिस प्रकार आनी से बँधा होता है, उसी प्रकार प्राणी भी कर्म से बँधे होते हैं। (सुत्तनिपात)

बौद्धधर्म दर्शन में पुनर्भव का कारण कर्म माना गया है।

'अंगुत्तर निकाय' में कहा गया है कि ''कर्म खेत है और ज्ञान बीज है और तृष्णा नमी है'' कर्म खेत होने पर विज्ञानरूपी बीज का अंकुरण संभव नहीं। कर्म भी पुराने तथा नये जलों की कड़ी माना गया है और वही एक प्राणी से दूसरे प्राणी में देहान्तरण करता है। मिलिन्द-प्रश्न में राजा मिलिन्द भन्ते नागसेन से पूछता है, ''पुनर्जन्म में वही

---

1. गीता 4. 13

व्यक्ति रहता है या दूसरा हो जाता है?" इस पर भदन्त नागसेन का उत्तर है—"पुनर्जन्म में न वही व्यक्ति रहता है, न दूसरा हो जाता है।" राजा वही नहीं है जो बचपन में था किन्तु वह अन्य हो गया। तब यह स्वीकार करना होगा कि राजा के माता-पिता नहीं थे। परिवर्तित होती हुई अवस्थाएँ शरीर द्वारा एकीकृत रहती हैं। सारी प्रक्रियाएँ दीपक के समान हैं जिसकी लौ हर क्षण बदलती रहती है, फिर भी वही रहता है।

इसी प्रकार पेड़ से आम चुराने वाला व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वह निर्दोष है या क्षम्य है क्योंकि पेड़ के स्वामी ने जो आम बीज के रूप में लगाया था उससे वह भिन्न आम है जिसे चुराया गया। पेड़ में लगने वाला आम न उससे भिन्न है न उसके साथ एक रूप। यह नाम-रूप शुद्ध या अशुद्ध कर्म करता है और नया नाम-रूप जन्म लेता है। परिणामत: कर्म विपाक से मुक्त नहीं होता क्योंकि दूसरा नाम-रूप प्रथम नाम-रूप का ही प्रतिफल होता है। आचार्य बुद्ध घोष ने भी लिखा है कि कर्म के कारण जिन स्कन्धों ने जन्म लिया वे समाप्त नहीं हो जाते हैं। उसके स्थान पर इस जन्म में पूर्व कर्मों के कारण अन्य स्कन्ध जन्म लेते हैं। पूर्व जन्म से इस जन्म में एक भी अवस्था नहीं आती तथा कर्म के कारण इस जन्म में उत्पन्न स्कन्ध भी इसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं।

अगले जीवन में भिन्न स्कंध जन्म लेंगे तथा एक भी अवस्था इस जीवन से अगले में नहीं जायेगी। बीज के समान कर्म स्वकीय सामर्थ्य से अपने फल का उत्पादन करता है। अत: कर्मों की धर्मता नियत है। किन्तु बौद्ध धर्म यह स्वीकार करता है कि कर्म फल का उल्लंघन संभव है और वह पुन्य-परिणामता भी मानता है। आर्य ऋषि आदि महान् समर्थ हैं उनमें मन प्रदोष से दण्डकादि निर्जन हो गये सत्य क्रिया में विश्वास बड़ा प्राचीन है। विशुद्ध पुरुष अपनी विशुद्धि का प्रख्यायन पर धर्मता से ऊपर उठ जाता है। पुण्य-अपुण्य आशय पर आश्रित है, किन्तु क्षेत्र के अनुसार पुण्य-अपुण्य अन्य भी महान् होता है। कर्म विपाक दुर्विज्ञेय है। कर्म बीज के समान है, जो अपना फल प्रदान करता है यह दु:खद वेदना है। कर्म का विनाश नहीं होता। जब समय आता है और प्रलय सामग्री उपस्थित होती है तब कर्मों का विपाक होता है।

किन्तु ईश्वरवादी का विचार है कि बीज का वपन उर्वरा भूमि में होने से तथा वर्षा के अभाव में बीज अंकुर का जन्म नहीं देते। अत: उनका कहना है कि यह ईश्वर की शक्ति है जो कर्मों को विपाक प्रदान कर सामर्थ्य देता है। बौद्ध दर्शन कहता है कि तृष्णा से अविविक्त ही कर्म विपाक देते हैं। आर्य तृष्णा रहित ही कर्म करता है। इसलिए वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

बौद्धधर्म दर्शन की मूलप्रवृत्ति—दु:ख से परिव्याप्ति एवं उससे निवृत्ति—भगवान् बुद्ध को बिहार प्रदेश के 'उरुवेला' स्थान में जो ज्ञान प्राप्त हुआ था, वही ज्ञान बौद्ध धर्म का केन्द्र बिन्दु है। वह ज्ञान इतना ही है कि दु:ख है, दु:ख समुदाय (कारण) है। दु:ख का निरोध है और दु:ख निरोध नाम्नी प्रतिपदा (उपाय) है। छह वर्षों की घोर तपस्या के बाद उक्त चार बातें उन्हें प्राप्त हुई थीं। भगवान् बुद्ध इन चार

आर्यसत्यों के द्रष्टा थे। उपर्युक्त चार बातों को बौद्ध धर्म का चार आर्यसत्य कहा गया है। किन्तु बुद्ध ने इनमें से चौथे आर्य सत्य दुःख निरोध नाम्नी प्रतिपदा को आठ अंगों वाला कहा है।

इन आठों के नाम हैं—सम्मादिट्ठि (सम्यक् दृष्टि), सम्मासंकप्पो (सम्यक् संकल्प), सम्मावाचा (सम्यक् वचन), सम्माकम्मन्तो (सम्यक् कर्म), सम्माआजीवो (सम्यक् आजीविका), सम्मावायमो (सम्यक् व्यायाम), सम्मासति (सम्यक् स्मृति) और सम्मासमाधि (सम्यक् समाधि)। इन्हीं आठों को अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। ये हो ऐसे रास्ते हैं जिन पर चलने पर निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। अत: इन्हें मध्यम मार्ग कहा गया है। इन्हें मध्यम मार्ग इसलिए भी कहते हैं कि इनके आचरण में न तो शरीर को कठिन तपस्या करके गलाना है या न अधिक रागों में ही फँसना है। जिस संख्या में भगवान् बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे यह ज्ञान प्राप्त हुआ उन्होंने प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त का चक्र सारनाथ में पंचवर्गीय भिक्षुओं को शिक्षा देने के क्रम में सर्वप्रथम चलाया था। चार आर्यसत्य संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. दुःख आर्यसत्य—संसार में दिन-प्रतिदिन का अनुभव स्पष्टत: यह बतलाता है कि यहाँ सर्वत्र दुःख का राज्य है। जिधर दृष्टि डालिए उधर ही दुःख दिखाई पड़ता है। दुःख की चर्चा करते हुए भगवान् बुद्ध ने बतलाया है—

''जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा, व्याधि-पि दुक्खा, मरणं पि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, सङ्खित्तेन पञ्चुपादनखन्धा पि दुक्खा।''[1]

अर्थात् ''जन्म-बुढ़ापा-मरण, शोक, रुदन परिक्षेण, दौर्मनस्य, अप्रिय का संयोग प्रिय का वियोग, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि दुःख हैं। ये सारी बातें मनुष्य मात्र के लिए अनुभूत एवं प्रत्यक्ष हैं। अत: दुःख सत्य है। आवश्यक यह है कि जगत् के कार्य, में दुःख की सत्ता बनी हुई है, फिर प्रियतमा जिस प्रिया के समागम को जीवन का प्रधान लक्ष्य मानकर नितान्त आनन्दमय रहती है वह एक दिन वियोग की अवस्था को अवश्य प्राप्त करती है। जिस द्रव्य के लिए मानव मात्र इतना परिश्रम करता है उसकी भी प्राप्ति अत्यन्त कष्टकारक है। अर्थ के उत्पादन में दुःख, रक्षण तथा व्यय में भी दुःख है। तब अर्थ को सुखकारक कैसे कहा जाय? धम्मपद का यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि यह संसार जलते हुए घट के समान है तब इसमें हँसी क्या हो सकती है?

''को नु हासो किमानधो निच्चं पज्जलिते सति।

(धम्मपद गाथा, 146)

यह संसार भव-ज्वाला से प्रदीप्त के समान है। परन्तु मूढ़जन इस स्वरूप को न जानकर ही तरह-तरह की भोग-सामग्री एकत्र करते हैं।

---

1. दीघनिकाय—2, 9, 5, 16

परन्तु इससे क्या होता है? देखते-देखते बालू की भीत के समान विशाल सौख्य का प्रसाद पृथ्वी पर लौटने लगता है। उसके कण-कण छिन्न-छिन्न होकर बिखर जाते हैं। परिश्रम तथा प्रयास से तैयार की गई भोग सामग्री सुख न पैदा करके दु:ख ही पैदा करती है। अत: इस प्रकार संसार में प्रथम सत्य दु:ख सत्य प्रतीत होता है। साधारणजन इसका प्रतिदिन अनुभव करते हैं, परन्तु उससे उद्विग्न नहीं होते। साधारण घटना समझकर उसके आगे अपना सिर झुका देते हैं। परन्तु बुद्ध का अनुभव नितान्त सधा है। उनका उद्वेग वास्तविक है।

बौद्ध धर्म में रूप, वेदना, संज्ञाएँ, संस्कार एवं विज्ञान को उपादान स्कन्ध माना गया हैं।

(क) भगवान् बुद्ध आकाश को छोड़कर पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि—इन चार महाभूतों को रूप बतलाते हैं। उन्हें वैशेषिक दर्शन में मूर्त्त कहा गया है।

(ख) वस्तुओं के सम्पर्क अथवा उनके विचार के सम्पर्क से जो वस्तु सुख-दु:ख का अनुभव करती है वही वेदना उपादान स्कन्ध है।

(ग) वेदना के पश्चात् बुद्धि में जो पहले से संस्कार है उसके द्वारा वस्तुओं (नाम से) को जो पहचानते हैं वही संज्ञा है।

(घ) रूपों की वेदना और संज्ञाओं का संस्कार हमारी बुद्धि में पहले से ही पड़े रहते हैं। इनके सहयोग से जो हम ज्ञान प्राप्त करते हैं वही संस्कार उपादान स्कन्ध है।

(ङ) उक्त चारों के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध नितुर (चेतनात्व) को विज्ञान उपादान स्कन्ध कहते हैं जिसे सांख्य मह कहता है।

उपर्युक्त सारी वस्तुएँ दु:ख हैं। अत: इनका निरोध बौद्ध धर्म का मुख्य सिद्धान्त है।

2. **दु:ख समुदय**—द्वितीय आर्यसत्य है—दु:ख समुदय। समुदय का अर्थ है कारण। कार्य-कारण का नियम अवच्छेद्य है। जब दु:ख कार्य है तब उसका कारण भी अवश्य ही होगा। दु:ख का हेतु है—तृष्णा। भगवान् बुद्ध के शब्दों में—"इदं खो पन भिक्खवे, दुक्ख समुदयं अरियसच्चं—यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दनी, सेय्यथीदं—कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा।""[1] दु:ख का वास्तव हेतु तृष्णा है जो बार-बार प्राणियों को उत्पन्न करती है। (पौनर्याविदा) विषयों के राग से मुक्त हैं तथा उन विषयों का अभिनन्दन करने वाली है। यहाँ और वहाँ सर्वत्र अपनी तृप्ति खोलती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है—काम तृष्णा, भव तृष्णा तथा विभव तृष्णा। संक्षेप में दु:ख समुदय का यही स्वरूप है।

दु:ख की उत्पत्ति का कारण है तृष्णा—प्यास विषयों की प्यास। यदि विषयों को पाने की प्यास हमारे हृदय में नहीं हो तो हम इस संसार में न पड़ें और न दु:ख भोगें। तृष्णा सबसे बड़ा बंधन है जो हमें संसार तथा संसार के जीवों के साथ बाँधे है। धीरे-धीरे

1. मज्झिम निकाय—महाहत्थिपदोपमसुत्त।

विद्वान् पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सी के बंधन को दृढ़ नहीं मानते। वस्तुत: दृढ़ बंधन है सारवान पदार्थों में रक्त होना या मणि, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्री में इच्छा का होना। धम्मपद का यह कथन उचित प्रतीत होता है—

''न तं चले बन्धनमाहु धीरे। यद्वायसे दासजं पब्बणच

सस्तरत्रा मणिकुंडलेसु, पुत्तसु दारेसु व भा अपेक्खम''[1]

ये रागरत्ता नु पतति सीतं सयं कतं मक्करमा व वालं।[2]

अर्थात् मकड़ी जिस प्रकार अपने ही जाल बुनती है और स्वयं ही उसमें फँसी रहती है संसार में जीवों की दशा ठीक ऐसी ही है। वे लोग तृष्णा से नाना प्रकार के विषयों मे राग उत्पन्न करते हैं। अपने को उन्हीं राग के बन्धन में, जो उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए हैं अपने को बाँधकर दिन-रात बंधन का कष्ट उठाते हैं। यह तृष्णा तीन प्रकार की है—

(1) काम तृष्णा—जो तृष्णा नाना प्रकार के विषयों की कामना करती है।

(2) भव तृष्णा—मन, संसार या जन्म। इस संसार की सत्ता बनाये रखने वाली तृष्णा। इस संसार की स्थिति के कारण हैं। हमारी तृष्णा ही इस संसार को उत्पन्न किये हुए है। संसार में रहने पर हमारी सुख वासना चरितार्थ होती है। अत: इस संसार की तृष्णा भी तृष्णा का ही एक प्रकार है।

(3) विभव तृष्णा—विभव का अर्थ है उच्छेद या संसार का नाश। संसार के नाश की इच्छा उसी प्रकार दु:ख उत्पन्न करती है जिस प्रकार उसके शाश्वत होने की अभिलाषा। ये लोग संसार को नाशवान समझते हैं। वे लोग चार्वाक पन्थ के पथिक बनकर ऋण लेकर भी घृत पीते हैं। जीवन को सुखमय बनाना ही उनका उद्देश्य होता है। वे इस चिन्ता से तनिक भी विचलित नहीं होते कि उन्हें ऋण चुकाना भी पड़ेगा। जब यह शरीर जलकर भस्म हो जाता है तो कौन किसका ऋण चुकाने आता है। संसार के उच्छेदवाद का यही चरम अवसान है, जिसके ऊपर चार्वाक पन्थियों का मूलमंत्र अवलम्बित है—

''यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:॥

यही तृष्णा जगत् के समस्त विद्रोह तथा विरोध की जननी है। इसी कारण राजा-राजा से लड़ता है, क्षत्रिय क्षत्रिय से लड़ता है, ब्राह्मण ब्राह्मण से लड़ता है, माता पुत्र से लड़ती है तथा पुत्र भी माता से लड़ता है। समस्त पापकर्मों का निदान यही तृष्णा है। चोर इसी के लिए चोरी करता है। कामुक इसी के लिए परस्त्रीगमन करता है। धनी इसी के लिए गरीबों को चूसता है। यह तृष्णामूलक संसार है। तृष्णा ही दु:ख का कारण है।

1. धम्मपद, 345 गाथा
2. वही, 347 गाथा

इसी का समुच्छेद प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है।

3. दु:ख निरोध—तृतीय आर्यसत्य का नाम दु:ख निरोध है। निरोध शब्द का अर्थ रोकना या नाश है। सत्य बतलाता है कि दु:ख का नाश होता है। दु:ख की सत्ता बतलाकर ही बुद्ध की शिक्षा का अंत नहीं होता बल्कि उनका उपदेश है कि दु:ख का अन्त भी है। बुद्ध ने भिक्षुओं के सामने इस सत्य की व्याख्या इस प्रकार की है—

"इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। सो तस्सा येव तण्हाय असेसाविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सगो मुत्ति अनालयो।

अर्थात् दु:ख निरोध आर्यसत्य उस तृष्णा से अवशेष सम्पूर्ण वैराग्य का नाम है, उस तृष्णा त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय (स्थाान न देना) यही है।

बुद्ध धर्म की खास विशेषता है कार्यकारण के अटूट सम्बन्ध की स्वीकृति देना। जगत् की घटनाओं में यह सम्बन्ध सर्वत्र अनुभूत है। ऐसी कोई भी घटना नहीं है जिसके भीतर यह नियम जागरूक नहीं हो। दु:ख के कारणों की चर्चा ऊपर की गयी है। यदि कारणों को नष्ट कर दिया जाय तब कार्य स्वत: नष्ट हो जायेगा। अत: कार्य-कारण का सम्बन्ध ही इस सत्य का पर्याप्त प्रमाण है।

दु:ख निरोध को ही निर्वाण की संज्ञा दी जाती है। तृष्णा में नाश कर देने से इसी जीवन में जीवित काल में ही पुरुष उस अवस्था पर पहुँच जाता है जिसे निर्वाण के नाम से पुकारते हैं। निर्वान के विषय में बौद्ध धर्म के सम्प्रदायों में बड़ा मतभेद है। यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा कि "निर्वाण जीवन मुक्ति का ही संकेत है।" अंगुत्तर निकाय" में निर्वाण प्राप्त पुरुष की उपमा शील से दी गयी है।

"सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दा पंससेसु न समिञ्जन्ति पण्डिता॥
इट्ठा धम्मा अनिट्ठा च, न पवेधन्ति ता दिनो।
ठितं चित्तं विप्पमुत्तं बसं यस्सनुपस्सति॥[1]

अर्थात् "प्रचंड झंझावात पर्वत को स्थान से च्युत नहीं कर सकता। भयंकर आँधी के चलने पर भी पर्वत एकरस, अडिग अच्युत बना रहता है। उसी प्रकार निर्वान प्राप्त व्यक्ति की स्थिति है। रूप, रस, गन्धादि विषयों के थपेड़े, उसके ऊपर लगातार पड़ते रहते हैं। परन्तु उसके शान्त चित्त को किसी प्रकार भी क्षुब्ध नहीं करते। आम्नायों से रहित होकर वह पुरुष अखण्ड शांति का अनुभव करता है।"

उपादान का निरोध ही भव निरोध होता है और भव निरोध से ही विभव निरोध होता है। अर्थात् काम, भव, विभव की तृष्णा ही दु:ख समुदाय है। इन सबका निरोध करना ही बौद्ध धर्म का मुख्य उद्देश्य है।

---

1. अंगुत्तर निकाय 3

इस दु:ख निरोध की नींव पर ही बौद्ध-दर्शन के विविध बहुभिमय प्रासाद खड़े किये गये हैं।

4. दु:ख निरोध-गामिनी प्रतिपदा (अष्टांगिक) मार्ग—'प्रतिपद्' का अर्थ है—मार्ग। यही चतुर्थ आर्यसत्य है जो दु:ख निरोध तक पहुँचने वाला मार्ग है। यदि कोइ गन्तव्य स्थान है तो उसका मार्ग भी अवश्य होगा। निर्वान प्रत्येक प्राणी का गन्तव्य स्थान है तो उसके लिए मार्ग की कल्पना भी न्यायसंगत है। इस मार्ग का नाम अष्टांगिक मार्ग है। इसके आठ अंग हैं—

(क)	सम्यक् दृष्टि	प्रज्ञा
(ख)	सम्यक् संकल्प	
(ग)	सम्यक् वाचा	
(घ)	सम्यक् कर्मान्त	शील
(ङ)	सम्यक् आजीविका	
(च)	सम्यक् व्यायाम	
(छ)	सम्यक् स्मृति	समाधि
(ज)	सम्यक् समाधि	

'अष्टांगिक मार्ग' बौद्ध धर्म की आचार मीमांसा का चरम साधन है। इस मार्ग पर चलने से प्रत्येक व्यक्ति अपने दु:खों का हठात् नाश कर देता है तथा निर्वान प्राप्त कर लेता है। इसलिए यह समस्त मार्गों में श्रेष्ठ माना गया है। जेतवन में पाँच हजार भिक्षुओं को उपदेश देते समय भगवान् बुद्ध ने इन्हीं आठ मार्गों की चर्चा की है।

"एसो व मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे परिपज्जथ, मारस्सेसं पमोहनं॥[1]

बुद्ध धर्म के अनुसार प्रज्ञा-शील एवं समाधि ये तीन मुख्य साधन माने जाते हैं। अष्टांगिक मार्ग इसी साधनमय का पल्लवित रूप है। बुद्ध धर्म में आचार की प्रधानता है। तथागत निर्वान के लिए तत्त्व ज्ञान के जटिल मार्ग पर चलने की शिक्षा कभी नहीं देते, प्रत्युत तत्त्व ज्ञान के विषय प्रश्नों के उत्तर में वे मौनालम्बन ही श्रेयस्कर समझते हैं। आचार पर ही उनका प्रधान लक्ष्य है। यदि अष्टांगिक मार्ग का सम्यक् पालन किया जाय, विना किसी मीनमेख के इसके यथोचित पर आरूढ़ होना एकदम अनावश्यक है। केवल शब्दत: इस मार्ग का आश्रय कभी उचित फल देने में समर्थ नहीं हो सकता इसलिए भगवान् बुद्ध ने चेतवन में अपने पाँच हजार भिक्षुओं के सामने डंके की चोट पर अपने सिद्धान्त का सिंहनाद किया—.

---

1. धम्मपद—274

तुम्हेहि किच्चमातमं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना।[1]

अर्थात् हे भिक्षुओ, उद्योग तुम्हें करना होगा। तथागत का कार्य तो केवल उपदेश देना है। मार्ग बतलाना मेरा कार्य है, उस पर चलना तुम्हारा कार्य है। उस मार्ग पर आरूढ़ होकर ध्यान में रत होने वाले व्यक्ति ही मार के बंधन से मुक्त होते हैं। इससे बढ़कर उद्योग तथा स्वावलंबन की शिक्षा दूसरी कौन हो सकती है।

भगवान् बुद्ध को बिहार-प्रदेश के उरुवेला क्षेत्र में जिन चार आर्यसत्यों का ज्ञान प्राप्त हुआ था उनका संक्षेप में यही सार है। भगवान् बुद्ध इन्हीं चार आर्यसत्यों का सर्वत्र प्रचार करके दुःख से छुटकारा दिलाने के लिए इनमें आचरण करने का उपदेश देते थे। इन विषयों को ठीक-ठीक समझने वाला ही भिक्षु कायानुपश्यी, वेदनानुपश्यी, चिन्तानुपश्यी और धर्मानुपश्यी कहलाता है। इसी प्रकार कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना चिन्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना को ही बौद्ध धर्म में चार स्मृति प्रस्थान कहा गया है।

उपर्युक्त चार आर्यसत्य ही बौद्ध चक्र की सम्पूर्ण धाराओं की एक मात्र धुरी है जिनके सहारे भगवान् बुद्ध अपने धर्म चक्र को निरन्तर चलाते रहते थे—ये हैं—त्रिकुसलाधम्मा।[2]

बौद्धदर्शन की मौलिकता—प्रतीत्यसमुत्पादं या आश्रित उत्पत्ति का सिद्धान्त—बौद्ध दर्शन के मुख्य विषय तीन हैं। दुःख, प्रतीत्यसमुत्पाद (क्षणिकवाद) और अनात्मा। दुःख के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है और बतलाया गया है कि संसार के सारे पदार्थ और शरीर और शरीर के सारे धर्म दुःख समुदाय हैं। इन्हीं सम्पूर्ण तृष्णाओं का छेदन ही निर्वाण है, जो मानव मात्र के लिए साध्य हैं। इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन में ही बौद्ध दर्शन का विकास हुआ है। भगवान् बुद्ध ने सकल धर्मों के उच्छेद के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद (क्षणिकवाद) और अनात्मवाद का सिद्धान्त आविष्कृत किया। प्रतीत्यसमुत्पाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो भगवान् बुद्ध का एकमात्र मौलिक सिद्धान्त कहा जा सकता है।

भगवान् बुद्ध के विशुद्ध मौलिक सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद को ही क्षणिकवाद कहा जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को समझाने के लिए पहले इसका शाब्दिक अर्थज्ञान लेना आवश्यक है। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का अर्थ है 'सापेक्षकारणतावाद' प्रतीत्य (प्रति+ इ = गतौ + ल्यप्) किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर समुत्पाद-अन्य वस्तु की उत्पत्ति। बुद्ध ने इतना ही कहा—''अस्मिन् सति भवति''। इस चीज के होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है। बुद्ध ने कहा—''जब तक कि वस्तुओं का घटनाओं में सर्वत्र यह कार्यकारण का निकाय जागरूक है। एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है।

1. धम्मपद—276
2. मज्झिमनिकाय [महाहत्थिपद]

वस्तु की उत्पत्ति बिना किसी कारण के नहीं होती।'' कार्यकारण का यह महत्त्वपूर्ण नियम बुद्ध की अपनी खोज है। उन्होंने अपने समय के दार्शनिकों के मतों की समीक्षा की तब उन्हें पता चला कि कुछ लोग नियतिवादी हैं। उनके अनुसार जगत् के समस्त कार्य बुरे या भले भाग्य के अधीन हैं। भाग्य जिधर मुड़ता है उधर ही घटना परम्परा झुकती है। कुछ लोग ईश्वरेच्छा को ही मान्यता देकर जगत् के कार्य के लिए ईश्वर की मनमानी इच्छा के कारण बतलाते थे। परन्तु बुद्ध का मुक्तिप्रवण हृदय इन समीक्षाओं को मानने के लिए तैयार न था। ये विभिन्न मत त्रुटिपूर्ण होने से इनकी बुद्धि में बेहतर खटकते थे। यदि इन मतों को अंगीकार किया जाय तो कोई भी व्यक्ति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। वह कृपण या तो भाग्य के पंजे में फँस कर या ईश्वर के वश में होकर इच्छा या अनिच्छा से अनेक कार्यों का सम्पादन करता रहता है। अपने कार्यों के लिए दूसरों का अवलम्बन होने के कारण उसकी उत्तरदायिता क्यों कर मुक्त मानी जा सकती है? इस दुरवस्था से बाध्य होकर भगवान् बुद्ध ने इस कार्यकारण के अटल नियम की व्यवस्था की।

यह नियम अटल है-अमिट है। देश, काल या विषय इन तीनों में यह नियम जागरूक है। इस जगत् के जीव ही इस नियम के वशीभूत नहीं है बल्कि रूपधातु के देवता आदिप्राणी भी इस नियम के आगे अपना मस्तक झुकाते हैं। भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन तीनों कालों में यह नियम लागू है। बौद्धों के अनुसार, कारणता का यह चक्र अनन्त तथा अनादि है। इसलिए वे लोग इस जगत् का कोई भी मूल कारण मानकर इसका प्रारम्भ मानने के लिए तैयार नहीं हैं। यह नियम—सब विषयों पर चलता है।

इसमें अपवाद केवल असंस्कृत धर्म है जो नित्य तथा अनुत्पन्न माने जाते हैं। समस्त संस्कृत धर्म चाहे वे रूप, चित्त, चैत्तसिक या चित्तविप्रयुक्त हो, हेतु प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होते हैं। बौद्ध लोग कुछ और आगे बढ़ते हैं। स्वयं बुद्ध भी इस कार्य-कारण नियम के वशीभूत हैं। तीनों कालों के बुद्ध न तो इस महान् नियम के परिवर्तन करने में समर्थ हैं और न भविष्य में समर्थ होंगे। बुद्ध धर्म की यह महती विशेषता है। अन्य धर्मों में भी ये नियम थोड़े और अधिक अंशों में विद्यमान हैं। परन्तु अनेक उच्चतम शक्तियों के आगे इसका प्रभाव तनिक भी नहीं रहता।

अन्य धर्मों में ईश्वर इस नियम के प्रभाव से परे बतलाया जाता है। परन्तु इस धर्म में स्वयं बुद्ध भी इस नियम से उसी प्रकार बद्ध हैं तथा पराधीन हैं जिस प्रकार साधारण व्यक्ति।

भगवान् बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद को देखते हैं। उनका कहना था कि ''योपतिच्चसमुत्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति, यो धम्मं पस्सति सो पतिच्चसमुत्पादं पस्सति ति, पतिच्चसमुत्पन्नं सो पनि मे यदिदं पंचुपादानखन्धा।[1]

---

1. मज्झिम निकाय ''महाहलिपदोपमसुत्त''

अर्थात् जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है। जो धर्म को देखता है, वही प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त को समझने वाला ही पंचस्कंधों और धर्मों को समझ सकता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अंग हैं। जिसमें एक दूसरे के कारण उत्पन्न होते हैं। इसे भवचक्र के नाम से पुकारते हैं। (1) अविद्या, (2) संस्कार, (3) विज्ञान, (4) नाम-रूप, (5) षडायतन (6) स्पर्श, (7) वेदना, (8) तृष्णा, (9) उपादान, (10) भव, (11) जाति, (12) जरा-मरण, बुढ़ापा तथा मृत्यु।

इन द्वादश निदानों की व्याख्या में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में पर्याप्त मतभेद है। हीनयानी सम्प्रदायों में आश्चर्यजनक एकता है। इस प्रसंग में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उपयोग कर द्वादश निदान तीन जन्मों से सम्बद्ध माने जाते हैं। प्रथम दो निदानों का सम्बन्ध अतीत जन्म से है। उसके अनन्तर आठ निदानों (3-10) का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है तथा अंतिम दो (11, 12) का भविष्य जीवन से सम्बन्ध है। उसी कारण वसुबंधु ने इसे त्रिकाण्डात्मक बतलाया है।

कारण शृंखला

अतीत जन्म

(1) **अविद्या**—पूर्वजन्म की वह दशा जिसमें अज्ञान, मोह तथा लोभ के वश में होकर प्राणी क्लेशबद्ध रहता है।

(2) **संस्कार**—पूर्वजन्म की वह दशा जिसमें अविद्या के कारण प्राणी भला या बुरा कर्म करता है।

वर्तमान जीवन

(3) **विज्ञान**—इस जीवन की वह दशा जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता है और चैतन्य प्राप्त करता है।

(4) **नाम-रूप**—गर्भ में भ्रूण का कलल या बुदबुद आदि अवस्था है। नाम-रूप से अभिप्राय भ्रूण की मानसिक तथा शारीरिक अवस्था है। जब वह गर्भ में चार सप्ताह बिता चुकता है।

(5) **षडायतन**—'आयतन'—इन्द्रिय। उस अवस्था का सूचक है जब भ्रूण माता के उदर से बाहर आता है। उसके अंग-प्रत्यंग बिल्कुल तैयार हो जाते हैं, परन्तु अभी तक वह उन्हें प्रयुक्त नहीं करता।

(6) **स्पर्श**—शैशव की वह दशा जब शिशु बाह्य जगत् के पदार्थों के साथ सम्पर्क में आता है। वह अपनी इन्द्रियों के प्रयोग से बाहरी जगत् को समझाने का प्रयत्न करता है। परन्तु उसका ज्ञान इस समय धुँधला रहता है।

(7) वेदना—सुख-दु:ख, न सुख न दु:ख। ये वेदना के तीन प्रकार हैं। शिशु की वह दशा जब वह पाँच-छ: वर्षों के अनंतर सुख-दु:ख की भावना से परिचित होता है। स्पर्श में बाह्य जगत् का ज्ञान (धुँधला ही सही) उत्पन्न होता है और वेदना में अन्तर जगत् का ज्ञान जाग्रत होता है। दस वर्ष तक बालक के शरीर के मन की प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं। परन्तु अभी तक उसे विषय सुख का ज्ञान नहीं रहता है।

(8) तृष्णा—वेदना होने पर इस सुख को मुझे पुन: करना चाहिए, इस प्रकार के निश्चय का नाम तृष्णा है। बौद्ध धर्म दर्शन के अनुसार तृष्णा ही दु:ख का मूल कारण है।

(9) उपादान—उपादान का अर्थ है तृष्णा वैपुल्य—तृष्णा की बहुलता। युवक की बीस या तीस की अवस्था में विषय की कामना प्रबलतर हो उठती है। कामना के वश में होकर आपसी प्रबल इच्छाओं की परिभूति के लिए उद्योग करता है। उपादान (आसक्ति) अनेक प्रकार के होते हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—कामोपादान—स्त्री में आसक्ति, शीलोपादान—व्रतों में आसक्ति आत्मोपादान आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति। आत्मोपादान सबसे बढ़कर प्रबल तथा प्रभावशाली होता है।

(10) भव—वह अवस्था जब आसक्ति के वश में होकर मनुष्य नाना प्रकार के भले-बुरे कर्मों का अनुष्ठान करता है। इन्हीं कर्मों के कारण मनुष्य को नया जन्म मिलता है। नवीन जन्म का कारण इस वर्तमान जीवन में सम्पादित कार्यकलाप ही होता है। पूर्वजन्म में संसार के समान ही संभव होता है। दोनों में पर्याप्त सादृश्य है।

भविष्य जन्म

(11) जाति—जन्म। भविष्य जन्म में मनुष्य की दशा जब माता के गर्भ में आता है और अपने दुष्कृत या सुकृत फलों को भोगने के लिए योग्यता पाता है।

(12) जरा-मरण—भविष्य जन्म में मनुष्य की दशा जब वह दृढ़ता को पाकर मरण प्राप्त करता है। उत्पन्न स्कंधों के परिपाक का नाम जरा है और उनके नाश का नाम मरण है। ये दोनों अंतिम निदान विज्ञान से लेकर भव तक (3-10) निदानों को अपने में सन्निविष्ट करते हैं।

उपर्युक्त समीक्षण—क्षण उत्पन्न धर्म एवं विनाशी हैं। इसी चक्र का अनुलोम-विलोम करके बुद्ध ने दु:ख समुदाय, दु:ख विरोध और दु:ख निरोध में अष्टांगिक मार्ग को समझाया था। ये सभी हेतु फल प्रत्ययन न तो सत्य हैं न नित्य हैं। इन सभी कार्य-कारणों का निरोध किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन में इसी सिद्धान्त को प्रतीत्य—समुत्पाद या क्षणिकवाद कहते हैं।

हमने देखा कि प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त सभी विषयों और धर्मों का विच्छिन्न प्रवाह की तरह उत्पन्न और विलीन हेतु फल वाला मानता है। इसमें कार्य-कारण भाव में अविच्छिन्न परम्परा का न तो सम्बन्ध है और न इसमें नित्य सत्य और अविनाशी आत्मा का कहीं स्थान है। इस सिद्धान्त में यदि किसी धर्म को नित्य-सत्य माना जायेगा अथवा

अविनाशी आत्मा को स्थान दिया जायेगा तो बुद्ध के निर्वाण का सारा बल व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि सकल धर्म विषयों का उच्छेद ही निर्वाण है और नित्य-सत्य विषयों का उच्छेद सम्भव नहीं है। इसी प्रकार हेतु फलों में यदि अविच्छत परम्परा का सम्बन्ध माना जायेगा तो अविद्याजनित सारे धर्मों का कभी शुद्धीकरण हो ही नहीं सकेगा तथा अष्टांगिक मार्गों के आचरण का उद्योग भी व्यर्थ हो जायेगा और तब ऐसी अवस्था में निर्वाण भी असम्भव हो जायेगा। इसलिए बुद्ध का यह निश्चित सिद्धान्त है कि दूसरा ही जन्म लेता है। दूसरे का ही निरोध होता है। यद्यपि भगवान् बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु फल में अविच्छिन्न प्रवाह नहीं मानता तथापि वह यह मानता है कि एक (कारण) के उत्पन्न होने और उसके मिटने पर दूसरे (कार्य) की उत्पत्ति सम्भव है—

अर्थात् हेतु के बिल्कुल नाश हो जाने पर ही कार्य का नया उत्पाद होता है। बुद्ध के इस क्षणिकवाद की गति में न तो धारा प्रवाह की गति है या न सरिसृप्त सिद्धान्त की, बल्कि इसमें बीजांकुर न्याय का सिद्धान्त विदित है।

यह समूचा विवरण स्थविरवादी तथा वस्तिवादी के साकाल मंतव्यों के अनुकूल है। महायान मत के अनुसार इसमें पार्थक्य है। ध्यान देने की बात है कि माध्यमिकों ने परामर्श सत्य की दृष्टि से (प्रतीत्यसमुत्पाद) के सिद्धान्त को मान्य नहीं ठहराया है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से (सांवृतिक सत्य) से इसे उपादेय माना है। योगाचार मत की व्याख्या ही महायान के तात्पर्य को जानने के लिए एकमात्र साधन है। योगाचार मतवादी आचार्यों ने इस तथ्य के व्याख्यान में दो नयी बातों का उल्लेख किया है।

पहली बात यह है कि उनकी दृष्टि में द्वादश निदानों का सम्बन्ध केवल दो जन्मों के साथ है तीन जन्मों के साथ नहीं (जैसा कि महायानी मानते आये थे) इनमें केवल दो काण्ड है—पहले से लेकर 10 तक तथा 11 से 12 जिसमें प्रथम दश का संबंध एक जन्म से है तथा दूसरे का दूसरे जीवन के साथ। उदाहरणार्थ—यदि प्रथम दस निदानों का संबंध पूर्व जन्म से है तो 11 से 12 निदान का इस जन्म से है।

दूसरी बात निदानों के चार विभेदों के विषय को लेकर है। योगाचार की मूल कल्पना है कि आलय विज्ञान में विद्यमान बीजों का ही विकास या विस्तृतीकरण है। इसी कल्पना के अनुरोध से उन लोगों ने नवीन चार भेदों का वर्णन किया है। भौतिक जगत् की सृष्टि के लिए यह आवश्यक है कि कोई कारण शक्ति मानी जाय जो प्रत्येक धर्म में बीज का उत्पादन करे परन्तु उत्पत्ति के अनन्तर भी ये बीज आलय विज्ञान में शांत रूप से रहेंगे। जब तक किसी उद्‌बोधक कारण की सत्ता न मानी जाय। जैसे—एक वृक्ष से वृक्षान्तर की उत्पत्ति होने के लिए बीज का होना अनिवार्य है और यह बीज भी वृक्ष के उत्पादन में समर्थ नहीं होगा जब तक पृथ्वी, वायु, सूर्य की सहायता पाकर वह अंकुरित न हो। इसी दृष्टान्त को दृष्टि में रखकर योगाचार ने निदानों के चार निम्न प्रकार माने हैं—

वर्तमान 1. बीज—सत्पदार्थ शक्ति—अविद्या संस्कार
2. बीज—विज्ञान = वेदना
3. बीजोत्पादन सामग्री = तृष्णा, उपादान तथा भव

भविष्य 4. व्यक्त कार्य = जाति परागमन

निदानों की समीक्षा में योगाचार का मत पर्याप्त प्रमाण के ऊपर अवलम्बित है यह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन की आधारशिला है। इसलिए दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का विवेचन बड़ी ऊहापोह के साथ किया है।

कर्म के सम्बन्ध में बुद्ध के विचार

बौद्ध दर्शन हेतुवादी दर्शन है। विश्व की तमाम घटनाओं के पीछे हेतु संबद्ध है। विना कारण के किसी घटना की पुष्टि नहीं हो सकती है। बौद्धों को यही कारण-कार्य का सिद्धान्त मान्य है। यदि दु:ख हो तो दु:ख का कारण तृष्णा है। उसी प्रकार वर्तमान कर्मों के विपाक स्वरूप मनुष्य का अगला जन्म निर्धारित होता है। यदि बौद्ध दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन है तथा स्थायी आत्मा की यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है तब पुनर्जन्म किसका होता है? बुद्ध पुनर्जन्म सिद्धान्त को मानते हैं। वैदिक मत में भी यही सिद्धान्त मान्य है। परन्तु वहाँ आत्मा को नित्य एवं शाश्वत माना गया है। लेकिन बौद्धमत आत्मा के अस्तित्व से ही इनकार करता है। फिर पुनर्जन्म किसका होता है? क्या वह जिसने कर्म किया है, वह अतीत में जीर्ण हो जाता है और जो करता है उसने वे कर्म नहीं किये जिसके फल भोगने के लिए नये जन्म की जरूरत पड़ती है।

राजा मिलिन्द का भी यही प्रश्न था कि जो उत्पन्न होता है वह वही व्यक्ति है या दूसरा? भले नागसेन का उत्तर था—न वही है, न दूसरा। और इस सिद्धान्त को उन्होंने दीपशिखा के दृष्टांत से अभिव्यक्त किया। यदि कोई मनुष्य रात्रि के समय दीपक जलाता है तो क्या रात भर वही दीपक जलता है। साधारण रीति से तो यही प्रतीत होगा कि रात भर एक दीपक जलता है, परन्तु वस्तुस्थिति बतलाती है कि रात के पहले पहर की दीपशिखा दूसरी थी। दूसरे तीसरे पहर की दीपशिखा उससे भिन्न थी। फिर भी एक दीपक जलता रहता है। दीपक एक है परन्तु उसकी शिखा प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। आत्मा के संबंध में भी यही दशा चरितार्थ होती है। ''किसी वस्तु के अस्तित्व के सिलसिले में एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक लय होती है और इस प्रकार प्रवाह जारी रहता है। प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता है। क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उठ खड़ी होती है। एक जन्म के अंतिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है।''

दूध की बनी चीजों को ध्यान से देखने से उपर्युक्त सिद्धान्त लागू होता है। दूध दुहे जाने पर कुछ समय के पश्चात् जमकर दही हो जाता है। दही से मक्खन एवं मक्खन से घी बनाया जाता है। इस पर प्रश्न है कि जो दूध या दहो था जो दही वही मक्खन, जो

मक्खन वही घी। उत्तर स्पष्ट है—ये चीजें दूध नहीं बल्कि दूध के विकार हैं। दूध से बनी चीजें हैं प्रवाह भी उसी प्रकार जारी रहता है। पुनर्जन्म के समय जन्म लेने वाला जीव न तो वही है, न उससे भिन्न। सच तो यह है कि विज्ञान की लड़ी प्रतिक्षण बदलती नित्य-सी दीखती है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम उठ खड़ा होता है। प्रतिक्षण कर्म नष्ट होते चले जाते हैं। परन्तु उनकी वासना अगले क्षण में अनुभूत रूप से प्रवाहित होती चली जाती है। इसलिए अविरलता को मानते हुए भी बौद्धों ने पूर्वजन्म के सिद्धान्त को तर्क युक्त माना है।

बौद्ध दर्शन में नैरात्मवाद

भगवान् बुद्ध पक्के अनात्मवादी थे। अपने उपदेशों में उन्होंने आत्मवाद के अनुयायियों की कड़ी आलोचना की है। यह अनात्मवाद बुद्ध धर्म की दार्शनिक भित्ति है जिस पर समग्र आचार एवं विचार अपने आश्रय के निमित्त अवलम्बित हैं। आत्मवाद का बुद्ध ने बड़े ही सुन्दर ढंग से खण्डन किया है। उनके खण्डन का मूल यह है कि समग्र आत्मवादी पुरुष आत्मा के स्वरूप को विना जाने उसके मंगल के लिए नाना प्रकार के सत्कर्म तथा दुष्कर्म किया करते हैं। इस सिद्धान्त के उदाहरण बड़े मार्के के हैं। भगवान् बुद्ध का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति देश की सबसे सुन्दर स्त्री (जनपद कल्याणी) से प्रेम करता हो, लेकिन न तो उसके गुण से परिचित हो, न उसके रूप से, न उसके नाम गोत्र से ही परिचित हो ऐसे पुरुष का आचरण लोक में हास्यास्पद होता है। उसी प्रकार आत्मा के गुण-धर्म को विना जाने उसके परलोक में सुख प्राप्ति की कामना से जो व्यक्ति यज्ञ करता है वह भी उसी प्रकार ग्रहणीय होता है। महल की स्थिति से परिचय विना ही जो व्यक्ति चौरास्ते के ऊपर उस पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ तैयार करे भला उससे बढ़कर कौन मूर्ख हो सकता है। सत्ताहीन पदार्थ की प्राप्ति का उद्योग परम मूर्खता सूचक है। उसी प्रकार असत् आत्मा के मंगल के लिए नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन भी मूर्खता है। आत्मा की सत्ता को बुद्ध बड़ी तुच्छ बुद्धि से देखते थे। वे कहते हैं—"जो यह मेरा आत्मा अनुभव कर्त्ता अनुभव का विषय है और जहाँ-तहाँ बुरे-भले कर्मों के विषय को अनुभव करता है यह मेरा आत्मा नित्य-ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील हैं। अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा। हे भिक्षुओ! यह भावना बिल्कुल बाल धर्म है।"[1] बुद्ध के इस उपदेश से आत्मभाव के प्रति उनकी अवहेलना स्पष्ट है। वे नित्य, ध्रुव, आत्मा के अस्तित्व को मानने से इनकार करते हैं। बुद्ध के अनात्मवाद के भीतर कौन सा रहस्य है? भारतीय चिन्तन परंपरा में अनेक अंश में पक्षपाती होने पर भी उन्होंने इस उपनिषद् प्रतिपादित आत्म तत्त्व को तुच्छ दृष्टि से क्यों तिरस्कृत कर दिया? इस प्रश्न का अनुसंधान बड़ा ही रोचक है। इस विचित्र संसार के दुःखमय जीवन का कारण तृष्णा या काम है। काम वह समुद्र है जिसके अंत का पता नहीं है और जिसके भीतर जगत् के

1. दीघ निकाय (हिन्दी अनुवाद), पृ० 73

समस्त पदार्थ समा जाते हैं।

"समुद्र इव हि कामः, नहि कामस्यान्तोऽस्ति।[1]

अथर्ववेद के कामसूक्त में काम के प्रभाव का विशिष्ट वर्णन किया गया है। काम ही सबसे पहले उत्पन्न हुआ, इसके रहस्य को न तो देवताओं ने जाना है, न पितरों ने, न मर्त्यों ने, इसीलिए काम तुम सबसे बड़े हो, महान् हो।"

"कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इति कृणोमि।।[2]

काम अग्नि रूप है। जिस प्रकार अग्नि समस्त पदार्थों को अपनी ज्वाला से जलाकर भस्म कर देती है उसी प्रकार काम प्राणियों के हृदय को जलाता है।

"यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुः"[3]

बुद्ध धर्म में यही काम मार के नाम से प्रसिद्ध है। सुगत के जीवन में मार विजय को इसलिए प्रसिद्धि प्राप्त है कि उन्होंने अपने ज्ञान के बल पर इस अजेय काम को जीत लिया था। इस काम का विजय वैदिक ऋषियों को उसी प्रकार अभीष्ट है जिस प्रकार बुद्ध को।

उपनिषदों का कहना है कि आत्मा की कामना के लिए सब प्रिय होता है। जगत् में प्यारी वस्तु यही आत्मा है जिसके लिए प्राणी विषय के सुखों की कामना किया करता है। हमारी स्त्री, पुत्रादिकों के ऊपर आसक्ति इसी स्वार्थ के ऊपर अवलम्बित है। 'बृहदारण्यक' में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए आत्मा को ही सब कामनाओं का केन्द्र बिन्दु बतलाया है। दारा दारा के लिए प्यारी नहीं है। आत्मा को काम से ही वह प्यारी बनती है। समस्त पदार्थों की यही दशा है। बुद्ध ने उपनिषद् के इस सिद्धान्त को ग्रहण किया है, परन्तु इस काम के अनारभ्य के लिए एक नवीन मार्ग की शिक्षा दी है। इनकी विचारधारा का प्रवाह नये रूप से प्रवाहित हुआ है। आत्मा का अस्तित्व मानना ही सब अनर्थों का मूल है। आत्मा के रहने पर ही अहंकार, अहंभाव का उदय होता है। इस आत्मा को सुख पहुँचाने के लिए ही जीव नाना प्रकार से इस शरीर को सुख देता है और सुख प्राप्ति के उपायों को ढूँढ़ता है। काम का उदय इसी राग के परम आश्रय आत्मा के अस्तित्व पर निर्भर है। अतः इस आत्मा का निषेध करना ही काम विजय का सबसे सुगम मार्ग है। राग की वस्तु के अभाव में राग ही किस प्रकार किया जायेगा? उदान के पुत्रशोक से विह्वल विशाखा को शांत करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा—

---

1. तैत्ति० ब्रा० 2. 2. 5. 6
2. अथर्ववेद 9. 2. 19
3. वही—3. 21. 4

ये केचि सोका परिदेवित वा
दुक्खा च लौस्यिं अनेकस्या
प्रिय पतिच्चेव व भवंति एके
पिये असन्ते न भवति एते॥[1]

अर्थात् इस संसार में जितने शोक, सन्ताप, नाना प्रकार के क्लेश उत्पन्न होते हैं वे प्रिय वस्तु के लिए ही होते हैं। प्रिय के अभाव में शोकादि का भी अभाव अवश्य होता है।

भगवान् बुद्ध के इसी उपदेश की प्रतिध्वनि कालान्तर में बौद्ध आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। नागार्जुन का कहना है कि जो आत्मा को देखता है उसी पुरुष का 'अहं' के लिए सदा स्नेह बना रहता है। स्नेह से सुखों के लिए तृष्णा पैदा होती है तथा दोषों को ढक लेती है। गुणदर्शी पुरुष विषय मेरे हैं इस विचार से विषयों के साधनों को ग्रहण करता है। तृष्णा से उपादान का जन्म होता है।

अत: जब तक आत्माभिनिवेश है तब तक संसार है। आत्मा के रहने पर ही पर (दूसरे) का ज्ञान होता है। स्व और पर के विभाग से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। स्व के लिए राग और पर के लिए द्वेष। और राग-द्वेष के कारण ही समस्त दोष उत्पन्न होता है। अत: समस्त दोषों की उत्पत्ति का निदान आत्म दृष्टि है। विना इसको हटाये दोषों का निराकरण असम्भव है। बुद्ध धर्म को शांतिदायी होने का मुख्य कारण नैरात्मवाद की स्वीकृति है। चन्द्राकीर्ति के मत में भी सत्काम दृष्टि के रहने पर ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। इस बात की समीक्षा कर तथा आत्मा को इस दृष्टि का विषय मानकर योगी आत्मा का निषेध करता है। अत: आत्मा का यह निबन्ध काम के निराकरण के लिए किया गया है।

अनात्मवाद की ही दूसरी संज्ञा (पुद्गल) नैरात्म तथा सत्काम दृष्टि है। सत्काम दृष्टि को ही आत्मग्रह आत्माभिनिवेश तथा आत्मवाद कहते हैं।

'सर्वअनात्म'—यही बुद्ध धर्म का मान्य सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ स्वरूप शून्य हैं। कतिपय धर्मों के सम्मुख मात्र है। उनका स्वतंत्र सत प्रतीत नहीं होता। अनात्म शब्द में नज का अर्थ प्रसन्य प्रतिबोध नहीं है। प्रस्युत पर्युदाय है। अनात्म शब्द यही नहीं घोषित करता है कि आत्मा का अभाव है। बल्कि आत्मा के अभाव के साथ-साथ अन्य पदार्थों की सत्ता बतलाता है। आत्मा को छोड़कर सर्व वस्तुओं की सत्ता या अस्तित्व है। 'सर्ववस्तु' की दूसरी संज्ञा धर्म है। धर्म का इस विलक्षण अर्थ में प्रयोग हम बुद्ध धर्म में ही पाते हैं। धर्म का अर्थ है अत्यंत सूक्ष्म, प्रकृति तथा मन के अंतिम तत्त्व जिनका पुन: पृथक्करण नहीं किया जा सकता। यह जगत् इन्हीं नाना धर्मों

1. उदान—8/8

के घात-प्रतिघात से सम्पन्न हुआ है। बौद्ध धर्म सांख्यों के गुण के समान है। दोनों अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ हैं। अन्तर इतना ही है कि तीनों गुण (सत्त्व, रज तथा तम) की सत्ता के साथ-साथ सांख्य गुणत्रय की लाभ्यावस्था रूपिणी प्रकृति मानता है।

बौद्ध दार्शनिक अवयववादी है। नैयायिकों के समान अवयव से पृथक् अवयवी की सत्ता वे स्वीकार नहीं करते। न्याय दृष्टि में घट परमाणु पुंज के अतिरिक्त एक नवीन पदार्थ है।

अर्थात् अवयवी घट अवयवस्वरूप परमाणुओं से पृथक् सत्ता रखता है। परन्तु बौद्धों की दृष्टि में परमाणु का समुच्चय ही घट है। अवयव से भिन्न अवयवी नामक कोई पदार्थ होता ही नहीं है।

जगत् के अत्यन्त सूक्ष्मतम पदार्थों की ही संज्ञा धर्म है। इनकी सत्ता सर्वथा माननीय है। परन्तु इन्हें छोड़ देने पर वस्तुओं का स्वरूप भूत अवयवी पदार्थ कोई विद्यमान रहता है। यह बात बौद्ध लोग मानने के लिए तैयार नहीं हैं। अनात्म कहने का अभिप्राय यह है कि धर्म की सत्ता है। परन्तु उनसे अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नहीं है। अत: नैरात्म्य की ही संज्ञा धर्मता है। अभिधर्म कोश की व्याख्या (स्फुटार्था) में यथोक्ति के इस कथन का **'प्रवचन धर्मता', ''पुनरत्र नैरात्म्यं बुद्धानुशासेन वा'** यही अभिप्राय है।

पुद्गल, जीव, 'आत्म सत्ता' ये सब शब्द एक-दूसरे के समानर्थक हैं। बुद्धमत में इन शब्दों के द्वारा अभिहित पदार्थ कोई स्वतंत्र नहीं है। आत्मा केवल नाम है। परस्पर सम्बद्ध अनेक धर्मों का एक सामान्य नामकरण आत्मा या पुदगल है। बुद्ध धर्म में व्यावहारिक रूप से आत्मा का निषेध नहीं किया गया है बल्कि पारमार्थिकरूप से ही किया गया है। अर्थात् लोक व्यवहार के लिए आत्मा की सत्ता है जो रूप वेदना, संज्ञा संस्कार तथा विज्ञान-पंचस्कन्धों का समुदाय मात्र है। परन्तु इनके अतिरिक्त अनात्मा कोई स्वतंत्र परमार्थभूत पदार्थ नहीं है। आत्मा के लिए बौद्ध लोग (सन्तान) शब्द का प्रयोग करते हैं। जो अन्य सिद्धान्तों से उनकी विशिष्टता बतलाता है। आत्मा संतान रूप है। लेकिन किनका? मानसिक तथा भौतिक, अभ्यन्तर तथा बाह्य इन्द्रिय तथा इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थों का 18 धातु (इन्द्रिय, इन्द्रिय विषय तथा सद्सम्बद्ध विज्ञान) परस्पर मिलाकर इस सन्तान को उत्पन्न करते हैं और ये उपकरण प्रासि नामक संस्कार के द्वारा परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। प्रतीत्यसमुत्पादवादी बुद्ध ने एक क्षण के लिए भी आत्मा की पारमार्थिक सत्ता के सिद्धान्त को प्रश्रय नहीं दिया।

भगवान् बुद्ध ने व्यावहारिक धरातल आत्मा को पंचस्कन्धों का समूह बतलाया है। स्कन्ध का अर्थ होता है समूह। इन स्कन्धों के नाम इस प्रकार हैं—रूप, विज्ञान, संज्ञा वेदना और संस्कार। मनुष्य का शरीर पंच-स्कन्ध का समूहमात्र है। बौद्ध दर्शन में पंचस्कन्ध को नाम-रूप कहा गया है। शरीर के भौतिक भाग को रूप कहते हैं और नाम मानसिक प्रवृत्तियों को कहते हैं। शरीर एवं मन के संयोग से ही मनुष्य की स्थिति दिखाई पड़ती है।

चतु:स्कन्ध—यह परमाणुओं का स्कन्ध है। यह भौतिक अवष्कलापों का स्कन्ध है। यह पृथ्वी तत्त्व, अग्नि तत्त्व, जल तत्त्व और वायु तत्त्व से निर्मित है। इन चारों तत्त्वों के अपने-अपने गुण-धर्म हैं। इन तत्त्वों के गुण-धर्मों से मनुष्य के शरीर का निर्माण हुआ है। चित्त की चेतना के दूसरे स्कन्ध को संज्ञा-तीसरे को वेदना और चौथे खण्ड को संस्कार कहा जाता है। विज्ञान का अर्थ होता है जानना। ये आँख, नाक, जीभ, कान तथा त्वचा पाँच इन्द्रियाँ अपने आप में निर्जीव हैं जब तक चेतना का विज्ञान खण्ड उनमें साथ नहीं हो लेता, कि कोई वस्तु है पदार्थ है, गंध है, रस है तथा शब्द है। विज्ञान सिर्फ जानकारी प्रदान करता है। यह जैसे ही जानकारी हुई चेतना का दूसरा खण्ड संज्ञा उत्पन्न होता है जिसका कार्य पहचानना है। यह पहचान अब तक के अनुभवों एवं स्मरणों के आधार पर होती है। पहचान होती है तो मूल्यांकन होता है। कोई शब्द सामने आया पहचाना कि ये प्रशंसा में हैं या गाली में हैं। जैसे ही पहचाना, मूल्यांकन किया तो चेतना का तीसरा खण्ड उत्पन्न हुआ, जिसे वेदना कहते हैं। वेदना अर्थात् संवेदन यह सुखद भी होती है और दु:खद भी। जैसे ही सुखद या दु:खद संवेदना उत्पन्न होती है। उसी क्षण उसमें प्रतिक्रिया पैदा होती है जिसे संस्कार कहा जाता है।

सुखद् संवेदना हुई, प्रिय लगी उसमें प्रति राग जागा। दु:खद हुई तो अप्रिय लगने से द्वेष जागा। आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, एवं मन ये छ: इन्द्रियाँ हैं। ज्योंही इनसे सम्बन्धित विषय टकराते हैं त्योंही त्वरित गति से जानने, पहचानने, मूल्यांकन करने संवेदनशील होने और संस्कार बनाने का कार्य होता है।

प्रत्येक क्षण यही होता रहता है। राग के संस्कार बनते हैं। द्वेष के संस्कार बनते हैं। अब प्रश्न उठता है कि कर्म संस्कार के बीज कहाँ बनते हैं, कैसे बनते हैं? चित्त का पहला खण्ड विज्ञान, जो जानने का कार्य करता है, वह कर्म का बीज नहीं बनाता। इसी प्रकार चित्त का दूसरा खण्ड संज्ञा जो पहचानने का कार्य करता है वह कार्य का बीज नहीं बनाता। चित्त का तीसरा खण्ड वेदना भी कर्म का बीज नहीं बनाता है। चित्त का चौथा खण्ड संस्कार जिससे प्रतिक्रिया होती है वही कर्म के बीज को पैदा करता है। किसी भी कर्म (विषय) का संयोग चाहे आँख से हो, नाक से हो, कान से हो, त्वचा से हो, मन से हो, उसका प्रभाव शरीर पर घटित होता है। इसके साथ प्रतिक्रिया शुरू होती है और संस्कार बनने लगेगा। यह संस्कार शरीर के संवेदना के आधार पर ही बनेगा। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने नैरात्मवाद एवं कर्मफल का प्रतिपादन करते हुए एक व्यावहारिक धर्म दर्शन का संदेश दिया जो आगे चलकर भी सबके लिए अनुमानीय साबित हुआ।

नागसेन का आत्मविषयक सिद्धान्त

बौद्ध दर्शन अनात्मवादी दर्शन है। भगवान् बुद्ध अनात्मवादी थे। अपने उपदेशों में उन्होंने आत्मवाद के अनुयायियों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। यह अनात्मवाद कई धर्मों की दार्शनिक भित्ति है। "मिलिन्दपञ्ह" में भी हम इसी सिद्धान्त की पुष्टि पाते हैं।

बड़े ही सुन्दर ढंग से भदंत नागसेन ने आत्मवाद का खंडन तथा अनात्मवाद का मंडन किया है।

राजा मिलिन्द (मिनाण्डर) के बीच कुशल समाचार पूछने एवं परिचय प्राप्त करने में ही दार्शनिक संवाद छिड़ जाता है। संवाद भी उसी प्रश्न पर है जो बुद्ध दर्शन की आधारपीठ है। राजा मिलिन्द नागसेन के पास जाकर बैठ जाते हैं और प्रश्न करते हैं—"भन्ते! आप किस नाम से जाने जाते हैं? आप का नाम क्या है?" (किं नामेति भन्तेति?) "महाराज! मैं नागसेन नाम से पुकारा जाता हूँ। सब ब्रह्मचारी मुझे इसी नाम से पुकारते हैं। माता-पिता नागसेन, सूरसेन, बीरसेन, इत्यादि नाम देते हैं लेकिन यह सब केवल व्यवहार के लिए है, लेकिन यथार्थ में इस तरह का कोई पुरुष (आत्मा) विद्यमान नहीं है। लेकिन यदि यथार्थ में कोई व्यक्ति है ही नहीं तो आप को आवश्यक वस्तुएँ कौन देता है? उन वस्तुओं का उपयोग कौन करता है? ध्यान कौन लगाता है? आर्य मार्ग और उसका फल निर्वान कौन प्रत्यक्ष करता है? भले-बुरे का फिर तो कोई कर्त्ता नहीं है। आप का कोई गुरु भी नहीं? आप उपसम्पन्न भी नहीं? आप कहते हैं कि आप को लोग नागसेन नाम से पुकारते हैं, नागसेन क्या है?

"क्या केश नागसेन है?"

"केश किस प्रकार नागसेन हो सकते हैं?"

"तो क्या नख, दाँत, चमड़ी, मांस, शरीर नागसेन है।"

"नहीं महाराज।"

"तो फिर क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इन पाँचों स्कन्धों से अतिरिक्त वस्तु नागसेन है?"

(कि पन भन्ते अन्यत्र रूप वेदना संज्ञा संखार विञ्ञान नागसेनोति)

"नहीं महाराज।"

राजा मिलिन्द थक जाता है। उसकी बुद्धि आगे प्रश्न करना नहीं जानती। 'भन्ते! मैं पूछते-पूछते थक गया, फिर भी मैं यह नहीं जान सका कि नागसेन क्या है? तो नागसेन केवल एक नाम ही है।' अन्ततः नागसेन है क्या वास्तव में। 'भन्ते! आप असत्य बोल रहे हैं कि नागसेन नाम का कोई व्यक्तित्त्व विद्यमान नहीं है।' वितंत्रवादी मिलिन्द की बुद्धि को परिश्रांत जानकर नागसेन उसे कुछ आसान मार्ग से समझाना चाहते हैं। "महाराज! आप का जन्म तो क्षत्रिय कुल में हुआ है। इसलिए स्वभावतः आप सुकुमार हैं। फिर भी इतनी गर्मी में, दोपहर में चले ही आये। मुझे विश्वास है कि आप जरूर थक गए होंगे। आप पैदल आए हैं या रथ पर।" "भन्ते! मैं पैदल नहीं चलता हूँ। मैं रथ पर आया हूँ।" "महाराज यदि आप रथ पर आए हैं तो कृपया मुझे बताइए कि रथ है क्या?"

"क्या रथ के बाँस रथ हैं?"

"नहीं भन्ते, रथ के बाँस रथ नहीं हो सकते हैं।"

"तो क्या धुरी, पहिए, रस्से, पहिए के डंडे, बैल हाँकने की लाठी रथ है?"

"नहीं भन्ते।"

"तो फिर कहिए कि क्या रथ इनसे अलग कोई वस्तु है।"

"नहीं भन्ते, यह कैसे हो सकता है।"

"राजन्! मैं पूछ-पूछ कर हार गया। उस पर भी नहीं जान सका कि यथार्थ में रथ क्या है? तो फिर क्या आप का रथ केवल एक नाममात्र है। आप इस सारे जम्बूद्वीप 'भारतवर्ष' में सबसे प्रतापी राजा हैं तो फिर आप किसके डर से असत्य बोल रहे हैं?"

"भन्ते! मैं असत्य नहीं बोल रहा हूँ। रथ के बाँस, पहिए, रथ के ढाँचा, पहियों के डंडे, हाँकने की लकड़ी इन भिन्न-भिन्न अवयवों पर रथ का अस्तित्व निर्भर है। रथ एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिए है।"

"ठीक है महाराज। आपने यथार्थ रथ को समझ लिया। ठीक उसी प्रकार व्यक्ति की हालत है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, एवं विज्ञान इन पाँच स्कन्धों पर मेरा अस्तित्व निर्भर है। नागसेन शब्द केवल व्यवहार के लिए है। यथार्थ में नागसेन नाम का कोई व्यक्तित्व विद्यमान नहीं है। यथार्थ रूप में व्यक्ति की उपलब्धि नहीं होती।"

"परमत्थो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्दिति।"

भदन्त नागसेन की यह अनात्मवाद की व्याख्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके उदाहरण के विना मूल बुद्ध दर्शन संबंधी अनात्मवाद की कोई भी विवेचना पूरी नहीं मानी जा सकती। कहाँ तक भदन्त नागसेन ने बुद्ध मंतव्य को निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया है अथवा कहाँ तक उन्होंने उसके यथार्थ रूप का ही दिग्दर्शन किया है, इसके विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। पहले मत का प्रतिपादन योग्यतापूर्वक डॉ० राधाकृष्णन ने किया है, जबकि इसी कारण इतिहास लिखने की योग्यता को पं० सहल कचितपान ही ने संदेह की दृष्टि से देखा है। उनके इस विवाद में न पड़कर हम इतना ही कह देना अपने प्रस्तुत उद्देश्य के लिए पर्याप्त समझते हैं कि चाहे नागसेन की अनात्मवाद की व्याख्या बुद्ध के मन्तव्य का यथावत् निदर्शन करती हों या चाहे उन्होंने उसे निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया हो, वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण अवश्य है। न केवल स्थविरवादी बौद्ध साहित्य में, अपितु सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में वचनों को छोड़कर अनात्मवाद का उससे अधिक आकर्षक, उससे अधिक गंभीर विवेचना कहीं नहीं मिल सकती।

अनात्मवाद की उपर्युक्त व्याख्या मान लेने पर पुनर्जन्म के साथ उसकी संगति किस प्रकार लायी जा सकती है, यह भी समस्या राजा मिलिन्द के सिर में चक्कर लगाती है। वे भदन्त नागसेन से पूछते हैं—

"भन्ते! कौन उत्पन्न होता है? क्या उत्पन्न होने पर व्यक्ति वही रहता है या अन्य हो जाता है।"

''न तो वही और न अन्य ही।''

स्थविर कहते हैं। राजा की समझ में यह उत्तर नहीं आता है। स्थविर उदाहरण देकर समझाते हैं कि जब पुरुष बच्चा होता है और जब वह तरुण होता है, युवा होता है तब क्या वह बालक और युवा एक ही होता है? नहीं ऐसा नहीं होता है। बालक अन्य होता है, युवा अन्य होता है। किन्तु यदि यही मान लिया जाय कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य होता है, फिर न कोई किसी की माता रहेगी, न आचार्य रहेगा। फिर तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि गर्भ के प्रथम अवस्था की माता है, यह दूसरी अवस्था की माता है, यह तीसरी अवस्था की माता है, जो सब आपस में भिन्न-भिन्न हैं। विद्यार्थी जब पाठशाला में पढ़ने जाता है, अन्य ही है? और जब वह विद्याध्ययन समाप्त करता है अन्य ही है? ''अञ्ञो सित्ये सिक्खति अञ्ञो सिक्खतो भवति''—अन्य ही शिष्य सीखता है। अन्य ही शिक्षित होता है? अन्य ही पाप करता है और अन्य के ही अपराध स्वरूप हाथ-पैर काटे जाते हैं? राजा घबरा जाता है क्योंकि वह पहले स्वयं ही स्वीकार चुका है कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य। अत: कुछ समझ नहीं आता कि उत्तर क्या देना चाहिए। विवश होकर वह नागसेन से कहता है कि भन्ते, आप ही मुझे बताइए कि क्या बात है? ''त्वं पन भन्ते एवं कते किं वदेस्यसीति?'' भन्ते ऐसा पूछने पर स्वयं आप क्या कहेंगे? स्थविर नागसेन उसे समझाते हैं कि ''धर्मों के लगातार प्रवाह से उनके संघात रूप में आ जाने से एक उत्पन्न होता है, दूसरा विरुद्ध होता है और यह सब ऐसे होता है, मानो युगवत् एक साथ हो। इसलिए न तो सर्वथा उसी की तरह, न तो सर्वथा अन्य की तरह, वह जीवन की अंतिम चेतनावस्था पर आता है।'' फिर भी मिलिन्द पूरी तरह संतुष्ट नहीं होता है और पूछता है।

भन्ते! नागसेन पर क्या है, कौन जन्म ग्रहण करता है। ''(भन्ते) को परिसन्दहति?''

हे महाराज! नाम-रूप ग्रहण करता है। ''नामरूप खो महाराज परिसन्दहति।''

क्या यही नाम-रूप जन्म ग्रहण करता है। महाराज! यह नाम-रूप जन्म नहीं ग्रहण करता, किन्तु इस नाम-रूप के द्वारा जो शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं और उन कार्यों के द्वारा जो अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है, वही जन्म ग्रहण करता है। आगे समझाते हुए स्थविर कहते हैं कि ''हे महाराज! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है, वह तो एक अन्य नामरूप होता है और जो पूर्वजन्म ग्रहण करता है, वह एक अन्य होता है। किन्तु द्वितीय (नाम-रूप) प्रथम (नाम-रूप) में से ही निकलता है। अत: हे राजन्! धर्मसन्तति ही संसरण करती है, अन्य रूप ग्रहण करती है।''

''एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति।''

इस प्रकार भदन्त नागसेन ने अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्मवाद की संतति मिलाने का प्रयास किया जो बौद्ध दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो कि मरते हुए व्यक्ति के नैतिक एवं बौद्धिक जीवन का सातत्व होता है। यह वह शक्ति है जो मरने के समय नया जन्म ग्रहण करने की इच्छा है। केवल यह कर्म अथवा कर्मों से उत्पन्न होने वाली शक्ति की

आवश्यकता नहीं अपितु उपादान का होना भी आवश्यक है, जिसका आशय जीवन में लिप्त रहता है। चूँकि जीवन एक प्रकार की सम्मिलित सत्ता है, इसलिए पृथक्-पृथक् अवयव यदि एक साथ सम्मिलित न हों तो जीव नहीं बन सकेगा। एक कार्यकारी का रहना भी आवश्यक है, जो भिन्न अवयवों को फिर से एक साथ एकत्र कर सके। इसी आकर्षण शक्ति के दबाव से, जिसे उपादान कहा जाता है, एक नया सम्मिश्रण तैयार होता है। बिना इसके कर्म भी कुछ नहीं कर सकता। कर्म एक सूचना देने वाला तत्त्व है, जो अपने लिए उचित सामग्री की प्रतीक्षा करता रहता है।

निरन्तरता का कारण कार्य संबंधी समाधान का पुनर्जन्म का भी समाधान कर देता है। जिस व्यक्ति ने नया जन्म धारण किया है, वह मृत मनुष्य के कर्म का उत्तराधिकारी है, किन्तु फिर भी वह एक नया प्राणी है। स्थायी साम्यता नहीं रहने पर भी अश्रावात्मक विच्छेद भी तो नहीं है। नया प्राणी वह है जो उसे उसके कर्मों ने बनाया है, कर्म के अनुजीवन के इस सिद्धान्त की चर्चा उपनिषद् में भी बृहदारण्यक उपनिषद् में आर्त भाग और याज्ञवल्क्य के मध्य हुए संवाद में आती है।

बौद्ध धर्म की मुख्य प्रवृत्ति तो कर्म को अनुजीवी घटक बताने की है, किन्तु ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिससे प्रकट होता है कि विज्ञान का भी यही कार्य बताया गया है।

अर्थात् विज्ञान के कारण पुनर्जन्म होता है। हम आज जो कुछ भी है अपने विचारों के परिणाम स्वरूप है। विज्ञान को वास्तविक अर्थों में हमारी आत्मा का सारतत्त्व बताया गया है।

भारतीय दार्शनिकों ने कर्म जगत् परिव्यक्ति का आधारभूत सिद्धांत स्वीकार किया है। कर्म के इसी सिद्धान्त पर जगत् का वैयक्तिक अस्तित्त्व निर्भर करता है। संसार का केन्द्रीय बल यही कर्म है।

बौद्ध परम्परा में कर्म का सामान्य अर्थ किसी व्यक्ति विशेष द्वारा सम्पादित शुभ एवं अशुभ कर्मों से लिया जा सकता है। इन कर्मों का साक्षात् प्रभाव वर्तमान एवं भविष्य जन्मों में दृष्टिगोचर होता है।

प्रारम्भ में मनुष्यों की भौतिक समृद्धि का अर्थ यज्ञ तथा अन्य अवसरों पर प्रदान की गयी बलि से लिया जाता था। पुनः देवताओं के आशीर्वाद से बुरे कर्मों के प्रभाव नष्ट किए जा सकते थे।

दूसरी तरफ बौद्ध विचारधारा यह मानती है कि बुरे कर्मों का प्रभाव यज्ञों एवं ईश्वर के आशीर्वाद से नष्ट नहीं किए जा सकते। प्रत्येक मनुष्य अपने द्वारा किये गये कर्मों का ही फल पाता है। बुरे कर्मों के विपाक बुरा एवं अच्छे कर्मों का विपाक अच्छा। यही सिद्धान्त मान्य है।

प्रत्येक मनुष्य यथाशक्ति अपना कर्म करने को स्वतंत्र है। यह सूक्ति प्रचलित है कि—"यादिसं वपति बीजं तादिसं हरते फलं।" जैसा जो कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। कर्म अपना प्रभाव स्वयं प्रकट करते हैं। ये प्रभाव विनष्ट नहीं होते हैं। इनका

संतुलन बना रहता है।

भारतीय चिन्तन धारा में कर्म का सिद्धान्त वैज्ञानिक एवं दार्शनिक आधार पर विकसित होता रहता है। यद्यपि सभी धार्मिक व्यवस्था एवं मान्यता में कर्म की महत्ता स्वीकार की गयी है, लेकिन सबसे अधिक क्षेत्र बौद्ध धर्म को जाता है जिसने कर्म एवं उसके विपाक पर बहुत ही सूक्ष्म एवं स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है।

बौद्ध धर्म में आत्मा के देहान्तरगमन का कोई स्थान नहीं है और न ही एक जीवन से दूसरे जीवन में जाने का कोई विधान है। जब मनुष्य मर जाता है तो उसका भौतिक शरीर, जो उसके भौतिक जीवन का आधार है, भिन्न-भिन्न होकर विलय को प्राप्त हो जाता है एवं उसका भौतिक जीवन समाप्त हो जाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार पुनर्जन्म में आने वाला वह व्यक्ति नहीं है, जो मर गया था दूसरा ही है, क्योंकि आत्मा तो है ही नहीं जो दूसरे शरीर में प्रवेश करे यह केवल धर्म संतति चरित्र ही है, जो बराबर रहता है। बौद्ध धर्म-कर्म की निरंतरता को मानता है। पूर्वानुरूप जीवन प्राकृतिक कारण कार्य भाव की शृंखला से जुड़ा रहता है। शेष क्या हुआ कर्म स्वरूप एक नये व्यक्तित्व का निर्माण करता है, जो अपने आप ऐसे जीवन की अवस्था की ओर आकर्षित हो जाता है कि जिससे वह योग्य है। यह भी कहा जाता है कि कर्म की सामर्थ्य के कारण मरते हुए मनुष्य की चेतना एक ऐसी शृंखला को उत्पन्न करती है अथवा प्रारम्भ करती है जिसके साथ एक सूक्ष्म शरीर भी संपृक्त रहता है, जिसका अंतिम भाग किसी न किसी गर्भाशय में जाकर अपना स्थान बना लेता है। इस विषय का कि उसे किसके गर्भ में जाना है अवयव साधारणतः वह अन्त समय का विचार करता है।

निष्कर्षतः बौद्ध धर्म भी कर्म सिद्धान्त की धारणा को स्वीकारता है। बौद्ध धर्म इस जगत् में दुःख दर्द की सत्ता स्वीकारता है। दुःख के कारणों की व्याख्या भी इसके आर्य सत्यों में विश्लेषित है। बुद्ध इस बात को भी स्वीकारते हैं कि दुःख का निरोध संभव है। दुःख निरोध के लिए अष्टांगिक मार्ग की भी चर्चा विस्तृत रूप से की गयी है। इस अष्टांगिक मार्ग में ही बौद्ध का नैतिक विचार निहित है। बौद्ध धर्म मोक्ष की प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य मानता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति नैतिक आचरण से संभव है। बुद्ध यह मानते हैं कि मनुष्य अपने नैतिक जीवन के निर्माण में स्वतंत्र है। व्यक्ति अपने कर्मों के आधार पर ही परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे किसी अध्यात्म सत्ता की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि हमने देखा, बौद्ध धर्म में ईश्वर या शाश्वत आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि यह अनात्मवाद को प्रश्रय देता है। बौद्ध धर्म में नीति शास्त्र का स्थान गौण माना जा सकता है। प्रधान स्थान मोक्ष की प्राप्ति है जो जीवन का परम लक्ष्य है। बौद्ध धर्म शाश्वत आत्मा को अस्वीकारते हुए भी पुनर्जन्म धारणा की व्याख्या क्षणिकवाद के आधार पर कर देता है। यह भी स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार नीतिशास्त्र धार्मिक है।



6

भगवान् बुद्ध का अनात्मवाद

भगवान् बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति के बाद अपना पहला प्रवचन वाराणसी के समीप इसिपतन (सारनाथ) के मिगदाय (मृग-उद्यान) में पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिया था। इस प्रवचन का सम्बन्ध चार आर्य सत्यों और अष्टांगिक मार्ग से था। चार आर्य सत्यों के निरूपण के सम्बन्ध में हम इस सुत्त का उल्लेख कर चुके हैं। भगवान् ने यहीं अपना दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रवचन अनात्मवाद के सम्बन्ध में पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिया। यह उपदेश ''अनत्त लक्खण-सुत्त'' के रूप में विनय-पिटक के महावग्ग में सम्मिलित है। बौद्ध धर्म की दार्शनिक स्थिति के आधारभूत रूप को यह सुत्त प्रकट करता है। इसके अत्यधिक महत्त्व को देखते हुए इसे पूर्ण रूप से यहाँ उद्धृत करना आवश्यक होगा—

एक समय भगवान् वाराणसी के समीप इसिपतन के मिगदाय में विहार करते थे। उस समय भगवान् ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को सम्बोधित किया—

''भिक्षुओ! रूप आत्मा नहीं है। भिक्षुओ! यदि रूप आत्मा होता तो इसमें रोग न होता, और हम रूप के सम्बन्ध में कह सकते, ''मेरा रूप ऐसा हो, मेरा रूप ऐसा न हो!'' चूँकि भिक्षुओ! रूप आत्मा नहीं है, इसलिए रूप में रोग होता है और हम रूप के सम्बन्ध में नहीं कह सकते ''मेरा रूप ऐसा हो, मेरा रूप ऐसा न हो।''[1]

''भिक्षुओ! वेदना आत्मा नहीं है। भिक्षुओ! यदि वेदना आत्मा होती तो इसमें रोग न होता और इस वेदना के सम्बन्ध में कह सकते, ''मेरी वेदना ऐसी हो'', ''मेरी वेदना ऐसी न हो''। चूँकि भिक्षुओ! वेदना आत्मा नहीं है, इसलिए वेदना में रोग होता है और हम वेदना के सम्बन्ध में नहीं कह सकते, ''मेरी वेदना ऐसी हो'', ''मेरी वेदना ऐसी न हो।''[2]

---

1. **रूपं भिक्खवे अनत्ता। रूपं च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं रूपं आबाधाय सम्वत्तेय्य, लब्भेथ च रूपे एवं मे रूपं होतु, एवं मे रूपं मा अहोसीति। यस्मा च खौ भिक्खवे रूपं अनत्ता, तस्मा रूपं आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति रूपे एवं मे रूपं होतु, एवं मे रूपं मा अहोसीति।**
2. **वेदना भिक्खवे अनत्ता। वेदना च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं वेदना आबाधाय संवतेय्य, लब्भेय च वेदनाय एवं मे वेदना होतु, एवं मे वेदना मा अहोसीति। यस्मा च खो भिक्खवे वेदना अनत्ता, तस्मा वेदना आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति वेदनाय एवं मे वेदना होतु, एवं मे वेदना मा अहोसीति।**

"भिक्षुओ! संज्ञा आत्मा नहीं है। भिक्षुओ! यदि संज्ञा आत्मा होती तो इसमें रोग न होता और हम संज्ञा के सम्बन्ध में कह सकते, "मेरी संज्ञा ऐसी हो, मेरी संज्ञा ऐसी न हो। चूँकि भिक्षुओ! संज्ञा आत्मा नहीं है, इसलिए संज्ञा में रोग होता है और हम संज्ञा के सम्बन्ध में नहीं कह सकते, मेरी संज्ञा ऐसी हो, मेरी संज्ञा ऐसी न हो।"[1]

"भिक्षुओ! संस्कार आत्मा नहीं हैं। भिक्षुओ! यदि संस्कार आत्मा होते तो उनमें रोग न होता और हम संस्कारों के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरे संस्कार ऐसे हों', 'मेरे संस्कार ऐसे न हों'। चूँकि भिक्षुओ! संस्कार आत्मा नहीं है, इसलिए संस्कारों में रोग होता है और हम संस्कारों के सम्बन्ध में नहीं कह सकते, 'मेरे संस्कार ऐसे हों, मेरे संस्कार ऐसे न हों'।"[2]

"भिक्षुओ! विज्ञान आत्मा नहीं है। भिक्षुओ! भिक्षुओ! यदि विज्ञान आत्मा होता तो उसमें रोग न होता और हम विज्ञान के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरा विज्ञान ऐसा हो, मेरा विज्ञान ऐसा न हो'। चूँकि भिक्षुओ! विज्ञान आत्मा नहीं है, इसलिए विज्ञान में रोग होता है और हम विज्ञान के सम्बन्ध में नहीं कह सकते, 'मेरा विज्ञान ऐसा हो, मेरा विज्ञान ऐसा न हो'।"[3]

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ! रूप नित्य है या अनित्य?" "अनित्य, भन्ते!", "और जो अनित्य है, वह दु:ख है या सुख?", "दु:ख, भन्ते!" "तो भिक्षुओ! जो अनित्य है, दु:ख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि "यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरा आत्मा है?"

"नहीं, भन्ते!" "भिक्षुओ! वेदना नित्य है या अनित्य?" "अनित्य भन्ते!" और जो अनित्य है, वह दु:ख है या सुख?" "दु:ख भन्ते!" "तो भिक्षुओ! जो अनित्य है, दु:ख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि "यह मेरा

---

1. संञा भिक्खवे अनत्ता। संञा च हिदं भिक्खवे अत्ता अभिविस्सा न यिदं संञा आबाधाय संवत्तेय्य, लब्भेथ च संञाय एवं मे संञा होतु, एवं में संञा मा अहोसीति। यस्मा च खो भिक्खवे संञा अनत्ता, तस्मा संञा आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति संञाय एवं मे संञा होतु, एवं मे संञा मा अहोसीति।
2. संखारा भिक्खवे अनत्ता। संखारा च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्संसु न यिमे संखारा आबाधाय संबत्तेय्युं, लब्भेथ च संखारेसु एवं मे संखारा होन्तु, एवं में संखारा मा अहेसुं ति। यस्मा च खौ भिक्खवे संखारा अनत्ता, तस्मा संखारा आबाधाय संवत्तन्ति, न च लब्भति, संखारेसु एवं मे संखारा होन्तु, एवं मे संखारा मा अहेसुं ति।
3. विञ्ञाणं भिक्खवे अनत्ता। विञ्ञाणं च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं विञ्ञाणं आबाधाय संवत्तेय्य, लब्भेत च विञ्ञाणे एवं मे विञ्ञाणं होतु, एवं मे विञ्ञाणं मा अहोसीति। यस्मा च खौ भिक्खवे विञ्ञाणं अनत्ता, तस्मा विञ्ञाणं आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति विञ्ञाणे एवं मे विञ्ञाणं होतु, एवं मे विञ्ञाण मा अहोसीति।

है'', ''यह मैं हूँ, ''यह मेरी आत्मा है?'' ''नहीं, भन्ते।''[1], ''भिक्षुओ! संज्ञा नित्य है या अनित्य?'', ''अनित्य, भन्ते!'' ''और जो अनित्य है, वह दु:खे है या सुख?'', ''दु:ख भन्ते!'', ''तो भिक्षुओ! जो अनित्य है, दु:ख है, विपरिणाम धर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि ''यह मेरा है'', ''यह मैं हूँ'', ''यह मेरा आत्मा है?''

''नहीं , भन्ते!''[2] ''भिक्षुओ! संस्कार नित्य है या अनित्य है?'' ''अनित्य, भन्ते!'' ''और जो अनित्य है, वह दु:ख है या सुख?'' ''दु:ख भन्ते।'' ''तो भिक्षुओ! जो अनित्य है, दु:ख है, विपरिणाम धर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि ''यह मेरा है'', ''यह मैं हूँ'', ''यह मेरा आत्मा है''?

''नहीं, भन्ते!''[3] ''भिक्षुओ! विज्ञान नित्य है या अनित्य?''

''अनित्य, भन्ते!'', ''और जो अनित्य है, वह दु:ख है या सुख?'' ''दु:ख भन्ते!'' तो भिक्षुओ! जो अनित्य है, दु:ख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि ''यह मेरा है'', ''यह मैं हूँ'', ''यह मेरी आत्मा है?''

''नहीं, भन्ते!''[4] ''इसलिये भिक्षुओ! जो कुछ भी यहाँ रूप है, चाहे वह अतीत का हो, या भविष्यत् का, या वर्तमान का, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप का या दूर का, वह सब रूप मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।''[5]

''इसलिए भिक्षुओ! जो कुछ भी यहाँ वेदना है, चाहे वह अतीत की हो या भविष्यत् की, या वर्तमान की, आन्तरिक या बाह्य,स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप की या दूर की, वह सब वेदना मेरी नहीं है, वे मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं

---

1. वेदना भिक्खवे निच्चं वा अनिच्चं वा ति। अनिच्चं भन्ते! यं पनानिच्चं दुक्खं वा तं सुक्खं वा ति? दुक्खं भन्ते। यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणाम-धम्मं कल्लं नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ताति। नो हेतं भन्ते।
2. संञा भिक्खवे निच्चं 'वा अनिच्चं वा ति? अनिच्चं भन्ते। यं पनानिच्चं दुक्खं वा तं सुक्खं वा ति? दुक्खं भन्ते। यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणाम-धम्मं कल्लं नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ताति। नो हेतं भन्ते।
3. संखारा भिक्खवे निच्चं वा अनिच्चं वा ति? अनिच्चं भन्ते। यं पनानिच्चं दुक्खं वा तं सुक्खं वा ति। दुक्खं भन्ते। यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं कल्लं नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोहमस्मि, ऐसो मे अत्ताति। तो हेतं भन्ते।
4. विञ्ञाण भिक्खवे निच्चं वा अनिच्चं वा ति? अनिच्चं भन्ते। ये पनानिच्चं दु:खं वा तं सुक्खं वा ति। दुक्खं भन्ते। यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं कल्लं नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोहमस्ति, एसो मे अत्ता ति। नो हेतुं भन्ते।
5. तस्मातीह भिक्खवे यं किंचि रूपं अतीतानागत पच्चुप्पन्नं अज्झतं वा बहिद्धा वा औलारिकं वा सुखुमं वा हीनं वा पणीतं वा यं दूरे सन्तिके वा, सब्बं रूपं नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ता ति एवं एतं यथाभूतं सम्पञ्ञाय दट्ठब्बं।

है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।"[1]

"इसलिए भिक्षुओ! जो कुछ भी यहाँ संज्ञा है, चाहे वह अतीत की हो, या भविष्यत् की, या वर्तमान की, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप की या दूर की, वह सब संज्ञा मेरी नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।"[2]

"इसलिए भिक्षुओ! जो कुछ भी संस्कार यहाँ है, चाहे कुछ भी संस्कार यहाँ है, चाहे वे अतीत के हों, या भविष्यत् के, वर्तमान के, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप के या दूर के, वे सब संस्कार मेरे नहीं हैं, वे मैं नहीं हूँ, वे मेरे आत्मा नहीं है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।"[3]

"इसलिए भिक्षुओ! जो कुछ भी विज्ञान यहाँ है, चाहे वह अतीत का हो या भविष्यत् का, या वर्तमान का , आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप या दूर का। वह सब विज्ञान मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।"[4]

"भिक्षुओ! इस प्रकार देखकर श्रुतवान् आर्य-श्रावक रूप में निर्वेद को प्राप्त करता है, वेदना में भी निर्वेद को प्राप्त करता है, संज्ञा में भी निर्वेद को प्राप्त करता है, संस्कारों में निर्वेद को प्राप्त करता है और विज्ञान में भी निर्वेद को प्राप्त करता है। निर्वेद प्राप्त कर वह विरक्त होता है। विराग से विमुक्ति प्राप्त करता है। विमुक्त होने पर उसे यह ज्ञान होता है "मैं विमुक्त हूँ"। जन्म का क्षय हो गया, ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ, करना था सो कर लिया, अब आगे कुछ करने को शेष नहीं है, ऐसा वह प्रज्ञा के द्वारा जानता है।"[5]

---

1. या काचि वेदना अतीतानागत पच्चुप्पन्ना अज्झतं वा ब्रहिद्धा वा ओलारिका वा सुखुमा वा हीना वा पणीता वा या दूरे सन्तिके वा सब्बा वेदना नेतं मम, नेसोहमस्मि न मे सो अत्ता ति एवं एसा यथाभूतं सम्पञ्ञाय दट्ठब्बा।
2. या काचि संना अतीतानागत पच्चुप्पन्ना अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओलारिका वा सुखुमा वा हीना वा पणीता वा या दूरे सन्तिके वा,सब्बा संञ्ञा नेतं मम,नेसोहमस्ति, न मे सौ अत्ता ति एवं एसा यथाभूतं सम्पञ्ञाय दट्ठब्बा। .
3. ये केचि संखारा अतीतानागत पच्चुपन्ना अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओलारिका वा सुखुमा वा हीना वा पणीता वा ये दूरे सन्तिके वा सब्बे संखारा नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो तो अत्ता ति एवमेतं यथाभूतं सम्पञ्ञाय दट्ठब्बा।
4. ये किंचि विनार्ण अतीतानागत पंचुप्पन्नं अज्झत्तं वा बहिद्धा ओलारिकं वा सुखुमं वा हीनं पणीतं वा यं दूरे सन्तिके वा सब्बंविञ्ञार्ण नेतं मम,नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ताति एवं एत यथाभूतं सम्पञ्ञाय दट्ठब्बं।
5. एवं पस्सं भिक्खवे सुतवा अरिय सावको रूपस्मिं पि निब्बिन्दति, वेदनाय पि निब्बिन्दति, संनाय पि निब्बिन्दति, संखारेसु पि निब्बिन्दति निब्बिन्दं विरज्जति, विरागा विमुच्चति, विमुत्तस्मि विमुत्तं हीति ञाणं होति खीणा जाति वुसितं ब्रह्मचरियं कतं करणीयं, नापरं इत्थत्तायाति पजानाती" ति।

यह है सम्पूर्ण अनात्मवाद का उपदेश जिसे भगवान् ने दिया। कितना विशद और सरल है इसका रूप, जिसे किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं। तीन बातें भगवान् ने क्रमश: अत्यन्त सरल शब्दों में यहाँ कही हैं। पहली बात यह है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा समझना उचित नहीं है क्योंकि ये बाधाओं से ग्रस्त हैं, रोग के अधीन हैं। दूसरी बात यह कही है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य है, अत: दु:ख हैं, अत: आत्मा नहीं हो सकते। तीसरी बात यह कही है कि जब ये आत्मा नहीं हैं तो इनसे निर्वेद प्राप्त करना चाहिए, इनसे विरक्त होना चाहिए और इस प्रकार विराग के द्वारा विमुक्ति का साक्षात्कार कर कृतकृत्यता सम्पादित करनी चाहिए। बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद अपने सम्पूर्ण रूप में इतना ही है, न इससे कुछ कम न अधिक।

थोड़े-बहुत सम्बोधनों के हेर-फेर से भगवान् ने इसी उपदेश को अपनी चारिकाओं में अनेक बार दिया। अग्निवेश-गोत्री सच्चक नामक नंगे साधु ने जब एक बार भगवान् से पूछा कि आप अपने शिष्यों को क्या शिक्षा देते हैं, तो भगवान् ने उससे यही कहा कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य, दु:ख और अनात्म हैं, यही शिक्षा मैं अपने शिष्यों को देता हूँ।[1] दीघ-निकाय के महानिदान-सुत्त में भगवान् ने अनात्मवाद का उपदेश अपने सेवक -शिष्य आनन्द को दिया। भगवान् ने अनात्मवाद का उपदेश राहुल को भी दिया।[2] अपने एक शिष्य पूर्ण को भी उन्होंने इसका उपदेश दिया।[3] पारिलेय्यक वन में सब भिक्षुओं के सामने भगवान् ने यही उपेदश दिया।[4] इन्द्रिय-संयम की शिक्षा देते हुए भगवान् ने यही उपेदश महातण्हा संख्य-सुत्तन्त में दिया[5] और इसी प्रकार इन्द्रिय-भावना सुत्तन्त में भी।[6] महा अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० 1.4.9) में भी इसी उद्देश्य से यह उपदेश दिया गया। अनात्मवाद का पूरा उपदेश महापुण्णम-सुत्तन्त में भी निहित है।[7] इसी प्रकार अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० 1.3.2) में भगवान् ने भिक्षुओं से कहा, "भिक्षुओ! जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो। उसका छोड़ना चिरकाल तक तुम्हारे हित और सुख के लिए होगा।" भिक्षुओ! क्या तुम्हारा नहीं है? रूप...... वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान......भिक्षुओ! यह सब तुम्हारा नहीं है। इसे छोड़ो। यह तुम्हारे लिए चिरकाल तक हित और सुख के लिए होगा।" यह अनात्मवाद का ही उपदेश था। इसी प्रकार संयुत्त-निकाय के" न तुम्हाकं सुत्त" में भगवान् ने यही कहा, "भिक्षुओ! चक्षु तुम्हारा नहीं है, रूप तुम्हारा नहीं है, चक्षु-विज्ञान तुम्हारा नहीं है।...... निर्वेद प्राप्त

1. देखिए चूल सच्चक-सुत्तन्त (मज्झिम० 1.4.5)
2. देखिए चूल राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० 3.5.5)
3. देखिए पुण्णोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० 3.5.3)
4. देखिये संयुत्त-निकाय 21.8.9
5. मज्झिम० 1.4.8
6. मज्झिम० 3.5.10
7. मज्झिम० 3.1.1

करो।" पृथ्वी, जल, तेज, वायु, श्रुत, स्मृत, विज्ञान सब को "न मैं", "न मेरा" समझना चाहिए,यह मूल परियाय-सुत्त का उपदेश है।[1] चूल-वेदल्ल सुत्तन्त (मज्झिम० 1.5.4) में कहा गया है कि जो आर्य दर्शन से वंचित है, वही रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा के तौर पर देखता है। सारांश यह कि पालि निकायों के अनेक सुत्तों में प्रायः समान शब्दों में अनात्मवाद का वर्णन मिलता है और वह भगवान् बुद्ध का प्रमुख उपदेश माना गया है। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने अनात्मवाद को भगवान् का सनातन (नित्य कल्प) शासन कहा है।[2] स्वयं सारिपुत्र ने अनात्मवाद का उपदेश मरणासन्न अनाथ पिंडिक को दिया उसकी सान्त्वनार्थ[3] और आत्महत्या करने पर उतारू छन्न को भी उन्होंने इसका उपदेश देते हुए उस दुष्कृत्य से उसे बचाने का प्रयत्न किया।[4] नन्दक नामक भिक्षु ने अनात्मवाद का उपदेश भिक्षुणियों को दिया।[5] अब हमें यह देखना चाहिए कि साधना में रत भिक्षु और भिक्षुणियाँ और उनके शास्ता क्या सिद्धान्तवादियों की तरह इस सिद्धान्त का प्रचार करते रहते थे या उनका कुछ अन्य प्रयोजन था?

भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद के स्वरूप को पूरी तरह समझने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि भगवान् ने जिस प्रकार अनात्मवाद का उपदेश दिया और उसकी क्या सीमा बाँधी? भगवान् तथागत ने अनात्मवाद का उपदेश किसी स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में नहीं दिया, यद्यपि बाद में इसको वह स्वरूप प्राप्त हो गया। पालि निकायों में अनात्मवाद की किरणें बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद में से फूटती निकलती दिखाई पड़ती है और उसी की दार्शनिक प्रतिष्ठा-भूमि के रूप में उसका वहाँ उपयोग है। जब कभी भगवान् स्मृति प्रस्थानों का वर्णन करते हैं, उन्हें इन्द्रिय-संयम में लगाते हैं, उसी समय वे अनात्मवाद के निरूपण में भी संलग्न दिखाई पड़ते हैं। भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट समग्र बोधिपक्षीय धर्मों की ओर यदि हम ध्यान दें तो उनका अभ्यास साधक के लिए कितना सरल और युक्ति-युक्त होता है जब हम यह याद रखें कि यह समग्र 'रूप'-मय और चित्त-चैतसिक-मय जगत्, यह समग्र पंच स्कन्ध-व्यवहार, जिसके लिए हम दिन-रात हैरान-परेशान रहते हैं, वह हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है, वह 'आत्मा' नहीं है, 'अनात्मा' है। भगवान् ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है कि जो अनित्य है, वह दुःख है और जो दुःख है वह 'अपना' (अत्ता) नहीं हो सकता। फिर उसमें चित्त को फँसा कर दुःख को क्यों बढ़ाया जाय? वह तो विपरिणामधर्मा है, अवश्य बदलेगा। उसमें चित्त को लगाकर हम दुःख के अलावा परिणाम प्राप्त नहीं कर

---

1. मज्झिम० 1.1.1
2. छन्नोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० 3.5.2)
3. देखिये अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० 3.5.1)
4. देखिये छन्नोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० 3.5.2)
5. देखिये नन्दकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० 3.5.4)

सकते। इस प्रकार सभी बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों से निर्वेद प्राप्त करने के लिए, जो ज्ञान-प्राप्ति की एक सब से बड़ी शर्त है, भगवान् ने अनुकम्पा पूर्वक 'अनात्म' अथवा 'अनत्ता' का उपदेश दिया है और यही उसकी सीमा है। इससे आगे बढ़ने में, जैसा कि हम अभी देखेंगे, भय है और पालि त्रिपिटक के आधार पर हम ऐसा कर भी नहीं सकते।

फिर भी हमें यह देखना चाहिए कि अनात्मवाद के उपदेश में तथागत का प्रयोजन क्या था? तथागत ने जिस किसी वस्तु को व्याकुल किया है (मनुष्य जीवन के लिए जो कुछ भी आवश्यक और उपयोगी है उस सब को तथागत ने व्याकृत किया है), जिस किसी उपदेश को दिया है, उस सब के अन्त में प्राय: अवश्य कह दिया है कि चूँकि यह वस्तु या उपदेश एकान्त निर्वेद के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए, उपशम के लिए, अभिज्ञा के लिए, सम्बोधि के लिए और निर्वाण के लिए है, इसलिए उसका उपदेश उन्होंने दिया है, उसका विभज्य-व्याकरण उन्होंने किया है। अनात्मवाद के उपदेश में ऐसा उनका क्या उद्देश्य था? भगवान् साधकों को सिखाते हैं कि इन्द्रियों में संयम रखो। चक्षु से रूप को देखकर निमित्तग्राही और अनुव्यंजनग्राही मत बनो। चक्षु-इन्द्रिय में संयम प्राप्त कर विहरो। रूप में राग करोगे, तो चित्त के मल आ चिपटेंगे। चक्षुर्विज्ञान में आसक्ति होने पर दु:ख का आक्रमण हो जायेगा। इसी प्रकार श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध और जिह्वा और रस आदि में भगवान् वितृष्णता सिखलाते हैं। इस वितृष्णता की वृद्धि के लिए ही भगवान् ने यह कहा कि "भिक्षुओ! यह चक्षु तुम्हारा नहीं है, यह चक्षुर्विज्ञान तुम्हारा नहीं है, यह रूप, यह श्रोत्र, ये शब्द, ये वेदनाएँ, ये स्पर्श, तुम्हारे नहीं हैं। इन्हें छोड़ दो।" कितनी विकलता थी तथागत के शब्दों में, "भिक्षुओ! मैं तुम्हें कहता हूँ। मैं तुम्हें समझाता हूँ। ऐसा तुम्हें सीखना चाहिए।"[1] क्या किसी कोरे दार्शनिक सिद्धान्त को सिखलाने के लिए तथागत या अन्य कोई शास्ता इतनी तत्परता और इतनी दय की व्याकुलता दिखला सकता था? जब तक मनुष्य अहंभाव को नहीं छोड़ता, 'मैं' और 'मेरा' से मुक्ति नहीं पाता, वह मार-मुक्त नहीं होता, रागविसंयुक्त नहीं होता, आर्य नहीं बनता। "कैसे भिक्षुओ! भिक्षु आर्य, मार-मुक्त, राग-विसंयुक्त होता है? भिक्षुओ! जिस भिक्षु का अभिमान (अहं का अभिमान) नष्ट हो गया है, भविष्य में न उत्पन्न होने योग्य हो गया है,वही आर्य है, मार-मुक्त है, राग-विसंयुक्त है।"[2] अनात्मवाद का उपदेश इसी के लिए दिया गया है। सम्पूर्ण भव अनित्य है, दु:ख है, अनात्म है,इस चिन्तन करने वाले व्यक्ति को ज्ञान उत्पन्न होता है, (आध्यात्मिक) प्रीति उत्पन्न होती है, प्रश्रब्धि (चित्त-शान्ति) उत्पन्न होती है, सुख-उत्पन्न होता है, अधिमोक्ष (संकल्प) उत्पन्न होता है, उच्चतर विकास (प्रग्रह) उत्पन्न होता है, ऐसा

1. महा अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० 1.4.9)
2. अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० 1.3.2), मिलाइए, "अनात्म संज्ञी अभिमान के नाश को प्राप्त होता है, वह इसी जन्म में निर्वाण को प्राप्त करता है।" मेधिय-सुत्त (उदान, 4.1)

भगवान् ने कहा है।[1] अनात्म के चिन्तन से मनुष्य निमित्त और प्रवृत्त का यथाभूत ज्ञान प्राप्त करता है, उसे सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है। अनात्म के कारण उसे सब धर्म ठीक प्रकार दिखाई देने लगते हैं।[2] यह भी कहा गया है कि अनित्य को देखने से मनुष्य का मान नष्ट होता है, दुःख को देखने से उसकी इच्छाओं की शुद्धि होती है और अनात्म को देखने से उसकी दृष्टि-सम्बन्धी आसक्ति दूर होती है।[3] वैराग्य का उद्देश्य भी पूरा होता है, क्योंकि अनात्म का चिन्तन करते-करते साधक को यह जगत् शून्य ग्राम के समान या माया-मरीचिका के समान या गन्धर्व-नगर के समान रिक्त, तुच्छ और शून्य लगने लगता है और वह सम्पूर्ण भव में भय देखकर उसे विरक्त हो जाता है।[4] विराग से विमुक्ति को प्राप्त करता है। "विरागा विमुच्चतीति।" अनात्म का दर्शन करने वाला देहात्म संज्ञा में निर्वेद को प्राप्त करता है, नन्दी (तृष्णा) से उसकी विरक्ति हो जाती है, राग की आसक्ति उसके लिए छूटने लगती है, वह दुःख-समुदाय के निरोध को खोजने लगता है, वह ग्रहण रूप आसक्ति को छोड़ देता है।[5] अनात्म का चिन्तन करने से प्रतिसंख्या-ज्ञान की भी उत्पत्ति होती है।[6] किसी भी प्रकार हम देखें अनित्य-दुःख-अनात्म-निर्वेद-विराग-विमुक्ति-कृतकृत्यता-यही बौद्ध साधना का क्रम है। भगवान् के समग्र उपदेश की धुरी तृष्णाक्षय पर घूमती है। "पूर्ण! नन्दी (तृष्णा) के निरोध से दुःख का निरोध कहता हूँ।"[7] यह तृष्णा जब तक निरुद्ध न हो तब तक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की आशा नहीं है और तृष्णा तो स्थूल-से स्थूल पदार्थ से लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आध्यात्मिक पदार्थ तक होती है। किन्तु सभी बाह्य पदार्थों की तृष्णा छोड़कर भी मनुष्य अन्दरी पदार्थ (अपनी आत्मा) की तृष्णा नहीं छोड़ता—"आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति।" भगवान् ने इस सभी जगह लुभाने वाली (तत्र तत्राभिनन्दिनी) तृष्णा के सभी निवेशनों को उच्छिन्न करने का प्रयत्न किया है,यहाँ तक कि इसके अन्तिम निवेशन स्वरूप आत्मन्

---

1. अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो मनसि करोतो आणं उप्पज्जति......पीति....पस्सद्धि........ सुखं......अधिमोक्खो..........पग्गहो.......उप्पज्जति। पटि सम्भिदा मग्ग 2.100-101, विसुद्धिमग्ग 20.106 में उद्धृत।
2. अनत्ततो मनसि करोन्तो निमित्तं च पवत्तं च यथाभूतं जानाति पस्सति। तेन वुच्चति सम्मादस्सनं। एवं तदन्वयेन सब्बे धम्मा अनत्ततो सुविट्ठा होन्ति। पटि सम्भिदामग्ग 2.62.63
3. अनत्ततो पस्सन्तस्स द्विट्ठिसमुग्घाटनं नाम होति अनिच्चतो पस्सन्तस्स नाम होति। पटि सम्भिदामग्ग, विसुद्धिमग्ग 20.87 में उद्धृत।
4. पटिसम्भिदामग्ग 2.62, विसुद्धिमग्ग 21.34 में उद्धृत।
5. अनत्ततो अनुपस्सन्तो अत्तसंनं निब्बिन्दतो नन्दिं विरज्जन्तो रागं विरोधेन्तो समुदयं पटिनिस्सज्जन्तो आदानं पजहतीति। पटिसम्भिदामग्ग। 1.977
6. अनत्ततो मनसि करोतो.........पटिसंख-नाणं उप्पज्जति। पटिसम्भिदामग्ग 2.63.64, विसुद्धिमग्ग में उद्धृत।
7. पुण्णं सुत्त (संयुत्त० 34.4.6)

को भी। यही अनात्मवाद है और यही उसका प्रयोजन। ''चक्षु से विज्ञेय रूप इष्ट, कान्त, मनाप, प्रियरूप, कामोपसंहित, रंजनीय होते हैं।'' यदि भिक्षु उन्हें अभिनन्दन करता है, स्वागत करता है, अध्यवसाय करता है, तो अभिनन्दन करते, स्वागत करते, अध्यवसाय करते, उसे नन्दी (तृष्णा) उत्पन्न होती है। पूर्व। नन्दी की उत्पत्ति से दुःख की उत्पत्ति करता हूँ। पूर्ण! जिह्वा से विज्ञेय रस इष्ट, कान्त मनाप, प्रियरूप, कमोपसंहित, रंजनीय होते हैं। यदि भिक्षु उन्हें अभिनन्दन करता है, स्वागत करता है, अध्यवसाय करता है, तो अभिनन्दन करते, स्वागत करते, अध्यवसाय करते, उसे नन्दी (तृष्णा) उत्पन्न होती है। पूर्ण! नन्दी की उत्पत्ति से दुःख की उत्पत्ति कहता हूँ......! इसी प्रकार श्रोत्र (शब्द), घ्राण (गन्ध), काय (स्पर्श) मन (धर्म) आदि के विषय में भी। किन्तु इन सब में यदि यह देखा लिया जाय कि न ये सब और न इनमें से कोई एक 'मैं' हूँ या ये 'मेरे हैं' तो भिक्षुओ! ऐसा देख, धर्म को सुनने वाला, आर्य-श्रावक चक्षु से निर्वेद प्राप्त करता है, रूप से निर्वेद प्राप्त करता है, चक्षु-विज्ञान से निर्वेद प्राप्त करता है, चक्षु-संस्पर्श से निर्वेद प्राप्त करता है। चक्षु-संस्पर्श के कारण जो यह वेदना उत्पन्न होती है सुख, दुःख, न सुख-न-दुःख उससे भी निर्वेद को प्राप्त करता है।[1] इसी प्रकार श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, काय, मन आदि से निर्वेद को प्राप्त करता है। ''निर्वेद प्राप्त हो विरक्त होता है। विरक्त होने से विमुक्त होता है। विमुक्त होने पर ''मैं'' विमुक्त हूँ ऐसा ज्ञान होता है। वह जानता है जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, सभी कर्त्तव्य कर चुका, अब यहाँ करने को कुछ शेष नहीं है।''[2] यही कृतकृत्यता है और यही बुद्ध-मत है। यही अनात्मवाद है और यही ब्रह्मचर्य का प्रयोजन भी।

ऊपर अनात्मवाद का जो विवरण है वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंच स्कन्धों को लेकर ही दिया है। वस्तुतः अनात्म की भावना 12 आयतनों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, बुद्ध-सम्मत अनात्मवाद जिह्वा, काया, मन, रूप, शब्द गन्ध, रस, स्पृष्टव्य का कुछ विस्तृत विवरण और धर्म) और अठारह धातुओं (उपर्युक्त 6 इन्द्रियों, उनके 6 विषय और 6 विज्ञानों) यथा चक्षुविज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मन-विज्ञान इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में अलग-अलग और सम्मिलित रूप से की जाती है। स्कन्ध, आयतन और धातुओं की प्रवर्तित परिपाटी का नाम ही संसार है, जिसमें अनात्म की भावना करनी चाहिए। अब विस्तार से छः आध्यात्मिक आयतन हैं, यथा—चक्षु आयतन, श्रोत्र आयतन, घ्राण आयतन,जिह्वा आयतन, काय आयतन और मन-आयतन। छः हैं बाह्य आयतन, यथा—रूप आयतन, शब्द आयतन, गन्ध आयतन, रस आयतन, स्पृष्टव्य आयतन, धर्म-आयतन। इसी प्रकार छः विज्ञान काय हैं, यथा—चक्षु द्वारा रूप में चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है और इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और

1. पुण्णं सुत्त (संयुत्त० 34.4.6)
2. 2.3 संयुत्त० 43.4.6, देखिए **विनयपिटक, महावग्ग भी।**

मन के विज्ञान। इन उपर्युक्त तीनों को मिलाकर 'स्पर्श' की उत्पत्ति होती है। यथा—चक्षु, रूप और चक्षुर्विज्ञान के संगम से चक्षु-स्पर्श की ओर इसी प्रकार श्रोत्र कारण ही उन-उन विषयक वेदना उठ खड़ी होती है जिससे ही उन-उन विषयक तृष्णा की उत्पत्ति होती है जो दु:ख का कारण बनती है। उपर्युक्त 36 धर्मों को तथागत ने 'अनात्मा' कहा है, अर्थात् ये प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, उत्पत्ति और विनाश-वाले हैं, इनमें से किसी एक में अथवा इनके किसी संघात में इस प्रकार की बुद्धि कि "यह मैं हूँ" अथवा "यह मेरा आत्मा है" नहीं की जा सकती। जो मर्त्य है वह अल्प ही तो है और जो अल्प है उसमें सुख कहाँ है? जो सुख नहीं वह अपना आत्मा कैसे हो सकता है? ऐसा समझना तो 'सत्कार्यवाद्' होगा। दु:ख के निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग तो यही है कि सभी आध्यात्मिक और बाह्य आयतनों, विज्ञानकायों, स्पर्शकायों, वेदनाकायों और तृष्णाकायों को "यह मैं हूँ" अथवा "यह मेरा आत्मा है" ऐसा न समझ्ना और यही 'अनात्मवाद' है। 'आत्मा' के रूप में उपर्युक्त 36 धर्मों में से किसी को ग्रहण मत करो, यही भगवान् का उपदेश है। यदि ये "मैं या मेरा" करके ग्रहण किए गए तो चक्षुरादि छ: इन्द्रियों के द्वारा रूपादि छ: विषयों में चक्षुर्विज्ञान आदि छ: विज्ञान भी उत्पन्न होंगे, तीनों के संगम से स्पर्श भी होंगे, सुखा,दु:खा या असुखा-अदु:खा वेदनाएँ भी होंगी, आसक्ति भी होगी, शोक करना, रोना, पीटना सभी होंगे, अविद्या अनुशय भी होगा, दु:ख होगा ही। फिर बचें कैसे? इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के संगम से वेदना तो उत्पन्न होगी ही। यह तो प्राकृतिक व्यापार है जिसका निरोध किया ही नहीं जा सकता (करिष्यसि अवशो पितत्—प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत—गीतोक्त वाक्य स्मरणीय (किन्तु यदि भिक्षु) तस्मादसक्त: सततं—नैव किंचित् करोमीति—उदासीनवदासीनो, फिर स्मरणीय "सुखा वेदना से संयुक्त होने पर अभिनन्दन नहीं करता, न आसक्त हो ठहरता है,उसे राग अनुशय नहीं चिपटता। दु:ख-वेदना से संयुक्त होने पर वह न शोक करता है, न कलपता है, न विलाप करता है, न छाती, पीट-पीटकर रोता है, न मूर्च्छित होता है। उसे प्रतिघ अनुशय नहीं होता। वह अदु:ख-असुखा वेदना से युक्त होने पर उस वेदना के समुदय, विनाश, आस्वाद, दुष्परिणाम और निस्सरण को यथार्थ से जानता है।"[1] इस प्रकार इस अनात्मवाद का व्यावहारिक आचरण और मनन ही महान् आत्म-विजय का कारण होता है, अनुत्तर इन्द्रिय भावना की प्रतिष्ठा होती है। भगवान् ने कहा है कि उपर्युक्त प्रकार से भावना किया हुआ मनुष्य "यदि वह चाहता है कि प्रतिकूल को अप्रतिकूल जानकर विहार करूँ तो अप्रतिकूल जानते ही यहाँ विहार करता है। यदि वह चाहता है कि अप्रतिकूल में प्रतिकूल जानकर विहार करूँ तो प्रतिकूल जानते ही विहार करता है।......यदि वह चाहता है प्रतिकूल अप्रतिकूल दोनों को ही वर्जित कर स्मृति-सम्प्रजन्य युक्त हो विहार करूँ तो वह स्मृति-सम्प्रजन्य युक्त उपेक्षक हो विहरता है। इस प्रकार आनन्द! भावितेन्द्रिय युक्त होता

1. छछच्छक सुत्तन्त (मज्झिम० 3.5.6)

है।"[1] हो भी क्यों नहीं? "यहाँ आनन्द! चक्षु से रूप को देखकर भिक्षु को मनाप होता है, मनाप-अमनाप होता है। यह ऐसा जानता है" यह मुझे मनाप उत्पन्न हुआ, अ-मनाप, मनाप, मनाप-अ-मनाप, किन्तु यह संस्कृत कृत (कृत्रिम) औदारिक, प्रतीत्य-समुत्पन्न है। वही शान्त, वही प्रणीत है जो कि यह रूप आदि की उपेक्षा। तब उसका वह उत्पन्न मनाप, अमनाप, मनाप-अ-मनाप निरुद्ध हो जाता है, उपेक्षा ठहरती है। जैसे आनन्द! आँख वाला मनुष्य पलक चढ़ाकर गिरा दे, पलक गिराकर चढ़ा दे, उसी तरह आनन्द! जिस किसी को इतना शीघ्र, इतनी जल्दी, इतनी आसानी से उत्पन्न मनाप, उत्पन्न अमनाप, उत्पन्न मनाप-अमनाप निरुद्ध हो जाते हैं, उसकी उपेक्षा ठहरती है।[2] ऐसी अवस्था में आस्रव या अकुशल कर्म तो कहाँ ठहरेंगे। "भिक्षुओ! ऐसा जानने, देखने के अनन्तर ही आश्रवों का क्षय होता है, जब कि रूप को आत्मा के तौर पर नहीं देखता, न रूपवान् को आत्मा के तौर पर।"[3] इस प्रकार जो संस्कार है वह अनित्य है, जो तृष्णा, जो वेदना, जो स्पर्श, जो अविद्या है वह सब अनित्य है। "भिक्षुओ! इस प्रकार जानने, देखने पर भी आश्रवों का क्षय होता है।"[4] जब अशुभ कर्म ही नहीं रहे तो हृदय में संशय, विमोह, द्वेष आदि मल भी कैसे रह सकते हैं? यह तथागत के उपदेश का अपमान ही है यदि कोई कहे कि उसने अनात्मवाद की भावना की है और विचिकित्सा उसके पल्ले को अभी तक पकड़े हुए हैं। ऐसा कभी नहीं हो सकता। अनात्मवाद, वास्तव में विनम्रता की आत्यन्तिक कोटि, अनासक्ति की उच्चतम अवस्था और आत्मसंयम की एकमात्र कसौटी है। अहंकार चित्त में रह ही नहीं सकता यदि 'अनात्म' की भावना को अच्छी तरह साधा जाय। स्वयं शास्ता ने भी कहा है "मागन्दिय! धर्मों का अन्वेषण करते हुए मुझे 'मैं यह कहता हूँ' यह धारणा कभी नहीं हुई।"[5] "मैं सब धर्मों में निर्लेप हूँ, सर्वत्यागी हूँ, तृष्णा के क्षय से विमुक्त हूँ।"[6] इस प्रकार नैतिक आदर्शवाद के प्रकाश में

---

1. इन्द्रिय-भावना सुत्त (मज्झिम० 3.5.10) इसी अर्थ को अन्यत्र भी भगवान ने इस प्रकार दिखाया है "भिक्षु! यदि रूप धातु से भिक्षु का राग नष्ट हो गया है तो राग के प्रहाण से आलम्बन (इन्द्रिय विषय) छिन्न होता है, विज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं रहती। यदि वेदना धातु से भिक्षु का राग नष्ट हो गया है, संज्ञा धातु से, संस्कार धातु से, विज्ञान धातु से ......तो वह अप्रतिष्ठित विज्ञान न बढ़कर संस्कार रहित हो विमुक्त हो जाता है। विमुक्त होने से स्थिर होता है। स्थिर होने से सन्तुष्ट होता है। सन्तुष्ट होने से त्रास नहीं खाता। त्रास न खाने पर इसी शरीर में निर्वाण को प्राप्त करता है। "जाति क्षीण हो गई....भिक्षु! इस प्रकार जानने, देखने पर आश्रवों का क्षय होता है" उदान सुत्त (संयुत्त० 21.1.3), बुद्धचर्या, पृष्ठ392-93
2. इन्द्रिय-भावना सुत्त (मज्झिम० 3.5.10) ही। मिलाइये, पुण्णसुत्त (संयुत्त० 34.4.6)
3. संयुत्त० 21.8.9, देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ 105
4. वही
5. मागन्दिय सुत्त (मज्झिम० 2.3.5)
6. उपक आजीवक के प्रति भगवान की उक्ति, महावग्ग में।

हमने अनात्मवाद की किंचित् व्याख्या की। अब उसके तत्त्ववाद के स्वरूप पर विचार करें, यद्यपि नैतिक तत्व को खोकर नहीं, क्योंकि वही तो बुद्ध के समग्र विचार और शासन की आयु है और उसी के लिए शास्ता के शासन का एक मात्र उपयोग है।

अक्सर यह मान्यता है कि बुद्ध के मूल दर्शन में भी 'आत्मा' जैसी एक स्थिर पृथक् सत्ता के लिए अवकाश नहीं है। 'मनुष्य' या 'पुद्गल' कोई एक शुद्ध सत्ता नहीं है, किन्तु वह मानसिक और भौतिक अनेक अवस्थाओं का समुदाय मात्र है जो उत्पत्ति और विनाश के निरन्तर क्रम में घूमा करती हैं। सभी भौतिक अवस्थाओं का संग्रहात्मक नाम 'रूप' और सभी मानसिक अवस्थाओं का संग्रहात्मक नाम 'नाम' है। 'नाम' की तीन स्थितियाँ होती हैं—(1) संज्ञा, (2) वेदना, (3) संस्कार। किसी वस्तु के साक्षात्कार करने को संज्ञा कहते हैं अर्थात् किसी वस्तु को 'वैसा' करके पहचान लेना ही 'संज्ञा' है। विषय के स्पर्श से जो सुख, दु:ख, सौमनस्य, दौर्मनस्य या उपेक्षा की अनुभूति होती है, उसकी संग्रहात्मक संज्ञा 'वेदना' है। वितर्क, विचार, लोभ, द्वेष, करुणा आदि मानसिक प्रवृत्तियों को एक साथ मिलाकर संस्कार कहते हैं, अथवा यों भी कह सकते हैं कि अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्त्यों को 'संस्कार' कहते हैं। विज्ञान अर्थात् चित्तधारा कुशल-अकुशल आदि जितने प्रकार के चित्त हैं उन सबकी संग्रहात्मक संज्ञा है। 'चित्त', 'विज्ञान', 'मन', प्राय: सब इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार ऊपर जो पाँच प्रकार की अवस्थाएँ कही गई हैं वे पंचस्कन्ध कहलाती है, यथा—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। भगवान् बुद्ध का विचार है कि जब हम व्यक्तित्व अथवा 'सत्व' जैसी बात कहते हैं तो या तो इनमें से ही किसी एक अथवा इनके समुच्चय मात्र का निर्देश करते हैं, वास्तव में 'आत्मा' नामक पदार्थ की अलग सत्ता नहीं है। जिस प्रकार अलग-अलग अंगों के आधार पर 'रथ' की संज्ञा होती है, उसी प्रकार पंचस्कन्धों के आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है।[1] यहाँ होना ही होना है, किन्तु 'है' ऐसी कोई स्थिर सत्ता नहीं है। 'आत्मा' नाम का पदार्थ केवल नाम के लिए है अर्थात् वह केवल 'प्रज्ञप्ति सत्' है, 'द्रव्यसत्' नहीं। दु:ख ही यहाँ है किन्तु 'दु:खित' कोई नहीं, क्रिया है किन्तु 'कारक' नहीं, निर्वाण है, किन्तु 'निर्वृत' नहीं, मार्ग है किन्तु गमन करने वाला नहीं है।[2] इस सब का तात्पर्य यही है कि प्रतीत्य समुत्पन्न सभी बाह्य और आध्यात्मिक धर्मों में छान-बीन करके भी उनमें कोई ऐसा स्थिर आत्म तत्त्व नहीं मिलता जिसको 'अपना' या 'आत्मा' करके ग्रहण किया जा सके, क्योंकि वे सभी अनित्य हैं, क्षणिक हैं और दु:ख रूप हैं। जो अनित्य है, क्षणिक है, वह

---

1. यथा हि अंगसम्भारा होति सद्दो रथो इति। एवं खन्धेसु होति सत्तोति सत्तोति सम्मुति। (संयुत्त निकाय)।
2. दुक्खमेव हि न च कोपि दुक्खितो कारको न क्रिया च विज्जति। अस्थिनिब्बुति न निब्बुतो पुमा मग्गं अस्थि गमको न विज्जति। (विसुद्धिमग्ग में उद्धृत। देखिए विधुशेखर भट्टाचार्यः दि सेंट्रल कन्सैप्शन आफ बुद्धिज्म, पृष्ठ 9 भी)।

क्या 'अपना' करके ग्राह्य हैं? अत: इन सभी बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों में आत्मबुद्धि करना, फिर चाहे वह किसी प्रकार की क्यों न हो, मूढ़ता का ही लक्षण है। पृथग्जन अनुचित रूप से विचार करता है "मैं भूतकाल में था कि नहीं था? मैं भूतकाल में क्या था? मैं भूतकाल में क्या होकर फिर क्या क्या हुआ? मैं भविष्यत् काल में होऊँगा कि नहीं होऊँगा? मैं भविष्यत् काल में क्या होऊँगा? मैं भविष्यत् काल में कैसे होऊँगा? मैं भविष्यत् काल में क्या होकर क्या होऊँगा? अथवा वह वर्तमान काल के सम्बन्ध में सन्देहशील होता है कि मैं हूँ या नहीं हूँ? मैं क्या हूँ? मैं कैसे हूँ? यह सत्व कहाँ से आया? यह कहाँ जायगा।"[1] जब सत्ता सम्बन्धी इस प्रकार के प्रश्नों को लेकर अज्ञ जन प्रवृत्त होता है तो या तो वह आत्म-उपादान ही ग्रहण करने वाला होता है, या फिर होता है पूर्ण उच्छेदवादी। दोनों ही मार्ग पतन के हैं। जो पंच-स्कन्धों में आत्म-बुद्धि करता है, उसके मन में ये छ: दृष्टियाँ घर कर लेती हैं। या तो वह इस बात को सच समझता है कि "मेरा आत्मा है" या वह इस बात को सच समझता है कि "मेरा आत्मा नहीं हैं", या इस बात को सच समझता कि "मेरा आत्मा है" या वह इस बात को सच समझता है कि मैं आत्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, या वह इस बात को सच समझता है कि मैं अनात्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, या वह इस बात को सच समझता है कि मैं अनात्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, अथवा उसकी ऐसी दृष्टि होती है कि यह जो आत्मा कहलाता है यह ही अच्छे बुरे-कर्मों का फल भोगता है, या फिर अन्त में वह सोचता है कि "यह आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है, जैसा है वैसा ही रहेगा।"[2] सारांश यह कि वह पथभ्रष्ट संशयात्मा और अनेक-चित्त विभ्रान्त होता है, "बुद्धि उसकी बहुशाखाओं वाली और अनन्त होती है।" (गीताकार के शब्द क्षम्य हों।) स्वभावत: ही सत्ता सम्बन्धी विभिन्न मत वादों में पड़ता है और मुक्ति नहीं पाता। "भिक्षुओ! इसे कहते हैं मतों में जा पड़ना, मतों की गहनता, मतों का कान्तार, मतों का दिखावा, मतों का फन्दा तथा मतों का बन्धन। इन मतों के बन्धन में बँधा हुआ आदमी जिसने सद्धर्म को नहीं सुना, जन्म, बुढ़ापे तथा मृत्यु से मुक्त नहीं होता,शोक से रोने-पीटने से, चिन्तित होने से भी वह मुक्त नहीं होता। मैं कहता हूँ कि वह दु:ख से पार नहीं होता।"[3] भगवान् ने कहा है कि जो कोई भी आत्मा को प्रज्ञापन करने वाला है, वह इन 4 प्रकारों से ही वैसा करता है, यथा (1) मेरी आत्मा रूपधारी और अणु है, (2) मेरा आत्मा रूपवान् और अनन्त हैं, (3) मेरा आत्मा अरूप और अणु हैं, (4) मेरा आत्मा अरूप, अनन्त है।[4] आनन्द!

---

1. मूल परियाय सुत्त (मज्झिम० 1.1.1)
2. वही
3. वही
4. महानिदान सुत्त (दीघ० 2.2), "विज्ञान" और "नाम-रूप" का प्रतीत्य समुत्पाद के प्रसंग में सम्बन्ध और प्रतीत्य समुत्पन्न भावों को विवेचित करते ही यहाँ भगवान

जिस कारण से आत्मा को (पंचस्कन्धों में) देखने वाला देखता है, वे ये हैं, वह वेदना को "वेदना मेरा आत्मा है" ऐसा समझता है अथवा "वेदना मेरा आत्मा नहीं, अप्रतिसंवेदन मेरा आत्मा है" ऐसा समझता है अथवा "न वेदना मेरा आत्मा है, न अप्रतिसंवेदन मेरा आत्मा है, मेरा आत्मा वेदित होता है, अत: वेदना धर्मवाला मेरा आत्मा है" आनन्द! ऐसे आत्मा को देखने वाला देखता है"[1] भगवान् ने इस सब को मूढ़ता ही मूढ़ता कहा है।[2] ऐसे मूढ़ जन से, जो वेदनाओं और 'आत्मा' में एकात्मता स्थापित करता है, भगवान् का प्रश्न है कि वह आखिर किन वेदनाओं को अपना आत्मा समझता है? और फिर वेदनाएँ तो सभी अनित्य, संस्कृत, प्रत्यय से उत्पन्न होने वाली और क्षय होने वाली हैं। उनमें 'आत्मत्व' कैसा? भिक्षुओ! यदि कोई ऐसा कहे कि वेदना मेरा आत्मा है तो उससे यों कहना चाहिए कि आयुष्मन्, वेदना तीन तरह की होती है—(1) सुख वेदना, (2) दु:ख वेदना, (3) अ-सुख-अ-दु:ख वेदना। इन तीन तरह की वेदनाओं में से किस तरह की वेदना को आत्मा समझते हो? "क्योंकि भिक्षुओ! जिस समय कोई सुख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय न तो उसे दु:ख वेदना की अनुभूति होती है, न असुख-अदु:ख वेदना की, उस समय उसे केवल सुख-वेदना की ही अनुभूति होती हो। जिस समय कोई दु:ख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय उसे न तो सुख वेदना की अनुभूति होती है, न असुख-अदु:ख वेदना की, उस समय उसे केवल दु:ख वेदना की अनुभूति होती है। जिस समय कोई असुख-अदु:ख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय न तो उसे सुख वेदना की अनुभूति होती है, न दु:ख वेदना की, उस समय उसे केवल असुख-अदु:ख वेदना की अनुभूति होती है।"[3] भिक्षुओ! ये तीनों वेदनाएँ अनित्य हैं, संस्कृत हैं, प्रत्यय से उत्पन्न होने वाली हैं, क्षय होने वाली हैं, व्यय होने वाली हैं, निरोध को प्राप्त होने वाली हैं। इन तीनों वेदनाओं में से किसी एक की भी अनुभूति करते समय यदि किसी को ऐसा होता है कि "यह आत्मा है" तो फिर उस वेदना का निरोध होते समय उसको ऐसा भी होगा कि "मेरा आत्मा विखर रहा है"। इस प्रकार वह अपने सामने ही अनित्य, सुख-दु:खमय उत्पन्न और विनाश होने वाले आत्मा को मानता है।[4] "भिक्षुओ! यदि कोई कहे कि "मेरी वेदना आत्मा नहीं, आत्मा की अनुभूति नहीं होती" तो उससे यह पूछना चाहिए कि आयुष्मन्? जहाँ किसी

"अनात्मवाद" के प्रख्यापन में लग जाते हैं, वास्तव में दार्शनिक दृष्टि से "प्रतीत्य समुत्पाद" से ही "अनात्मवाद" की सिद्धि है, अथवा यों भी कहिए कि दोनों ही एक "अनात्म" सत्य को प्रख्यापित करने के लिए हैं।

1. वही
2. देखिए सब्बधम्म मूल परियाय सुत्त (मज्झिम० 1.1.1)
3. महा निदान सुत्त (दीघ० 2.2)
4. वही

की अनुभूति ही नहीं, उसके बारे में क्या यह हो सकता है कि मैं 'यह' हूँ।[1] फिर भिक्षुओ! यदि कोई ऐसा कहे कि ''न तो मेरी वेदना आत्मा है, और न ही मेरे आत्मा की अनुभूति होती है, किन्तु मेरा आत्मा अनुभव करता है, मेरे आत्मा का स्वभाव है वेदना'' तो उससे पूछना चाहिए कि आयुष्मन्! यदि सभी वेदनाओं का सम्पूर्ण निरोध हो जाए, कोई एक भी वेदना न रहे, तो क्या किसी एक भी वेदना के न होने पर ऐसा होगा कि ''यह आत्मा'' मैं हूँ?[2] फिर भिक्षुओ! यदि कोई कहे कि ''मन आत्मा है'' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मन की उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं। जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं, उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि ''मेरा आत्मा उत्पन्न होता है और मरता है। इसलिए ''मन आत्मा है'' ऐसा कहना ठीक नहीं। मन अनात्म है।[3] इसी प्रकार मनोविज्ञान धर्म (मन के विषय) और चातुर्महाभूतिक शरीर ये सभी भगवान् ने अनात्म बताए हैं। इन अनित्य, प्रति क्षण परिवर्तनशील, समुदय और निरोधवाले, सुखः-दुःखमय पदार्थों को ''यह मेरा आत्मा है'' ऐसा ग्रहण करना कहाँ की बुद्धिमानी है? भगवान् के वचनामृत को इस सम्बन्ध में कुछ और पान करें.....और भिक्षुओ! यदि कोई कहे कि 'धर्म' आत्मा है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि धर्म की उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं। जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि ''मेरा आत्मा उत्पन्न होता है तथा मरता है इसलिए धर्म आत्मा हैं, यह ठीक नहीं, धर्म अनात्म है।[4] ''फिर भिक्षुओ! यदि कोई कहे कि ''मनोविज्ञान आत्मा है'' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मनोविज्ञान की उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं। जिसके उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि मेरा आत्मा उत्पन्न होता है तथा मरता है। इसलिए ''मनोविज्ञान आत्मा है'', यह ठीक नहीं है। मनोविज्ञान अनात्म है।[5] इस प्रकार आत्म-उपादान की जितनी भी दृष्टियाँ हो सकती हैं उन सब का भगवान् ने 'आत्मत्व' के रूप में प्रत्याख्यान किया है और उनकी विचार-पद्धति का अनुसरण कर हमने यह भली प्रकार देखा कि यह सब उन्होंने क्यों किया। प्रधानतः इन्हीं हेतुओं से कि ये सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न, दुःख-सुखमय, अनित्य और उत्पत्ति और विनाश होने वाले हैं, अतः आत्मबुद्धि उनमें करना मूढ़ता है, इससे दुःखविमुक्ति हासिल नहीं हो सकती। शरीर को भी तो 'आत्मा' कैसे समझ सकते हैं? यह तो ''असुराणाम् उपनिषद्'' ही होगी, शरीर से भी अधिक विज्ञान अनात्म है। भिक्षुओ! यह कहीं अच्छा है कि वह आदमी जिसने

1. महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० 2.9.)
2. वही
3. छछच्छक सुत्त (मज्झिम० 3.5.6)
4. वही
5. वही

सद्धर्म को नहीं सुना चार महाभूतों से बने शरीर को आत्मा समझ ले, किन्तु चित्त को नहीं। ऐसा क्यों? यह जो चार महाभूतों से बना शरीर है, यह एक साल, दो साल, तीन साल, चार साल, पाँच साल, छः साल और सात साल तक भी एक जैसा प्रतीत होता है, किन्तु जिसे चित्त कहते हैं, मन कहते हैं विज्ञान कहते हैं, वह तो रात को और ही उत्पन्न होता है और निरुद्ध होता है और दिन को और ही।[1] इस प्रकार तथा-धर्म के उच्चतम शिखर पर चढ़कर मनुष्यों को विषयों के आस्वाद से निर्वेद प्राप्त कराने एवं उनको दुःख निवृत्ति का एक अन्यतम मार्ग बताने के लिए भगवान ने इस अभूतपूर्व और अनन्य साधारण वाणी का उद्घोष करते हुए भिक्षुओ को आमन्त्रित किया। ''भिक्षुओ! सभी संस्कार अनित्य हैं, सभी संस्कारं दुःख हैं, सभी धर्म अनात्म हैं,क्योंकि रूप अनित्य है वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य है तथा विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है, वह दुःख है। जो दुःख है वह आत्मा हैं[2] ऐसा ऊपर से क्रान्तिकारी, किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, भारतीय विचार की सर्वोत्तम परम्परा के अनुकूल ही भगवान् ने निर्बोध किया। ऐसा कह उन कारुणिक शास्ता ने यह भी कहा। ''इसलिए भिक्षुओ! जितना भी रूप है, जितनी भी वेदना है, जितनी भी संज्ञा है, जितने संस्कार हैं, जितना भी विज्ञान हैं—चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत् का, चाहे अपने अन्दर का चाहे बाहर का, चाहे स्थूल अथवा सूक्ष्म, चाहे बुरा अथवा भला, चाहे दूर अथवा समीप—वह ''न मेरा है न वह मैं हूँ,न वह मेरा आत्मा है।''[3] ''भिक्षुओ! जैसे गंगा नदी में बहुत सी झाग चली जा रही हो। उस झाग को कोई आँख वाला आदमी देखे, उस पर सोचे और विचार करे और सोचने और विचार करने से उसे वह झाग बिल्कुल रिक्त, तुच्छ तथा सारहीन मालूम दे—भिक्षुओ! फने में क्या सार हो सकता है? उसी प्रकार भिक्षुओ! जितना भी रूप है—चाहे भूतकाल का, चाहे वर्तमान काल का, चाहे भविष्यत् काल का, चाहे अपने अन्दर का हो, चाहे बाहर का, चाहे स्थूल हो और चाहे सूक्ष्म, चाहे बुरा हो अथवा भला, चाहे दूर हो अथवा समीप—उसे भिक्षु देखता है, सोचता है, उस पर अच्छी तरह विचार करता है। उसे देखने पर, सोचने पर, अच्छी तरह विचार करने पर उसे वह रूप बिल्कुल रिक्त, तुच्छ तथा सारहीन दिखाई देना। भिक्षुओ! रूप में क्या सार हो सकता है?[4] तथागत ने उन्मुक्त निर्वोष किया है कि सभी 'संस्कार' (कृत वस्तु) यथा—रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान, अनित्य, दुःख और अनात्म है, इस दुर्धर्ष नियम को कोई टाल नहीं सकता। पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी कुछ उद्धरणों का विमोह हटाया नहीं जा सकता। ''भिक्षुओ! चाहे तथागत उत्पन्न हों, चाहे उत्पन्न न हों, यह सदैव यों ही रहता है। सभी संस्कार अनित्य हैं, जैसे रूप अनित्य

1. संयुत्त 21.7, देखिये बुद्ध वचन, पृष्ठ 28-29
2. संयुत्त 21.2, देखिए विनयपिटक, महावग्ग भी।
3. संयुक्त निकाय, देखिए बुद्ध वचन, क्रमशः पृष्ठ 29 एवं 8
4. वही

है, वेदना अनित्य हैं, संज्ञा अनित्य हैं, संस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य हैं।"[1] भिक्षुओ! चाहे तथागत उत्पन्न हों या न हो। यह सदैव यों ही रहता है। सभी संस्कार दुःख हैं, यथा—रूप दुःख हैं, वेदना दुःख हैं, संज्ञा दुःख हैं संस्कार दुःख हैं, विज्ञान दुःख हैं"[2] भिक्षुओ! चाहे तथागत उत्पन्न हों या न हों। यह सदैव यों ही रहता है। सभी संस्कार अनात्म हैं, यथा—रूप अनात्म हैं, वेदना अनात्म है, संज्ञा अनात्म है, संस्कार अनात्म है, विज्ञान अनात्म हैं।"[3] अधिक से क्या "भिक्षुओ! इसके लिए बिलकुल गुंजाइश नहीं, यह बिलकुल असंभव है कि कोई आँख वाला आदमी किसी भी 'धर्म' को आत्मा करके ग्रहण करे।"[4] अत: "भिक्षुओ! यदि मुझे लोग ऐसा पूछे कि "तुम पहले समय में थे कि नहीं थे? तुम भविष्य में होगे कि नहीं? तुम अब हो कि नहीं?" तो उनके ऐसा पूछने पर मैं उनको यों कहूँगा कि "मैं पहले समय में था", नहीं था "ऐसा नहीं है, मैं भविष्यत् में होऊँगा, नहीं होऊँगा, ऐसा नहीं हैं, मैं अब हूँ, नहीं हूँ, ऐसा नहीं।"[5] सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों का कोई एक उत्तर देकर उन 62 मिथ्यादृष्टियों का ही, जिनका वर्णन हम पहले प्राग्बौद्धकालीन दर्शन व्यवस्था' के प्रसंग में कर आए हैं, एक अंग बन जाना तथागत का काम नहीं था। सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर तथागत का वाद यह है "ऐसा तो निश्चय ही कभी कहा ही नहीं जा सकता। जो बात निर्विवाद है वह यह है कि सभी बाह्य और आध्यात्मिक धर्मों में, जिनका विभाजन सुत्त में पंचस्कन्धों के रूप में, यथा रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में एवं अभिधम्म में 'चित्त', 'चेतसिक' और 'रूप' के रूप में किया जाता है, भगवान् पूर्ण अनासक्ति, अस्पर्श अथवा 'अनात्म' की भावना कर उनसे निर्वेद प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त हुए थे, और यही बात एक दर्शनकार के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। "भिक्षुओ! यदि कोई पूछे कि भगवान् गौतम किस दृष्टि के हैं? तो उसे "भिक्षुओ! यदि कोई उत्तर दे? 'भिक्षुओ! तथागत किस दृष्टि के हैं' ऐसी बात-बात ही नहीं रही है। भिक्षुओ! तथागत ने यह सब देख लिया है कि यह रूप है, यह रूप का समुदय है, यह रूप का अस्त होना है, यह वेदना है, यह वेदना का समुदय है, यह वेदना का अस्त होना है, यह संज्ञा है, यह संज्ञा का समुदय है, यह संज्ञा का अस्त होना है। ये संस्कार हैं, यह संस्कारों का समुदय होना है, यह संस्कारों का अस्त होना है, यह विज्ञान है, वह विज्ञान का उदय होना है, यह विज्ञान का अस्त होना है। इसलिए कहता हूँ कि सभी मान्यताओं के, सभी अस्तित्वों के, सभी अंहकारों के, सभी 'मेरे' के, सभी अभिमानों के, नाश हो जाने से, विराग से, त्याग

---

1. अंगुत्तर निकाय, देखिए "बुद्ध वचन", पृष्ठ 26
2. वही
3. वही
4. अगुत्तर 1.15, "बुद्ध वचन", पृष्ठ 26
5. पोट्ठपाद सुत्त (दीघ० 1.9)

से, छूटने से, उपादान न रहने से तथागत विमुक्त हो गये हैं।''[1]

अनात्मवाद के आवश्यक अंग तथा इसकी मान्यताएँ

आत्मा की सिद्धि में स्मृति तथा प्रतिसन्धान विशेष हेतु हैं। न्याय-वैशेषिक के आत्मवाद का यही मुख्य संबल है। उसका कहना है कि एक वस्तु का पहले अनुभव होता है फिर उस वस्तु के विद्यमान न होते हुए भी उसका स्मरण हुआ करता है। दूसरी एक प्रकार की प्रतीति और भी देखी जाती है ''जिस घट को मैंने देखा था उसे ही मैं छूकर जान रहा हूँ, इस प्रकार एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न समयों में नेत्रों द्वारा तथा स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ज्ञान होता है।''[2] यह तभी संभव है जब कि एक कोई स्थिर तत्त्व (आत्मा) भिन्न-भिन्न कालों में विद्यमान रहता हुआ एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से अनुभव करे। इस प्रतीति में विषय (घट) की एकता का ही भान नहीं होता अपितु दोनों ज्ञानों के कर्त्ता की एकता का भी ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्रतिसन्धान ज्ञान कहलाता है। प्रतिसन्धान का अर्थ है—एक विषय में पहिले अनुभव की स्मृति सहित दूसरे अनुभव का होना।[3] नैयायिक का कहना है कि बौद्धों की विज्ञानधारा में यह प्रतिसन्धान नहीं बन सकता क्योंकि प्रत्येक विज्ञान अपने-अपने विषय में नियत है। जिस विज्ञान द्वारा घट का अनुभव किया गया था वह तो क्षणिक होने के कारण नष्ट हो गया, वह स्पर्श के समय विद्यमान नहीं, फिर प्रतिसन्धान कैसे हो सकता है। देवदत्त की देखी हुई वस्तु का यज्ञदत्त को तो प्रतिसन्धान नहीं होता। अत: एक विज्ञान द्वारा अनुभूत विषय का दूसरे विज्ञान को प्रतिसन्धान न हुआ करेगा।''[4]

यदि बौद्ध कहे कि आत्मा रूप ज्ञाता के न होने पर तथा विज्ञानों का भेद होने पर भी प्रतिसन्धान हो सकता है, क्योंकि विज्ञानों की एक सन्तान होती है,[5] तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उनके यहाँ यह सन्तान विज्ञानों की धारा से भिन्न कोई वस्तु नहीं। इन शंकाओं का समाधान करते हुए बौद्धों ने जो युक्तियाँ दी हैं उनका वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक की व्याख्या करते हुए इस प्रकार उल्लेख किया है—वस्तुत: कार्यकारणभूतानामगृहीतभेदानां प्रतिसन्धानहेतुभाव: सभागेषु क्षणेषु तथा दर्शनाद् इति। न्या० वा० ता०, पृ० 213 पं० 10। वास्तव में तो जिन कारणभूत एवं कार्यरूप विज्ञानों में भेद का ग्रहण नहीं होता वे प्रतिसन्धान के हेतु होते हैं,सभाग (समान) क्षणों में इसी प्रकार देखा जाता है।''

---

1. अग्गिवच्छगोत्त सुत्तन्त (मज्झिम० 2.3.2)
2. दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्। न्याय-सूत्र, 3.1.1
3. स्मृत्या सह पूर्वापरप्रत्ययैकविषयत्वेन प्रतिसन्धानम्। न्या० वा०, पृ० 66 पं० 2
4. नियतविषये बुद्धिभेदमात्रे न संभवति देहान्तरवदिति। न्यायभाष्य, पृ० 30
5. असत्यपि आत्मनि ज्ञातरि सत्यपि च बुद्ध्यादीनां भेदे तत्सन्तानाभेदेन प्रतिसन्धानव्यवस्थोपपत्स्यते, इति० न्या० वा० ता०, पृ० 211 पं० 11

बौद्ध के इस कथन का भाव यह है कि इस प्रतिसन्धान से एक स्थिर आत्मा की सिद्धि नहीं होती अपितु विज्ञानों की धारा होते हुए भी उनमें प्रतिसन्धान हो सकता है। यह प्रतिसन्धान तो कारण-कार्य-भाव से होता है। जैसा कि न्यायवार्त्तिककार ने बतलाया है—"पूर्व 2 विज्ञानविशेष से दूसरा विज्ञान उत्पन्न होता है उसमें पूर्वविज्ञान की शक्ति (संस्कार) का अनुगमन होने से पूर्व संस्कार निहित होते हैं इसलिए विज्ञानों के भिन्न-भिन्न होने पर भी कार्यकारणभाव से प्रतिसन्धान हो जाता है।[1] जिस विज्ञानक्षण ने घट आदि का दर्शन किया, वह घटवासना से वासित कहा जायेगा, उससे उत्पन्न होने वाला विज्ञानक्षण इस अतिशय से विशिष्ट ही उत्पन्न होगा। इसलिए पूर्वविज्ञान की अनुभूत वस्तु में इस प्रकार का प्रतिसन्धान हो सकता है कि जिस घट को मैंने देखा था उसको ही मैं छू रहा हूँ।

कारणकार्यभाव से यह प्रतिसन्धान इसी प्रकार हो जाता है, जैसे किसी धान के बीज से अंकुर होता है। तन्निमित्तिक होने से उसमें धान की शक्ति का अनुगमन हो जाता है। इसके पश्चात् वह अंकुर पृथ्वी आदि महाभूतों से अनुगृहीत होकर अगले धान के बीजों को उत्पन्न करता है, यवबीजों को नहीं, क्योंकि वह यव से उत्पन्न नहीं है। इसी प्रकार एक सन्तान में स्थित जो विज्ञान है उनमें कार्य-कारण की व्यवस्था होने से प्रतिसन्धान हो जाता है, किन्तु अन्य सन्तान में स्थित विज्ञानों का वह प्रतिसन्धान नहीं होता, क्योंकि वे उस विज्ञान से उत्पन्न होने वाले नहीं हैं। यह कार्यकारणभाव ही प्रतिसन्धान का नियामक है। अतएव देवदत्त की देखी हुई वस्तु में यज्ञदत्त को प्रतिसन्धान नहीं होता।[2] देवदत्त नामक व्यक्ति की कायसन्तान भिन्न है तथा यज्ञदत्त नामक व्यक्ति की भिन्न। उन दोनों सन्तानों के विज्ञान में कार्यकारणभाव नहीं होता। क्षणध्वंसी तत्त्वों की दो प्रकार की सन्तान हैं? एक सभाग और दूसरी विसभाग।[3] जैसे घट-सन्तति में जब तक सभाग क्षण (घटक्षण) उत्पन्न होते रहते हैं तब तक घट प्रतीति होती है, यह वही घट है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भी होती है। किन्तु जब घट के फूट जाने पर विसभाग (असमान सन्तति आरम्भ हो जाती है तब "यह घट है" या "वही घट है" आदि प्रतीति नहीं हुआ करती। इससे यह समझ में आता है कि क्षणों का कार्यकारणभाव ही प्रत्यभिज्ञा या प्रतिसन्धान का नियामक है।

---

1. पूर्वपूर्वबुद्धिविशेषादुत्तरमुतरं बुद्ध यन्तरं पूर्वबुद्धिशक्त्यनुविधानात् सकलाहितशक्तिकला-पमुत्पद्यते, अतो नानात्वेपि बुद्धीनां कार्यकारणभावात् प्रतिसन्धानं बीजादिवदिति। न्या० वा०, पृ० 65
2. तद्यथा शालिगुटिकाद्यनन्तरमङ्कुरः प्रादुर्भवति, तस्य शालिशक्त्यनुविधानं तत्पूर्वकतया व्यवतिष्ठते, अनन्तरं महाभूतैरनुगृह्यमाणमुत्तरशालिबीजं जनयति न यवबीजं, अतत्पूर्वकत्वात, तथहाप्येकसान्तानिकानां बुद्धीनां कार्यकारण-व्यवस्थानात् प्रतिसन्धानम्, अतत्पूर्वकत्वात् न सन्तानान्तरबुद्धीनयम् वही। पृ० 65
3. सभाग (समानरूप) सन्तति में कारण और कार्य में भेद की प्रतीति नहीं होती अतएव यह वही वस्तु है इस प्रकार का प्रतिसन्धान हो जाता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार प्रतिसन्धान में तीन बातें सम्मिलित हैं—(1) विषय की एकता, (2) दो विज्ञानों द्वारा उसका अनुभव तथा, (3) स्मृति के विना प्रतिसन्धान नहीं हो सकता। स्मृति कैसे होती है? इसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया संक्षेप में यह है कि इन्द्रियों द्वारा कोई अनुभव होता है उस अनुभव का एक संस्कार शेष रह जाता है। उसी संस्कार के आधार पर साहचर्य आदि निमित्तों से स्मृति हो जाती है। न्याय-वैशेषिक इस स्मृति द्वारा भी देहेन्द्रिय बुद्धि आदि से भिन्न एक आत्मा की सिद्धि करता है तथा प्रतिसन्धान ज्ञान में भी इस स्मृति का मुख्य सहयोग है।

बौद्ध-दर्शन का कथन है कि विज्ञानों की क्षणिकता भी स्मृति में बाधक नहीं। क्षणिक विज्ञानों में स्मृति कैसे संभव है? इस बात को बौद्धों के अनुसार निम्नरूप से बतलाया गया है :—"कार्यकारणभावादेव, यत्कायचित्तसन्ताने स्मृतिरनुभवो वोत्पद्यते सः कायचित्तसन्तानः स्मर्ता चानुभविता च भवति" (न्या० वा०, पृ० 66) तथा उपादानोपादेयभावेनावस्थितः चित्तप्रवाहः सन्तानः।" न्या० वा० ता०, पृ० 214 अर्थात् "कार्यकारण भाव से ही स्मृति बन सकती है। जिस कायचित्त के एक सन्तान में[1] अनुभव तथा स्मृति होती है वही अनुभविता तथा स्मर्ता होता है।" "पहला चित्त दूसरे का उपादान (कारण) होता है तथा दूसरा चित्त प्रथम का कार्य (उपादेय) होता है इस प्रकार जो चित्त (विज्ञान) का प्रवाह चलता रहता है वही सन्तान है।" (वही अनुभविता होता है तथा वही स्मर्ता भी)।

भाव यह है कि यद्यपि विज्ञान क्षणिक हैं तथापि प्रथम विज्ञान (कारण) से जो द्वितीय विज्ञान (कार्य) उत्पन्न होता है वह अतिशय (शक्ति-विशेष) विशिष्ट होता है। इसी हेतु पहले विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु में उसकी स्मृति हो जाती है। जैसा कि कहा है—"पूर्वचित्तसहजाच्चे-तनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्टं चित्तमुत्पद्यते सो स्य शक्तिविशिष्ट चित्तोत्पादो वासना।" न्या० वा०, पृ० 66 अर्थात् "पूर्वचित्त (प्रवृत्ति विज्ञान) के साथ उत्पन्न होने वाली चेतनाविशेष (आलय-विज्ञान) से पूर्वशक्तिविशिष्ट दूसरा चित्त उत्पन्न होता है। यह शक्तिविशिष्ट चित्त की उत्पत्ति ही वासना है।" इसका विवेचन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—"(स्मृतिशक्तिः) सा च न शक्तात्तज् ज्ञानाद् अतिरिच्येत। तेन कथंचिद् भेदविवक्षया शक्तिविशिष्टमित्युच्येत। न्या० वा० ता०, पृ० 215" (वार्तिक में) शक्ति का अर्थ स्मृति की शक्ति है और (बौद्ध-दर्शन में शक्ति तथा शक्तिमान् के भिन्न न होने के कारण) वह शक्ति समर्थज्ञान के पृथक् नहीं है, इसलिए किसी प्रकार भेद की विवक्षा से (कल्पित भेद द्वारा) शक्ति को ही शक्तिविशिष्ट कहा गया है।

यहाँ न्याय-वैशेषिक की ओर से यह शंका होती है कि क्षणिक विज्ञानों में वासना का संक्रमण नहीं हो सकता, जैसा कि कहा गया है—"लोक में स्थिर और सम्बद्ध वस्त्र

---

1. कायग्रहणं चेकसन्तानोपलक्षणपरम्। न्या० वा० ता०, पृ० 214 पं० 16

आदि को कस्तूरी के द्वारा सुवासित किया गया देखा जाता है। अतः अस्थिर (क्षणिक) अतएव परस्पर सम्बन्ध न रखने वाले विज्ञानों में यह वास्य-वासक भाव नहीं हो सकता।"[1]

इसके उत्तर में बौद्ध-दर्शन का कथन है कि क्षणिक विज्ञानों में भी वासक-वास्य भाव हो सकता है, क्योंकि (1) बौद्ध के मत में सब वस्तुएँ क्षणिक हैं ऐसी वस्तु संसार में कोई नहीं है जो स्थिर हो और उसमें किसी वस्तु के द्वारा कोई वासना उत्पन्न की जाती हुई देखी जाती हो,[2] (2) यद्यपि विज्ञान अस्थिर हैं तथापि वे पूर्वापरकाल में होते हैं अतः उनमें सम्बन्ध है ही। अतएव एक चित्त की वासना से अन्य चित्त में स्मृति हो सकती है।[3]

यहाँ वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध दर्शन के अनुसार स्मृति की प्रक्रिया को अत्यन्त स्पष्ट रूप में दर्शाया है। जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है, विज्ञान दो प्रकार का है— प्रवृत्ति विज्ञान और आलयविज्ञान। जब एक प्रवृत्ति-विज्ञान जैसे घट का चाक्षुष-ज्ञान उत्पन्न होता है तो उस काल में आलय-विज्ञान स्मृति की शक्ति (वासना, संस्कार या अतिशय) से युक्त हो जाता है। उस आलय-विज्ञान से जो अग्रिम प्रवृत्ति-विज्ञानरूपी तरंग आविर्भूत होते हैं वे उस पूर्व शक्ति से विशिष्ट होते हैं। अतएव पूर्व प्रवृत्ति-विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु की स्मृति होना संभव है। इस पर न्याय-वैशेषिक की दो आपत्तियाँ हैं—एक तो यह कि क्षणप्रध्वंसी विज्ञानों के द्वारा वासना का आधान ही नहीं हो सकता, क्योंकि बौद्ध के मत में निरन्वय विनाश[4] माना जाता है अर्थात् कोई भी वस्तु नष्ट होती हुई अपना कोई तत्त्व अवशिष्ट नहीं छोड़ती। अतः पूर्व उत्पन्न अनुभव ऐसी किसी वासना को उत्पन्न करके नष्ट नहीं होगा जिससे कालान्तर में स्मृति की उत्पत्ति हो सके।[5] दूसरी आपत्ति यह है कि पूर्व और उत्तर विज्ञान में कोई सम्बन्ध नहीं (पूर्व विज्ञान नष्ट हो जाता है तब द्वितीय विज्ञान उत्पन्न होता है) इस प्रकार विज्ञान समानकालीन ही नहीं फिर उनमें सम्बन्ध कैसे हो सकता है।[6]

इन दोनों शंकाओं के समाधान में बौद्ध दर्शन का यही कथन है कि जब संसार की समस्त वस्तुएँ ही (हमारे मत में) क्षणिक हैं तो वस्त्र तथा कस्तूरी आदि भी क्षणिक है

---

1. स्थिरस्य सम्बद्धस्य च वस्त्रादेर्मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति नास्थिरे सम्बद्धे च भवितुमर्हति। न्या० वा० ता० पृ० 215 पं० 10
2. नास्माकं क्षणिक वस्तुवदिनामस्ति तज्जगति यदवस्थितं वासकेन वास्यमानं दृष्टमिति। न्या० वा० ता० पृ० 214-215
3. अस्थिरयोरपि ज्ञानयोः समानकालतयां स्ति सम्बन्ध इति कस्मादन्यतर-चित्तवासितमन्यतरच्चितं स्मृतिं नाधत्ते। वही, पृ० 215 पं० 13
4. ऊपर, परि० 8 अनु० 6 (ङ)।
5. नास्थिरत्वाद बुद्धीनाम्-न ह्यजातानन्वयध्वरतरोरस्ति कश्चिद् विशेष इति पूर्वोत्पन्नो-नुभवः कांचन वासनामाधाय प्रध्वंसते यया कालान्तरे स्मृतिराधीयते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। न्या० वा० ता०, पृ० 214
6. असम्बन्धाच्चेति। न च बुद्धीनामसमानकालानामस्ति सम्बन्ध इत्यर्थः। वही, पृ० 214

ही। यहाँ क्षणिक वस्तुओं में हां वास्य-वासक-भाव देखा जाता है। इसी प्रकार क्षणिक विज्ञानों में भी वास्य-वासक-भाव संभव है। ऐसा तो कोई उदाहरण दिया नहीं जा सकता, जहाँ स्थिर वस्तुओं में भी वास्य-वासक-भाव देखा जा सके। दूसरी शंका भी निर्मूल है, क्योंकि यह ठीक है कि ज्ञान क्षणिक हैं फिर भी उनमें समानकालता तो है ही जब एक ही क्षण में एक विज्ञान उत्पन्न होता है और दूसरा नष्ट होता है तो समानकालता क्यों नहीं? एक विज्ञान के द्वारा दूसरा विज्ञान अनुवासित हो सकता है तथा स्मृति की उत्पत्ति में किसी विवाद का अवसर नहीं। स्मृति के हो जाने पर प्रतिसन्धान भी संभव ही है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के अनुसार विज्ञानों की क्षणिक सन्तति में भी प्रतिसन्धान, स्मृति तथा स्मृति का हेतु वासना सभी की व्यवस्था हो जाती है।

अनात्मवाद में कर्मफल-व्यवस्था

न्याय-वैशेषिक का कथन है कि बौद्धों के अनुसार देह, इन्द्रिय, बुद्धि तथा वेदना आदि के संघात से भिन्न आत्मा नाम की कोई स्थिर वस्तु नहीं अत: कर्मफल-व्यवस्था नहीं बन सकती। बौद्धों के मत में यह देहेन्द्रिय बुद्धि आदि का संघात भी क्षणिक है, क्षणप्रध्वंसी है। जो संघात कर्म करता है, वह कर्म करके नष्ट हो जाता है तथा फल भोगते समय दूसरा ही होता है। सामान्य नियम तो यह है कि जो कर्म करता है उसे ही कर्म का फल मिलता है।[1] बौद्धों के मत में यह कैसे संभव है? इसलिए किये हुए कर्म का नाश (कृतविनाश:) और विना किये का भोग (अकृताभ्यागम:) यह दोष होता है।[2] बौद्ध दर्शन न्याय-वैशेषिक की इन शंकाओं का समाधान करता हुआ अनात्मवाद में कर्मफल-व्यवस्था को स्वीकार करता है। अनात्मवाद में कर्मफल-व्यवस्था कैसे बन सकती है, इसका विवेचन वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों की ओर से निम्न प्रकार से किया है—"येन कायेनोपलक्षित: कश्चिच्चित्सन्तान: स कायान्तरवर्त्यपि फलं भुङ्क्त इत्यर्थ:।' न्या० वा० ता०, पृ० 506 पं० 8। अर्थात् जिस काया से उपलक्षित कोई चित्त-सन्तान होता है वही दूसरी काया में जाकर फल भोगता है।[3]

बौद्ध-दर्शन का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार विज्ञानों के कारणकार्यभाव से स्मृति हो जाती है इसी प्रकार कारण-कार्य-भाव से ही कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व की भी व्यवस्था हो जाती है।[4] इस कर्मफल-व्यवस्था को भौतिक दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—"धान के बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, धान बीज के नष्ट हो जाने पर पौधे आदि की उत्पत्ति होकर पृथिवी आदि भूतों की सहायता से फिर धान बीज का प्रादुर्भाव हो जाता है। वहाँ कोई अनुगत एक निमित्त नहीं होता तथापि यह नियम है कि

---

1. शास्त्रचोदितं फलमनुष्ठातरीत्ययमुत्सर्ग:। न्या० वा०, ता०पृ० 506 पं० 4
2. तदेवमकृतकृताभ्यागमविनाशदोषप्रसङ्ग:। न्या० वा०, पृ० 350 पं० 17
3. मि० सन्तानैक्यमाश्रित्य कर्त्ता भोक्तेति देशितम्। बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० 471
4. हेतुफलभावात् स्मृतिवत्कर्तृभोक्तुव्यवहार:। न्या० वा०, पृ० 350 पं० 20

धान बीज से होने वाले अंकुर से धान बीज ही उत्पन्न होता है। धान बीज के नष्ट हो जाने पर पौधे आदि की उत्पत्ति होकर पृथिवी आदि भूतों की सहायता से फिर धान बीज का प्रादुर्भाव हो जाता है। वहाँ कोई अनुगत एक निमित्त नहीं होता तथापि यह नियम है कि धान बीज से होने वाले अंकुर से धान बीज ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कारण-कार्य-रूप से व्यवस्थित जो चित्त-सन्तति है उसके चित्तों में विपाक दशा को प्राप्त हुए कर्मों से फल उत्पन्न हो जाता है।[1] अथवा जिस प्रकार लाक्षा के रस से भावना दिये हुए (भावित) बीजों को बोने से उनके पुष्प फल तथा कपास आदि में भी लालिमा आ जाती है, इसी प्रकार एक चित्त-सन्तान के किसी विज्ञान-क्षण के कर्म का फल अग्रिम विज्ञान-क्षणों को प्राप्त होता है।"[2]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस काया में रहने वाली चित्त-सन्तति के प्रवाह का कोई चित्तक्षण कर्म करता है उसी चित्तसन्तति का अन्य क्षण उस कर्म का फल भोगता है, दूसरी चित्तसन्तति का नहीं। इसलिए जो चित्त-सन्तति कर्म करती है वही फल भोगती है तथा कृतनाश, अकृताभ्यागम नाम का दोष नहीं होता।

बौद्धमत में कार्यकारण-भाव से ही एक विज्ञानक्षण के किये हुए कर्म को दूसरा विज्ञानक्षण भोगता है लोक के दृष्टान्तों से यही बात विदित भी होती है। वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों के इस मन्तव्य को योगभाष्य की तत्त्व-वैशारदी व्याख्या में इस प्रकार स्पष्ट किया है—"(बौद्धमत में) कोई असंगति नहीं, क्योंकि कार्य-कारण-भाव होने पर (स्मृति तथा फलोपभोग होता है) यह माना जाता है। (लोक वेद में अन्य कर्त्ता के कार्य का फल अन्य में जन्य-जनक-भाव से देखा जाता है) श्राद्ध का फल न करने वाले माता-पिता में तथा वैश्वानरीय यज्ञ का फल (पुत्र प्राप्ति) पुत्र में देखा जाता है। इसी प्रकार आम्र के बीज को मधुर रस की भावना दी जाती है और परम्परा से आम्र के फल मधुर हो जाते हैं। यह सब कार्य-कारण-भाव से ही होता है। एक बात और भी है किसी विज्ञान से प्रतीत्य समुत्पन्न विज्ञानों का यह स्वभाव ही है कि वे ही (पूर्व विज्ञान की बात को) स्मरण करते हैं तथा फल भोगते हैं, अन्य नहीं। स्वभाव में तो ये प्रश्न विप्रश्न (नियोगपर्यनुयोगी) हो नहीं सकते कि ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिए अथवा ऐसा क्यों नहीं होता है। इस प्रकार अनात्मवाद में भी कर्म-फल-व्यवस्था बन सकती है। इसमें कोई बाधा नहीं।

अनात्मवाद में जन्म-मरण-व्यवस्था

बौद्ध-दर्शन ने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक यह सिद्ध किया है कि जन्म-मरण-व्यवस्था नैरात्म्यवाद में ही बन सकती है, आत्मवाद में नहीं। बौद्धों की युक्तियों का निरूपण

---

1. न्या० वा०, पृ० 351
2. मि०, यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहि कर्मवासना।
   फलं तत्रैव बह्नाति कपसि रक्तता यथा।
   बोधचर्यावतारपंजिका, पृ० 472

करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं जन्म और मरण (उत्पादोच्छेद) को ही प्रेत्यभाव कहा जाता है। यदि आत्मा नित्य है तो उसकी उत्पत्ति और मृत्यु नहीं होनी चाहिए। इसलिए आत्मा को नित्य मानने पर प्रेत्यभाव नहीं बन सकता। बौद्धों के मतानुसार तो चेतन (सत्त्व) की उत्पत्ति तथा विनाश होता है अतएव प्रेत्यभाव बन सकता है।[1] यहाँ नैयायिक की ओर से यह शंका होती है कि 'प्रेत्य-भाव' का अर्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना नहीं हो सकता, क्योंकि प्रेत्य-भाव शब्द के 'प्रत्य' अंश में ल्यप् प्रत्यय हुआ है और जहाँ एक ही कर्त्ता दो कार्यों को करता है वहाँ पूर्वकालीन क्रिया की वाचक धातु से ल्यप् प्रत्यय होता है।[2] यदि एक ही आत्मा का मरकर (प्रेत्य) पुनर्जन्म (भाव) माना जाये तभी यहाँ ल्यप् प्रत्यय संगत होता है। अतः आत्मा को नित्य मानने पर ही प्रेत्यभाव बन सकता है। इस प्रकार प्रेत्यभाव का अर्थ मरकर पुनर्जन्म मानना चाहिए।'

इसके उत्तर में बौद्धों की ओर से कहा गया है कि "जिस प्रकार मुख खोलकर सोता है (मुखं व्यादाय[3] स्वपिति) यहाँ पर पहले सोता है तब मुख खोलता है अतः 'सोना' (स्वाम) पूर्वकालीन क्रिया है और 'स्वप्' धातु से ल्यप् प्रत्यय होना चाहिए, किन्तु पश्चात होने वाली क्रिया (व्या+दा) से ल्यप् प्रत्यय देखा जाता है। ठीक इसी प्रकार 'प्रेत्यभाव' का भी "भूत्वा प्रायणम्" अर्थात् "उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना" यह अर्थ है, किन्तु यहाँ पश्चात् होने वाली क्रिया (प्र+ई) से ल्यप् प्रत्यय हो गया है। विज्ञान-क्षण उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है जो उत्पन्न होता है वही नष्ट होता है। अतएव दोनों क्रियाएँ समानकर्तृक हैं और ल्यप् प्रत्यय सहज ही में निष्पन्न हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध मत में ही प्रेत्यभाव बन सकता है आत्मा को नित्य मानने पर नहीं।[4]

यहाँ यह शंका भी हो सकती है कि जब आत्मा या जीव नाम की कोई चीज नहीं है तो बौद्ध-दर्शन के अनुसार जन्मान्तर में गमन कैसे बन सकता है? ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में इसका विवेचन नहीं किया गया। किन्तु अभिधर्मकोश में इसका उत्तर स्पष्टतया दिया गया है। अभिधर्मकोश के अनुसार कर्म तथा अविद्यादि क्लेशों से संस्कृत पंचस्कन्ध की सन्तति प्रवाहित होती रहती है। एक मृत शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करने तक मध्य में भी एक स्कन्ध-सन्तति चलती रहती है जिसे 'अन्तराभव'[5] कहते हैं। यह स्कन्ध-सन्तति ही जन्मान्तर

---

1. उत्पादोच्छेदौ प्रेत्यभावो न चात्मनो नित्यस्य तौ स्तः तस्मादस्मिन् दर्शने न युक्तः प्रेत्यभावः। वैनाशिकानां तु सत्वौत्पादर्निरोधाभ्यां युक्तः प्रेत्यभावः। न्या० वा० ता० पृ० 589-590
2. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले। पाणिनि, 3.4.21
3. सिद्धान्तकौमुदी, सूत्रसंख्या, 3342
4. प्रेत्येति ल्यब मुखं व्यादाय स्वपितीतिबद् द्रष्टव्यः। तथा च भूत्वा प्रायसमिति भवनप्रायणयोः समानकर्तृकत्वमप्युपपन्नम्। न्या० वा० ता०, पृ० 590 पं० 1
5. मि०, अन्तराभवाः=मृतशरीरं विहाय परिग्रहीष्यमाणशरीरं ग्रहीतुं मार्गे वर्तमाना विज्ञानसन्ततयः। अभिधर्मकोश, नालन्दिकाटीका, 3.9

में गमन करती है।[1]

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के अनुसार विज्ञानों का प्रवाह एक जन्म से जन्मान्तर में भी चलता रहता है। यह विज्ञान-धारा पूर्व जन्म तथा अपर जन्म से सम्बन्ध रखती है। विज्ञानों की यह धारा ही अन्य दर्शनों के आत्मा सम्बन्धी कार्य को पूर्ण करती है, किन्तु यह एक व्यक्ति नहीं, स्थिर नहीं, क्षणिक है, यह कहा जा चुका है। जैसा कि श्चेरबात्स्की ने लिखा—है "संघातरूप धर्मों का यह प्रवाह, जो वर्तमान जीवन तक ही सीमित नहीं बल्कि जिसका मूल भूतकालिक अस्तित्व में है और जो भविष्यत् जीवन में ही निरन्तर रहता है, बौद्ध-दर्शन में अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों की आत्मा या व्यक्तित्व का प्रतिरूप है।

ईश्वरसिद्धि का खण्डन

(1) पूर्वपक्षी की ईश्वरसाधक युक्तियाँ—न्याय-वैशेषिक तथा योग आदि दार्शनिक सम्प्रदायों ने आत्मविशेष (पुरुषविशेष) को ईश्वर माना है तथा कतिपय आचार्यों ने प्रभावशालिनी युक्तियों द्वारा ईश्वर की सिद्धि की है। इन युक्तियों का सारसंग्रह सा करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—"आचार्य (उद्योतकर) का अभिप्राय यह है संसार में तीन प्रकार के पदार्थ हैं। एक तो वे जिनका कर्त्ता चेतन है, यह सर्वप्रसिद्ध है, जैसे राजमहल, अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाएँ, उच्च नगरद्वार तथा मुख्य द्वार इत्यादि। दूसरे वे पदार्थ हैं जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि उन्हें किसी (चेतन) ने नहीं बनाया,जैसे परमाणु, आकाश इत्यादि। एक तीसरे प्रकार के पदार्थ हैं जिनके निर्माण के विषय में सन्देह है कि क्या उन्हें किसी चेतन ने बनाया है? जैसे शरीर और पर्वत इत्यादि। इनके विषय में विभिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं और एक पक्ष का साधक या बाधक पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता अतः सन्देह होना स्वाभाविक ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि इनका कोई चेतन कर्त्ता प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होता, अतएव वह नहीं है, क्योंकि कुछ पदार्थ विद्यमान होते हैं (सतामपि), किन्तु स्वभाव से अत्यन्त सूक्ष्म या दूर (विप्रकृष्ट) होने के कारण उनकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं हुआ करती, जैसे परमाणु आदि हैं। यही बात शरीर और पर्वत आदि के कर्त्ता के विषय में भी हो सकती है। यह संभव है कि वह भी सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष का विषय न हो, क्योंकि अनुमान द्वारा इनके कर्त्ता की सिद्धि होती है। वह अनुमान यह है—

विवाद के विषय शरीर तथा पर्वत इत्यादि कारणसामग्री(उपादान) के विषय में भली भाँति जानने वाले (अभिज्ञ) कर्त्ता के द्वारा निर्मित हैं—(प्रतिज्ञा)।

क्योंकि इनकी उत्पत्ति होती है अथवा ये अचेतन सामग्री से उत्पन्न होते हैं (हेतु) जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है अथवा जो अचेतन सामग्री से उत्पन्न होते हैं

---

1. नात्मास्ति। स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्।
अन्तराभव-सन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥ अभिधर्मकोश 3.18

उन सब की उत्पत्ति कारण सामग्री के ज्ञानपूर्वक होती है, जैसे राजप्रासाद इत्यादि (साधर्म्योदाहरण)। इसी प्रकार विवाद के विषय शरीर और पर्वत आदि हैं (उपनय)। इसलिए ये भी चेतनकर्तृक हैं (निगमन)।[1]

"यह भी नहीं कहा जा सकता कि शरीर पर्वत आदि का उत्पत्तिमान् होना ही असिद्ध है, (अतः उपर्युक्त हेतु असिद्ध नामक हेत्वाभास है, सदहेतु नहीं), क्योंकि अवयवों वाला होने के कारण अथवा महत्परिणाम वाला होकर क्रियावान् होने के कारण शरीर आदि भी वस्त्र आदि के समान उत्पत्तिमान् हैं—यह सिद्ध होता है।

यदि कोई कहे कि बौद्धों के चेतन कर्म[2] के द्वारा अथवा मीमांसकों के चेतन क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के द्वारा ही पृथिवी इत्यादि का चेतन के द्वारा किया जाना सिद्ध है अतः उपर्युक्त हेतु सिद्धसाधन मात्र (सिद्ध की गई वस्तु की पुनःसिद्धि करना) है, यह भी उचित नहीं, क्योंकि यदि कर्म आदि को चेतन भी मान लिया जाये तो भी वे कारणसामग्री का ज्ञान नहीं रखते। इस हेतु वे पृथिवी आदि के कर्त्ता भी नहीं हो सकते (कारणसामग्री का ज्ञाता ही कर्त्ता होता है)। यदि यह भी मान लिया जाये कि कर्म इत्यादि कारणसामग्री का ज्ञान रखने वाले भी हैं तो वहीं हमारा (नैयायिक का ईश्वर है) नाममात्र का भेद है।" इस प्रकार का सिद्धसाधन हमें अभीष्ट ही है। भला ऐसा कौन है जो विना क्लेश के अभीष्ट सिद्धि का स्वागत न करे।

उपर्युक्त हेतु में दृष्टान्त साध्यहीन भी नहीं है अर्थात् सपक्ष में भी हेतु विद्यमान है, क्योंकि कारणसामग्री को बनाने वाले तन्तुवाय इत्यादि ही वस्त्र आदि के निर्माता देखे जाते हैं। इसीलिए यह हेतु विरुद्ध (हेत्वाभास) भी नहीं है। यदि कारणसामग्री को न जानने वाले तन्तुवाय इत्यादि वस्त्र इत्यादि के निर्माता हों तो उपर्युक्त हेतु विरुद्ध हो सकता है। किन्तु यह बात प्रतिपक्षी (बौद्ध) को भी अभिमत नहीं है।[3]

---

1. एतावदभिप्रेतमाचार्यस्य त्रयो हि खलु भावा जगति भवन्ति प्रसिद्धचेतनकर्तृकाः यथा प्रासादाट्टालगोपुरतोरणादयः। प्रतिद्धतद्विपर्ययाः। यथा परमाण्वाकाशादयः। सन्दिग्धचेतनकर्तृका यथा तनुगिरिमहीधरादयः। तत्र प्रमेयत्वाद्वादिविप्रतिपत्तेर्वा साधकबाधकप्रमाणभावे चेतनकर्तृत्वे संशयः। न च प्रत्यक्षानुपलब्धिमात्रमत्र बाधकं भवितुमर्हति। स्वभावविप्रकर्षिणां सतामपि प्रत्यक्षानुपलब्धेः परमाण्वादीनाम्। तथा च विवादाध्यासितास्तनुतरुमहीधरादय उपादानाभिज्ञकर्तृका उत्पत्तिमत्वात् अचेतनोपादानत्वाद्वा यदुत्पत्तिमदचेतनोपादानकं वा तत्सर्वमुपादानाभिज्ञपूर्वकं प्रासादादि, तथा च विवादाध्यासितास्तनुतरुमहीधरादयस्तस्मात्तथेति। न्या० वा० ता०, पृ० 598-599
2. मि०, वयमपि साधारणासाधारणचेतनालक्षकर्मनिर्मितं जगद्विचित्रमिच्छामः सत्साधय़ता च परेण साहाय्यकमनुष्ठितम्। प्र० वा० (मनो०), 1.12 (पृ० 12 पं० 2)
3. न चैषामुत्पत्तिमत्वमसिद्धम्। सावयवत्वेन वा, महत्वे सति क्रियावत्वेन वा वस्त्रादिवत्तत्सिद्धः। न चेतावता वैनाशिकानां कर्मणा चेतनेन मीमांसकानां क्षेत्रज्ञेन चेतनेने चेतनकर्तृत्वसिद्धेः पृथिव्यादीनां सिद्धसाधनंचैतन्येऽपि तेषामुपादानानभिज्ञत्वात् तज्ज्ञात्वे वा स एवास्माकमीश्वरः ईदृशमस्तु सिद्धसाधनं को हि क्लेशं बिना न वाञ्छितसिद्धिमिच्छेत्।

वाचस्पति मिश्र की उपर्युक्त युक्तियाँ प्रमाणवार्त्तिक की मनोरथनन्दिवृत्ति के पूर्वपक्ष में प्रस्तुत की गई युक्तियों के साथ बहुत अधिक साम्य[1] रखती हैं। बौद्ध-दर्शन के आचार्यों ने इस प्रकार की युक्तियों का बलपूर्वक निराकरण किया है। उन्होंने उपर्युक्त ईश्वर-साधक अनुमान में भी अनेक दोष दिखलाये हैं। वाचस्पति मिश्र ने[2] न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका तथा न्यायकणिका[3] में बौद्ध-दर्शन की इन युक्तियों का विवेचन एवं निराकरण किया है। वहाँ बीच-बीच में मीमांसक की युक्तियों का भी समावेश कर दिया गया है। अतएव बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से ही यह विवेक किया जा सकता है कि बौद्ध-दर्शन की युक्तियाँ कौन सी हैं। संक्षेप में बौद्धों की एतद्विषयक युक्तियाँ इस प्रकार दिखलाई जा सकती हैं:—

(2) ईश्वरसाधक हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है—जैसा कि बौद्धों की ओर से न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में बतलाया गया है—उपर्युक्त अनुमनन से विशेष व्यक्ति (ईश्वर) की अर्थापत्ति द्वारा कल्पना की जाती है किन्तु उसके शरीर आदि मानना प्रमाण विरुद्ध है। अतएव उपर्युक्त हेतु विरुद्ध (हेत्वाभास) है। जैसे—यदि कोई यह अनुमान प्रस्तुत करता है—''हिम अग्निवाला है, क्योंकि वह तृण आदि में विकार उत्पन्न करता है'' तो यहाँ अग्निवाला होने से यह अर्थापन्न है कि उस हिम में तृण इत्यादि को विकृत करने वाला ऐसा उष्ण स्पर्श होगा जो इन्द्रियग्राह्य (उद्भूत) होता है। किन्तु ऐसा स्पर्श तो प्रतीत नहीं होता, अपितु इसके विरुद्ध प्रत्यक्षतः ही शीत स्पर्श प्रतीत होता है अतएव वहाँ प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास होता है। इसी प्रकार ईश्वर साधक (उपर्युक्त) हेतु को देखने से ज्ञात होता है कि पृथिवी इत्यादि के कारण-सामग्री विषयक ज्ञान का कारण आत्मा और मन का सन्निकर्ष तथा शरीर (इन्द्रिय भी ले लीजिए) आदि हैं अतः इन कारणों के विना कारणसामग्री-विषयक ज्ञान होना संभव नहीं है तथा इन (शरीर आदि) का अर्थतः आक्षेप हो जाता है। अतः यदि उपादान-विषयक ज्ञान रखने वाला ईश्वर, पृथिवी आदि का निर्माता है तो उपादान-विषयक ज्ञान के लिए उसके शरीर आदि की कल्पना आवश्यक हो जाती है। किन्तु यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा बाधित होती है। जब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा उसमें शरीर आदि का निषेध हो जाता है तो ज्ञान का भी निराकरण हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जैसे कि हिम में उद्भूत उष्ण स्पर्श का बोध हो जाने पर उससे दाहकता की भी

न च साध्यहीनो दृष्टान्तः। पटादीनामप्युपादानाभिज्ञकुविन्दादिकर्तृकत्वात्। अत एव न विरुद्धता हेतोः, एवं हि सा भवेत्, यद्य पादानानभिज्ञकर्तृकाः पटादयो भवेयुः न चैतत्परेषामपि सम्मतम्। न्या० वा० ता०, पृ० 599

1. प्र० वा० मनो०, 1.11
2. न्या० वा० ता०, पृ० 599-605
3. न्यायकणिका, पृ० 212-227

निवृत्ति हो जाती है।[1] इस प्रकार उपर्युक्त ईश्वरसाधक अनुमान अनुमानाभास है तथा उससे ईश्वर-सिद्धि नहीं हो सकती।[2]

(3) "उत्पत्तिमान् होने से" (उत्पत्तिमत्व) इस हेतु के द्वारा नित्यसर्वज्ञ कर्त्ता की सिद्धि नहीं हो सकती—उत्पत्तिमान् होने की कारणसामग्री के ज्ञाता कर्त्ता के साथ व्याप्ति है,अर्थात् जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्ति कारणसामग्री के ज्ञानपूर्वक होती है,यही घट इत्यादि में देखा जाता है। इस व्याप्ति द्वारा पृथिवी आदि में केवल यह अनुमान किया जा सकता है कि इनका उत्पादक भी इनकी कारणसामग्री का जानने वाला कोई व्यक्ति होना चाहिए। इससे यह अनुमिति तो संभव नहीं कि पृथिवी आदि का कर्त्ता नित्य सर्वज्ञ (सर्वविषय-ज्ञानवान्) है, क्योंकि दृष्टान्त में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता।[3] इस प्रकार उपर्युक्त हेतु से किसी नित्य सर्वज्ञ पुरुषविशेष की सिद्धि नहीं हो सकती, जैसा कि बौद्धों (?) की निम्नकारिका को उद्धृत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—

सन्निवेशादिमत्सर्वं बुद्धिमद्हेतु यद्यपि।
प्रसिध्येत् सन्निवेशादेरेककारणता कुतः॥ इति[4]

—न्या० वा० ता० पृ० 601 (न्यायकणिका, पृ० 219)

"यद्यपि जिस वस्तु में विशेष प्रकार की संघटना (सन्निवेश) होती है उसकी रचना बुद्धिमान् हेतु के द्वारा हुआ करती है तथापि इस विशेष प्रकार की संघटना का कोई एक कारण है, यह कैसे निश्चित किया जा सकता है? "

(4) उत्पत्तिमात्र की बुद्धिमत्व के साथ व्याप्ति नहीं—"सामान्य रूप से उत्पत्ति की बुद्धिमत्व के साथ व्याप्ति नहीं, किन्तु विशेष प्रकार की उत्पत्ति बुद्धिमत्-हेतु-पूर्वक होती है यह व्याप्ति है। जिस वस्तु को देखकर (उत्पादन) क्रिया को न देखने वाले व्यक्ति के मन में भी यह विचार उत्पन्न होता है कि यह वस्तु उत्पादित

---

1 स्यादेतद् अर्थाक्षिप्तस्य विशेषस्य शरीरादिमत्वादेः प्रमाणविरोधाद्विरुद्धता। यथा तृणादिविकारकारित्वादग्निमद्धिममित्यत्र वमिमत्वाक्षिप्ततृणादिविकारोपयुक्तवह्निगतोद्-भूतोष्णस्पर्शविरुद्धशीतस्पर्शस्य प्रत्यक्षेणोपलम्भाद्बाधितो विरुद्धो हेतुः। तथा ह्यस्य क्षित्याद्य पादानादिविषयं ज्ञानमात्ममनः सन्निकर्षशरीरादिकारणकं नासति तस्मिन् भवतीति तदनेनाक्षिप्तं, तच्चात्र प्रमाणबाधितं, तन्निवृत्तौ च ज्ञानमस्य निवर्त्तेत उष्णत्वोद-भूतिनिवृत्ताविव दाहको वह्नि नरवश्याय इति। न्या० वा० ता०, पृ० 599

2. मि०, प्र० वा०, 1.12

3. स्यादेतत् उत्पत्तिमत्वमुपादानाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकत्वमात्रव्याप्तं घटादिषु दृष्टं तावन्मात्रमेव पृथिव्यादीनां गमयेद् नित्यसर्वविषयज्ञानवत्कर्तृत्वं तु कुतस्त्यम्। न हि तद्दृष्टान्तधर्मिणि दृष्टम्। न्या० वा० ता०, पृ० 600

4. इस कारिका का भाव प्रमाणवार्त्तिक 1, 12-13 में निहित है, किन्तु यह कारिका वहाँ नहीं है।

(कृत) है और उस वस्तु को देखकर यह (कृत) बुद्धि हुआ करती है जिसका होना या न होना बुद्धिमान् के होने या न होने का अनुसरण करता है (अर्थात् बुद्धियुक्त व्यक्ति के होन पर ही जो वस्तु होती है उसके न होने पर नहीं होती ऐसी विशेष प्रकार की वस्तु की उत्पत्ति को ही बुद्धिमत-हेतुपूर्वक कहा जा सकता है)। घट इत्यादि में इस प्रकार की बुद्धि (?) देखी जाती है। प्रत्येक उत्पन्न होने वाली वस्तु शरीर तथा जगत् इत्यादि में ऐसा नहीं देखा जाता, क्योंकि उनमें बुद्धियुक्तकर्त्ता के भाव तथा अभाव का अनुसरण नहीं देखा जाता। इस प्रकार उत्पत्ति सामान्य की इस 'विशेष' उपाधि का आश्रय लेकर बुद्धिमत के साथ व्याप्ति होती है (अतः यह 'उत्पत्तिमत्वात्' हेतु सोपाधिक है) तथा यह व्याप्य नहीं कहा जा सकता और बुद्धिमत्पूर्वकता की सिद्धि नहीं करा सकता। अन्यथा (यदि अन्य के द्वारा प्रयुक्त व्याप्ति से भी अनुमिति होने लगे तो) पाण्डुवर्ग के धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति के आधार पर कुमुद, कपोत आदि में स्थित पाण्डुता से भी अग्नि (धूमकेतु) का अनुमान होने लगेगा।[1]

वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की यह युक्ति प्रमाणवार्त्तिक के आधार पर प्रस्तुत की है,[2] तथापि यह विवेचन प्रमाणवार्त्तिक की अपेक्षा स्पष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने 'कार्यसम' जाति का विवेचन करते हुए (न्या०वा०ता०, पृ० 693) भी प्रमाणवार्त्तिक की ईश्वर-दूषण-विषयक दो कारिकाओं को उद्धृत किया है[3] और उनका खण्डन करने का प्रयास किया है।

बौद्ध-दर्शन का यह भी कथन है कि यदि विशेष उत्पत्ति के स्थान पर उत्पत्ति मात्र को ज्ञापक (लिङ्ग) माना जायेगा। तो वल्मीक (बमी) भी मृतिका-निर्मित होने के कारण कुम्भकार की कृति सिद्ध हो जायेगी।[4] इस तर्क का उपसंहार करते हुए बौद्धों की ओर से न्यायतात्पर्यटीका में बतलाया गया है—"नोत्पत्तिमात्रम् उपादानाभिज्ञकर्तृकत्वेन व्याप्तम्। अपि तु यदस्मदादिशक्यज्ञानोपादानादि, न च तथा तनुभुवानाद्युत्पत्तिमदपि, तस्मात् व्याप्ति-विरहान्न तत्पूर्वकमिति।" न्या०वा०ता०, पृ० 603

अभिप्राय यह है उत्पत्तिमात्र की कारणसामग्री को जनाने वाले कर्त्ता के साथ व्याप्ति नहीं है, अर्थात् जिन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है वह उनकी कारणसामग्री को भली-भाँति जानने वाले कर्त्ता के द्वारा ही होती है ऐसा स्वाभाविक नियम नहीं है, अपितु स्वाभाविक नियम यह है कि जिस वस्तु की कारणसामग्री का ज्ञान हमारे द्वारा किया जा सकता है उस वस्तु की उत्पत्ति (उत्पत्तिविशेष) कारणसामग्री को जानने वाले कर्त्ता के द्वारा होती है। यद्यपि शरीर और भुवन आदि की उत्पत्ति होती है तथापि इनकी

1. न्या०वा०ता०, पृ० 693 (प्र०वा०) मनो०, 1,14
2. प्र०वा० (मनो०), 1.14
3. वही, 1.14, 1.16
4. मृदिवकारत्वेन वल्मीकस्य घटादिवत् कुलालकार्यत्वम्। न्या० वा०ता०, वृ० 602-603, मि०, प्र०वा०मनो, 1.15

कारण सामग्री का पूर्ण ज्ञान तो हमारे लिये सम्भव नहीं (न तथा) इसलिए व्याप्ति न होने के कारण इनकी उत्पत्ति कारण सामग्री को जानने वाले कर्त्ता से नहीं होती। और, उनके कर्तृत्व रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

(5) पृथिवी आदि सर्वज्ञकर्तृक नहीं हो सकते—बौद्ध-दर्शन का मत है कि पृथिवी आदि का कर्त्ता कोई सर्वज्ञ है। इसकी सिद्धि के लिए जो हेतु दिया गया है, वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है, क्योंकि

"पृथिवी इत्यादि सर्वज्ञ द्वारा निर्मित नहीं। (प्रतिज्ञा)
क्योंकि वे प्रमेय हैं तथा भावरूप हैं। (हेतु)
घट आदि के समान।" (उदाहरण)

इस प्रकार के अनुमान है जो साध्यार्थ के विरुद्ध पक्ष को सिद्ध करते हैं अत: नैयायिक का ईश्वरसिद्धिविषयक (प्रकृत) हेतु सत्प्रति-पक्ष नामक हेत्वाभास के अन्तर्गत आ जाता है, और उनका वह अनुमान यथार्थ नहीं अपितु अनुमानाभासमात्र है।[1]

(6) ईश्वर परमाणु आदि का अधिष्ठाता नहीं—न्याय-वैशेषिक ईश्वर को परमाणु आदि का अधिष्ठाता मानते हैं। यह भी प्रमाण-विरुद्ध है—"ईश्वरोऽनाधिष्ठाता परमाण्वादीनामशरीरित्वात् मुक्तात्मवत्।" न्या०वा०ता०, पृ० 603

"ईश्वर परमाणु आदि का अधिष्ठाता नहीं हो सकता। (प्रतिज्ञा)
क्योंकि यह शरीररहित है। (हेतु)
मुक्त आत्माओं के समान।" (उदाहरण)

(7) ईश्वर का ज्ञान सर्वविषयक तथा नित्य नहीं—ईश्वर को सर्वज्ञ तथा नित्य ज्ञानवान् मानना भी प्रमाण विरुद्ध हैं—

"ऐश्वरं ज्ञानं न सर्व विषयम् अनित्यं च ज्ञानत्वाद् अस्मदादिज्ञानवत्।

न्या० वा०ता०, पृ० 603

"ईश्वर का ज्ञान सर्व विषयक नहीं तथा अनित्य है (प्रतिभा)
क्योंकि वह ज्ञान है। (हेतु)
हमारे (लौकिक मनुष्यों के) ज्ञान के समान।" (उदाहरण)

इस प्रकार की ईश्वर बाधक युक्तियों का न्यायकणिका (पृ० 212 से 227) में विस्तार से विवेचन किया गया है। इनमें से अनेक युक्तियाँ प्रमाणवार्त्तिक की ईश्वरबाधक युक्तियों से साम्य रखती हैं[2] तथा कुछ युक्तियाँ भिन्न प्रकार की भी हैं।

---

1. न सर्वज्ञपूर्वकाः क्षित्यादयः प्रमेयत्वसत्वादिभ्यः घटादिवदित्यनुमानानि सन्ति प्रतिपक्षसाधनानीति सत्प्रतिपक्षतया प्रकृतमनुमानाभासम्। न्या०वा०ता०, 603 पं० 12
2. मि०, प्र० वा० (मनो०), 1.23-30

सम्भवतः अन्य बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर उनका निरूपण किया गया है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार कर्म और पुनर्जन्म का सम्बन्ध अनादि है, परन्तु सान्त है। इस सम्बन्ध में प्रमाणवार्तिक तथा वार्तिकालंकार में अनेक शंकाओं को उपस्थित कर उनका उचित समाधान भी किया गया है। इस शंका और समाधान से बौद्ध-दर्शन का जन्मान्तरवाद तथा परलोकवाद सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में पुनर्जन्म परिग्रह नामक एक स्वतन्त्र परिच्छेद ही प्रमाणवार्तिक तथा वार्तिकालंकार में जोड़ा गया है। इसके अनुशीलन से बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। इसकी विधि तो प्रश्नोत्तर विधि है जिससे समीचीन सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है।

फलतः देह से बुद्धि (चित्त) भिन्न है। वह माता-पिता से जनित नहीं, अपितु स्वकीय सन्तानगत अन्तिम चित्तक्षण से उत्पन्न है। यदि ऐसा है, तब प्राणियों की महाभूतमात्र से उत्पत्ति नहीं अपितु पूर्वजन्म से गर्भावस्था में उत्पन्न होते हैं किन्तु ऐसे अशुचि (अपवित्र) स्थान में जाना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति अपने आप ऐसा नहीं कर सकता और न ईश्वर की प्रेरणा ऐसी मानी जा सकती है। यह पहले छठे पद्य में कहा जा चुका है कि—"स्वरूपस्य स्वतो गतिः" अर्थात् जीव की स्वतः (अपनी इच्छा से) गति होती है, दूसरा गमयिता सम्भव नहीं, क्योंकि जिस प्रेक्षा या बुद्धि से जीव को वस्तु का ज्ञान होता है, वह शुद्ध पदार्थ का ही ज्ञान है, प्राप्य पदार्थ का नहीं। यदि कहा जाय कि जैसे यथाकथंचित् ग्रामादि देशों में प्रेक्षा के विना भी गति देखी जाती है, वैसे ही गर्भादि देशों में गमन हो जाता है। आत्म-स्नेह से प्रेरित पुरुष विपर्यास के कारण हीन (अनुपादेय) देश को उपादेय मान लेता है। कर्म की शक्ति ही वैसी है, अन्य-प्रेरित परवश व्यक्ति के समान वैसी गति हो जाती है। हीन-स्थान का परिग्रह तो दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए होता है, बड़े-बड़े श्रोत्रिय विद्वान् भी दासी के घर में घुसते देखे गये हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जीव के गर्भ-प्रवेश में ईश्वर की प्रेरणा क्यों नहीं मानी जाती? इसका सीधा उत्तर है कि जो व्यक्ति किसी क्रिया में अपने-आप प्रवृत्त नहीं होता, उसे अन्य की प्रेरणा चाहिए। भ्रान्त पुरुष की तो अपने-आप विपर्यय के कारण गर्भादि के ग्रहण में प्रवृत्ति हो जाती है, अतः ईश्वर की कल्पना ही व्यर्थ है। ईश्वर की प्रेरणा उपलब्ध भी नहीं होती—यहाँ आत्म स्नेह ही ईश्वर है, उसमें ही प्रेरकत्व पाया जाता है। जैसे—भृत्य (नौकर) आदि मालिक से प्रेरित होकर प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही परलोक में भी क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि अन्य की प्रेरणा से ही सर्वत्र प्रवृत्ति होती है—ऐसा कोई नियम नहीं। आत्मीय तृष्णावान् पुरुष ही प्रेर्यप्राण होता है, सभी नहीं। वह प्रेरक पुरुष भी सतृष्ण होगा, क्योंकि वीतराग है, वस्तुतः प्रेरक नहीं, तथापि उसकी आराधना से गति प्राप्त होती है, अतः वह प्रेरक माना जाता है" ऐसा मानने पर सभी तीर्थंकर (आचार्यों) को ईश्वर मानना पड़ेगा। निष्कर्ष यही है कि विपर्यय ज्ञान वाला व्यक्ति ही गर्भस्थान या अन्यत्र दुःखात्मक पदार्थों में सुख बुद्ध्या प्रवृत्त होता है। फलतः

विपरीत बुद्धि और तृष्णा के द्वारा ही जन्म ग्रहण होता है। जिस पुरुष धौरेय के ये दोनों नहीं, वह जन्म ग्रहण नहीं करता। उसको जन्म देने में ईश्वर भी समर्थ नहीं। ईश्वरवादी दार्शनिक भी वैसा नहीं मानते।

जिस रुग्ण व्यक्ति के आरोग्य-साधक कर्म नहीं, उसको वैद्यपुंगव भी कुछ नहीं कर सकता और जिसके कर्म ही रोग-निवारण में सक्षम हैं, उसके लिए भी वैद्य व्यर्थ है।

उक्त दोष कोई दोष नहीं, क्योंकि वैद्य की व्यर्थता कहीं भी नहीं, क्योंकि सक्षम कर्मों के सामर्थ्य से ही वैद्य प्राप्त होता, अक्षम कर्मवाले के पास वैद्य जा ही नहीं सकता। ईश्वर में भी वही प्रक्रिया मानी जाती है, वैसा यदि प्रेरक नहीं, तब वह ईश्वर भी नहीं।[1] अर्थात् ईश्वर के द्वारा कोई संसारी व्यक्ति प्रेरित होता है और कोई नहीं—ऐसी मान्यता ईश्वरवादियों की नहीं जन्म देने वाले ईश्वर का आराधन यदि उपयोगी है, तब धनादि देने वाले मालिक की आराधना भी होनी चाहिए। इस प्रकार की आराधना तो सभी तीर्थंकरों की होती है, ईश्वर और अनीश्वर में क्या विशेषता? अत: जीव को अपनी अविद्या और तृष्णा में ही जन्म देने का सामर्थ्य होता है, ईश्वर में नहीं।

शरीर से अनेक विद्वानों का उदय होने पर भी नियम है कि उसी विज्ञान् से। जैसे अनेक इन्द्रिय-विज्ञानों का सम्भव होने पर भी कदाचित् एक ही विज्ञान् अपने सम्बन्धित विषय में होता है।

जैसे शरीर से उत्पन्न होकर विज्ञान पुन:-पुन: उतना ही रहता है, क्योंकि देह की सामर्थ्य ही वैसी होती है। यदि विज्ञान स्वकीय शक्ति से नियन्त्रित होकर किसी एक ही विज्ञान को जन्म देता है तब देह तो सदैव वैसा ही है, अत: अनेक विज्ञानों का जनक क्यों नहीं? यदि शरीर-जनित एक विज्ञान के द्वारा द्वितीयादि विज्ञानों की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध किया जाता है, अत: ज्ञानान्तर का उदय क्यों होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शरीर से विज्ञान की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं और विज्ञान से विज्ञान की उत्पत्ति प्रमाण-सिद्ध है।[2] ज्ञान-रहित केवल देह से अनेक विद्वानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती और विज्ञान से अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति इसलिए नहीं होती कि विज्ञानोत्पन्न प्रथम ज्ञान से ज्ञानान्तर-जनन शक्ति कुण्ठित (प्रतिबन्धित) हो जाती है। उसी ज्ञान से उसी ज्ञान के उत्पादन की शक्ति वैसे ही व्याहत नहीं होती, जैसे उसी धूम से वह्निगत धूम-जनन-शक्ति बाधित नहीं होती अत: देह से सकृत अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति प्रसक्त होती है देह को ज्ञान का उत्पादक मानने पर। देह कोई प्रेक्षापूर्वक कारण भी नहीं कि यह सोच सके—मैंने एक ज्ञान उत्पन्न कर दिया है, उसी से अपरापर ज्ञान-सन्तति प्रवाहित हो जायेगी, हम ज्ञानान्तर को क्यों जन्म दें।

---

1. वा०ल० 512
2. वही, 575

यदि ऐसा भी कदाचित् सम्भव हो जाय कि उसी कार्य के द्वारा स्वजनन-शक्ति का व्याघात होता है, तब देह से अनेक विज्ञानों के सम्भव हो जाने के अनन्तर उक्त शक्ति का व्याघात होता है। तब ज्ञान से ज्ञान का उत्पाद होने लगता है। ऐसा क्यों? इस सन्देह के उत्तर में कहा जा सकता है कि अभ्यासरूप पक्षपात ही उस असंविज्ञान का नियामक है[1] अत: तज्जातीय विज्ञान से ही तज्जातीय विज्ञान की उत्पत्ति होती है, देह से विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती।

अनेक इन्द्रियों से ज्ञानों की उत्पत्ति मानी जाती है और उन ज्ञानों में से एक ज्ञान के द्वारा एक सजातीय ज्ञान की धारा (सन्तान) का प्रवाह प्रवाहित होता है।

उक्त प्रक्रियामात्र से कथित आक्षेपों का परिहार नहीं होता। अनासक्तस्वभावक विज्ञान विज्ञानान्तर की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक नहीं होता। विषय-विशेष की असक्ति अभ्यास के विना नहीं होती। तज्जातीय ज्ञान का पूर्वाभ्यास होता है, उसके सदृश विज्ञान में आसक्ति होती है, अत: पूर्वाभ्यास के आधार पर ही विज्ञानान्तर का अनुदय होता है। जिस वादी के मत में परलोक नहीं, उसके मत में पूर्वाभ्यास (पूर्व जन्म में विहित अभ्यास) सम्भव नहीं होता, पूर्वाभ्यास के विना विज्ञानान्तर का निवारण नहीं होता, अत: देह से पुन:-पुन: उत्पन्न होने वाले विज्ञानों का एक बृहत् पुंज हो जाना चाहिए, वह दिखाई नहीं देता[2] यदि शरीर का प्रथम क्षण ही ज्ञान का उत्पादक माना जाता है, तब उससे भिन्न देह के द्वितीयादि क्षणों में ज्ञान की अजनकता प्राप्त होती है।[3] कलशादि से भिन्न पटादि में घट-ज्ञान की जनकता नहीं देखी जाती। यदि प्रथमत: देहक्षण से ही ज्ञानों का उदय माना जाता है, तब देह को ज्ञान का आश्रय नहीं मान सकते, ज्ञान अनाश्रितरूपेण स्वाधीन ही रहेगा[4] जिन पदार्थों में उपकार्योपकारकभाव नहीं होता, उनमें आश्रयाश्रयिभाव कभी हो ही नहीं सकता।

यदि देह सहकृत विज्ञान को विज्ञान का उत्पादक माना जाता है, अत: विज्ञान में केवल (अनाश्रित) अवस्थान नहीं होता। तब तो हमारा (बौद्धों का) ही सिद्धान्त समर्थित हो जाता है कि विज्ञान ही विज्ञान का उत्पादक है और देह सहायक मात्र।

विज्ञान का प्रथम उपादान कारण देह वैसे ही होता है, जैसे शालूक (बिच्छू) का प्रथम उपादान गोमय (गोबर) होता है और पश्चात् शालूक से शालूकोत्पत्ति का क्रम चालू हो जाता है।

जैसे गोमय के विना भी शालूक से शालूकोत्पत्ति होती है, वैसे ही विज्ञान से विज्ञान की उत्पत्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं। हाँ, विज्ञान शरीर-निरपेक्ष केवल अवस्थान-

1. वा०ल० 576-577
2. वही, 578-579
3. वही, 580
4. वही, 581

प्रसंग न हो, अतः शरीर को भी कारण माना जाता है, वह भी शरीर को उपादान-कारणत्वेन नहीं, अपितु सहकारित्वेन स्वीकृत किया जाता है। यदि कहा जाय कि देह को पहले उपादान और पश्चात् सहकारी कभी नहीं होता। यदि देह उपादान कारण है, तब सहकारी कारण कैसे होगा? लोक में वैसा कोई दृष्टान्त नहीं देखा जाता[1] शालूक का जो दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है। वहाँ यह तथ्य नितान्त स्फुट है कि गोमय से समुद्भूत और शालूक-जन्य शालूक व्यक्तियों का महान् अन्तर देखा जाता है। उसका प्रतिपादन किया जा चुका है। कहीं-कहीं पटु इन्द्रिय से जनित विज्ञान के द्वारा विज्ञानान्तर का समुत्पाद विस्पष्ट देखा जाता है।[2] अतः देह से विज्ञान का आश्रय नहीं मानते, तब देह के न रहने पर विज्ञान पर विज्ञान का अवस्थान स्वतन्त्र (निराधार) होना चाहिए।

देह के निवृत्त हो जाने पर चित्त का अवस्थान रहता है, वही विज्ञान का आश्रय होगा। चित्त ही विज्ञान है, अतः केवल विज्ञान का अवस्थान अभीष्ट ही है। किन्तु जब भावी देहान्तर की उत्पत्ति का ऐहिक देह में संचित कर्मराशि विद्यमान है, तब विज्ञान निराधार क्यों रहेगा? अर्थात् भावी जन्म में चित्त-सन्तान की स्थिति के कारणभूत शरीर को उपादान गर्भगत कललि, बुद्बुदादि अवस्थाएँ मानी जाती हैं। वे देहोत्पादन के उन्मुख होकर जिस देह का उत्पादन करती हैं, वही विज्ञान-सन्तान की स्थिति कारण हो जाता है। पूर्वतन चित्त (विज्ञान) जिसका नामान्तर कर्म है, सहकारी कारण माना जाता है। वह वस्तुतः देह की तृष्णा (आसक्ति या उपादान) का अङ्ग होती है। वह जब अंग नहीं बन पाता, तब केवल चित्त का अवस्थान माना ही जाता है। देहान्तर की उत्पत्ति में ऐहिक पंचायतन (चक्षुरादि पाँच इन्द्रिगण) कारण है। वही आरूप्य धातु (लोक) से सत्वों की देहोत्पत्ति का कारण माना जाता है। देहान्तर की उत्पत्ति में ऐहिक पंचायतन कारण है। वही संस्कारक होने के कारण आरूप्य लोक से च्युत होने वाले जीवों की देहोत्पत्ति का कारण माना जाता है। ऐहिक पंचायतन में देहोत्पत्ति की अंगता उपलब्ध भी होती है, क्योंकि मरने के पश्चात् पंचायतन न रहने के कारण देहोत्पत्ति नहीं देखी जाती। आरोप्य लोक में तो पंचायतन का अत्यन्ताभाव है। फलतः "शरीरान्तर-सम्बन्धीन्द्रियादिप्रतिसन्धातृ न भवति, इन्द्रियत्वात्"—यह शेषवत् अनुमान अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। अर्थात् यद्यपि जन्मांतरीय देह ही उत्पत्ति के लिए ऐहिक पंचायतन में अंगता उपलब्ध नहीं होती, तथापि कर्म में चित्त-सन्तान की हेतुता के अभाव का निश्चय उसकी अनुपलब्धि मात्र से नहीं हो सकता, अतः अनुपलम्भनमात्र से उसके अभाव का निश्चय-यह पहले ही कहा जा चुका है फिर विवाद किस बात का?

यहाँ केवल अनुपलम्भ ही प्रस्तुत नहीं किया जाता, अपितु व्याप्तिपूर्वक अनुमान का उपन्यास किया जाता है—"यद् इन्द्रियम्, तद् इन्द्रियान्तरं न प्रतिसन्धत्ते। यथा

1. वा०ल० 582
2. वही, 583

देवदत्तचक्षुरादिकं न यज्ञदत्तचक्षुरादिकम्, इन्द्रियं चेह" अन्यशरीरसम्बद्धम्।'' अर्थात् पूर्व जन्म में इन्द्रियों का जिस शरीर से सम्बन्ध था, इस जन्म में उसी शरीर से सम्बन्ध न होकर अन्य शरीर के साथ सम्बन्ध है, अतः इन्द्रियाँ अपनी पूर्वतन अनुभूतियों का प्रतिसन्धान (स्मरण) नहीं कर सकतीं।

शेषवत् अनुमान के बल पर ही यह कहा जाता है, किन्तु शेषवत् अनुमान से यथार्थावगति नहीं होती, क्योंकि जन्मान्तर में ऐन्द्रियक प्रतिसन्धान का अभाव केवल अदर्शनमात्र से अवगमित होता है, अदर्शनमात्र से विपक्ष-व्यावृत्ति का निश्चय नहीं होता। यदि ऐहिक शरीर भावी इन्द्रिय के द्वारा प्रतिसन्धान देखकर जन्मान्तर में भी प्रतिसन्धान का अनुमान कर लिया जाता है, तब सिद्ध-साध्यता की प्रसक्ति होती है, क्योंकि एक ही शरीर के पूर्वापरकालिक इन्द्रिय वैसे ही हैं, जैसे एक ही नदी के दो (पार और अवार) तट। यदि एक शरीर-सम्बन्धी इन्द्रियों की व्यावृत्ति के लिए भिन्न शुक्र और शोणित से जनित इन्द्रियों का ग्रहण किया जाता है, तो वह भी उचित न होगा क्योंकि वहाँ भी विपक्ष का अभाव अनुपलम्भमात्र से निश्चित नहीं हो सकता। शुक्रशोणितान्तर-जन्यत्व विशेषण दे देने मात्र से वैसे ही त्राण दोषोद्धार नहीं होता। पूर्वतन घटविषयक अनुभूति से उत्तरत्र घटविषयक स्मरण नहीं होता—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि किसी व्यक्ति को विशेषण बना देने पर पक्ष में ही व्याप्ति का निश्चय नहीं हो जाता, दृष्टान्त या समक्षपरम् आवश्यक है। अन्यथा शब्दादि व्यवहार प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि शब्दों का शक्ति-ग्रह व्यवहार का कारण है। सामान्य विषयक व्यवहार से शब्दों में व्यक्तिपरता का निश्चय नहीं हो सकता। फलतः चक्षुरादि इन्द्रियों में चपलता (हाव-भाव-कटाक्षादि) अभ्यास-साध्य हैं। वह अभ्यास यदि इस जन्म में नहीं हुआ, तब जन्मान्तरीय अभ्यास का अनुमान किया जाता है। जन्म के आरम्भ में चापलादि-विशिष्ट चक्षु उपलब्ध नहीं होता, अतः चापलादि-युक्त पूर्वतन चक्षुरादि से उत्तरत्र वैसी ही इन्द्रिय की उत्पत्ति सिद्ध होती है।

यदि पूवर्जन्म को इन्द्रियाँ ही इस जन्म में मानी जाती हैं, तब यद्यपि उनमें जन्यजनकभाव सिद्ध नहीं होता। तथापि इन्द्रियगत चापलादि में अभ्यासपूर्वकत्व देखकर जन्मादिकालिक इन्द्रियों में अभ्यासपूर्वक चापलादि सिद्ध हो जाता है तद्वत् एकत्वानेकत्वादि की अवधारणा व्यर्थ है।[1] दोनों जन्मों की इन्द्रियों में एकत्व नहीं—ऐसा सिद्ध करना कोई प्रकृतोपयोगी भी नहीं, क्योंकि यहाँ इन्द्रियगत चापलत्वादिजातीय कार्य के दर्शन से उसके कारण का अनुमानमात्र किया जाता है। स्वप्नावस्था में अभ्यास-साध्य गुणों का चमत्कार प्रतिदिन देखा जाता है—यह पहले कहा जा चुका है।

दूसरी बात यह भी है कि नींबू देखते ही रसास्वादी व्यक्ति के मुँह में पानी आता देखकर पूर्व-पूर्व जन्म सिद्ध होता है, अतः पूर्व-पूर्व इन्द्रियाँ उत्तरोत्तर इन्द्रियों को जन्म

1. वा०ल० 584

देती हैं। फलतः पृथिव्यादि के समान ही इन्द्रियों में भी अनेकता और कार्य कारण-परम्परा सिद्ध होती है।

यदि पूर्वोत्तर इन्द्रियों की एकसन्तान-प्रज्ञप्ति मानी जाती है, तब भी अनेकव्यक्तिता से कोई विशेष भेद नहीं सिद्ध होता। पूर्वोत्तर जन्मों में सुप्त-प्रबुद्ध-न्याय का पूर्ण साम्राज्य परिलक्षित होता है। हाँ, अनन्त स्मृतियों का व्यवधान पूर्वोत्तर जन्मों की दूरी अवश्य बढ़ा देता है।

इन्द्रिय से ही इन्द्रियान्तर की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु पहले पहल शरीर से इन्द्रियों की उत्पत्ति और पश्चात् इन्द्रिय में ही इन्द्रियान्तर की उत्पत्ति-शक्ति नियन्त्रित क्यों न मानी जाय?

यदि इन्द्रियों की प्रथम उत्पत्ति मानी जाती है, तब प्रश्न उठता है कि सेन्द्रिय शरीर से या अनिन्द्रिय शरीर से? सेन्द्रिय शरीर को कारण मानने पर इन्द्रिय को भी इन्द्रियान्तर का कारण मानना होगा, फलतः परलोक (पूर्णजन्म) की सिद्धि हो जाती है। अनिन्द्रिय (इन्द्रिय-रहित) शरीर से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानने पर केशनखाग्रादि एवं मृत देह से इन्द्रियों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? केशादि अनेक हैं, अतः उनसे अनेक इन्द्रियों की उत्पत्ति भी प्रसक्त होती है, फिर तो इन्द्रियों की अपरिमित संख्या हो जायगी। एवं देह की सामर्थ्य इन्द्रिय-माला की उत्पत्ति से विरत क्यों-कर होगी? यदि देह का परिणाम-विशेष ही इन्द्रियाँ हैं, तब इन्द्रियों का पूर्व चर्चित अनाशप्रसङ्ग उपस्थित होता है। यदि चित्ताभाव के कारण मृत शरीर से इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, तब चित्त से इन्द्रियों की उत्पत्ति माननी होगी। अतएव जन्मान्तरवादियों का कहना है कि चित्त से ही उत्तर चित्त और शरीर का जन्म होता है। अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति में पूर्व इन्द्रियों से मानने की क्या आवश्यकता? निष्कर्ष यह कि शरीर विज्ञान (चित्त) का हेतु नहीं, न पूर्व संस्कार-स्मरणादि का अभाव और न प्रतिसन्धि (गर्भावक्रान्ति) की अनुपपत्ति।

यह एक तथ्य है कि जन्मान्तर का हेतु तृष्णा और कर्म से संस्कृत चित्त शरीर के अभाव से उसका अभाव नहीं होता। यदि शरीर जन्मान्तर का हेतु होता, तब उसका अभाव होने से प्रतिसन्धि (गर्भावक्रान्ति) नहीं हो सकती थी किन्तु ऐसा नहीं, अतः हेतु का वैकल्य या असिद्धि नहीं। चित्तरूप हेतु से ही चित्त-सन्तति प्रवाहित हो जाती है। उसके अभाव में चित्तोत्पाद का व्यतिरेक देखा जाता है।

यह जो कहा गया कि इहलोक का चित्त भिन्न देह में अवस्थित है, अतः भिन्न देह में स्थित पूर्वजन्म के अन्तिम चित्तक्षण से प्रतिसंहित क्योंकर होगा।

यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि (यद्यपि देवदत्त के शरीर में विद्यमान चित्त के प्रतिसन्धान यज्ञदत्त-शरीरस्थ चित्त से सम्भव नहीं, तथापि एक ही शरीर सन्तति की बाल्यादि अवस्थाओं के चित्तक्षणों का प्रतिसन्धान उसी सन्तति के विभिन्न देह-सन्तति के भिन्न देहक्षणों में अवस्थित चित्तक्षणों से होता है अर्थात् पूर्वजन्म के अन्तिम देह से अतिवाहिक देह और उससे इस जन्म के शरीर से सन्तानैकता बनी रहती है, फलतः

पूर्वोत्तर चित्तक्षणों की अबाधित सन्तति प्रवाहित रहती है। पहले यह कहा जा चुका है कि विज्ञान या चित्त के आश्रयीभूत शरीर के न रहने पर चित्त अनाश्रित रहता है और देहान्तररूप आलम्बन के सुलभ होते ही चित्त-सन्तति उसको अपना आश्रय बना लेती है।[1]

यदि पूर्वजन्म का विज्ञानक्षण अन्य शरीर में स्थित होने के कारण इस जन्म के चित्तक्षण का जनक नहीं, तब विज्ञान और शरीर का आश्रयाश्रयिभाव निषिद्ध हो जाता है और विज्ञान या चित्त को अदेशस्थ (अनाश्रित या स्वतन्त्र) मानना होगा। अथवा आन्तर-स्पर्शादि विशेषरूपेण सुखादि विज्ञान के द्वारा आलम्बनीय है। आलम्बन स्वकीय शरीर है। वह परकीय शरीरालम्बनक विज्ञान को जन्म देता है, अतः "परशरीरस्थं चित्तं परशरीरस्थं चित्तं न जनयति, अन्य शरीरस्थात्"—इस अनुमान का हेतु अनैकान्तिक है। एक सन्तान दो देहों का भेद नहीं होता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एक जन्म के बाल्य और स्थविर शरीरों का भी भेद होता है। फलतः एक सन्तान तो केवल उपकारक होता है, मन (चित्त) की उत्पत्ति वैसे ही चित्त से ही होती है, जैसे व्रीहि से व्रीहि-सन्तान। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि चित्त-सन्तान अनादि और अनन्त है। जीवों के जन्म-मरण का प्रवाह अविरल है। अभ्यास (पुनः पुनः किसी गुण या क्रिया के अवलम्बन) से करुणादि का चरम प्रकर्ष एवं सर्वज्ञतादि की प्राप्ति सम्भव है।

'ताय' पदार्थ की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने चार आर्यसत्य के प्रकाशन को भी 'ताय' पदार्थ माना है और उसके द्वारा बुद्ध को 'तायी' कहा है। यद्यपि वेदान्त में शून्यता का प्रकाश किया गया है—तथापि आत्मा का सद्भाव सिद्ध होने के कारण नैरात्म्यदर्शन प्रमाणित नहीं होता। दुःख-समुदय, दुःख निरोध और उसका मार्ग—इसका उपदेश भी कतिपय आचार्यों के उद्वेग का कारण माना जाता है। किन्तु वह उचित नहीं।

समस्त रूपादिस्कन्ध दुःख रूप हैं। इस पर कोई लोकासक्त प्राणी आपत्ति कर सकता है कि राग भी दुःख की कक्षा में न आकर सुख का हेतु माना जा सकता है। क्योंकि उसके आधार पर "वराङ्गलालिङ्न" जैसा सुख अनुभूत होता है। द्वेष भी शत्रु वध का कारण होने के कारण सुखरूप है। शरीर-इन्द्रिय आदि में सुख-साधनता लोकप्रसिद्ध है। क्षुधादि भी तृप्तिरूप सुख के हेतु माने जाते हैं। फलतः दुःख नाम की वस्तु लोक में कोई भी सिद्ध ही नहीं होती।

जन्म-मरण प्रवाह जिस राग की देन है उसे सुखरूप मानना बहुत बड़ी भूल है। रूपादि पंचस्कन्धों में अन्यथा दर्शन समस्त दुःखों का कारण माना जाता है।[2] रागादि अभ्यास से उत्पन्न होते हैं स्वतः नहीं, अभ्यास के साथ उनका भावाभाव अवधारित

1. वा०ल० 585
2. वही, 635

है।[1] यदि रागादिहेतु यदृच्छा से उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें नित्य या सुखादिरूप माना जा सकता था किन्तु अभ्यास-पाटव के आधार पर उनकी उत्पत्ति मानी जाती है। अत: अभूत परिकल्पना मात्र पर आधृत रागादि सुख के हेतु कैसे हो सकते हैं। चित्त-अभिरतिजनित जो सुख रागादिरूप मिथ्या पदार्थों पर टिका हुआ है वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता इससे रागादि का उदय होना ही अनन्त जन्मों से जिस रागादि के आधार पर यह दु:ख समुदय आया है उससे आहत प्राणी के व्रण उसे सुख की नींद नहीं आने देता। तब रागादि सुखबुद्धि कैसे कर सकता है। वह बुद्धि तत्त्वाभिरत मानी जा सकती है जो विकारी न हो, अतत्त्वनिष्ठ न हो, किन्तु औपचारिक आध्यासित या आरोपित बुद्धि सदैव दु:ख का निदान मानी जाती है।[2]

यही निकलता है कि संसार में जो कुछ भी सुख प्रतीत होता है वह वस्तुत: दु:ख ही है—जैसे रागादि दु:खों में सुख की हेतुता अवभासित होती है उस सुख हेतुता को शास्त्रों में दु:ख-हेतुता सिद्ध की गई है।[3] जैसे क्षुधादि दु:ख तृप्तिरूप सुख का हेतु माना जाता है, वैसे ही सुख भी अपनी व्यपगम अवस्था में अत्यन्त दु:ख हो जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि संसारी स्कन्ध अपने पूर्वपूर्ण संस्कारों पर आधृत दु:खमय माने जाते हैं।

रागादि की उत्पत्ति अभ्यास से नहीं होती, अपितु यथाकथंचित् या किसी अन्य हेतु से मानी जाती है। रागादि धर्मों से पारमार्थिक सुखादि उत्पन्न होते हैं, अत: सांसारिक रूपादि स्कन्धों को दु:खरूप नहीं माना जा सकता। अथवा जैसे सुखादि अभ्यास से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही दु:खादि भी, किन्तु वे पारमार्थिक नहीं होते हैं। इस प्रकार सांसारिक स्कन्ध सुखस्वरूप ही सिद्ध होते हैं।

उक्त शंका न्याय-सम्मत नहीं, क्योंकि अहेतुक पदार्थ की उत्पत्ति वैसे ही नहीं हो सकती, जैसे आकाश की। अन्य हेतु (रागादि) से उत्पन्न होने वाले सुखादि अभ्यास—पटाव के क्योंकर होंगे? दु:ख का अभ्यास कोई नहीं करता, तब दु:ख आभ्यासिक (अभ्यास-जन्य) क्योंकर होगा? अभ्यास के आधार पर सुख उपचित्त होता है, अभ्यास के अभाव में दु:ख होता है। दु:ख का अभ्यास कहीं नहीं होता।[4] ''मुझे दु:ख हो—ऐसा कोई अभ्यास नहीं करता, प्रत्युत सकल प्राणी सुख की कामना से सर्वत्र प्रवृत्त होते हैं। फलत: सुख प्रयत्न-साध्य होता है और दु:ख स्वभावत: अयत्न-साध्य है, यत्न साध्य नहीं। यदि सुखाभ्यास से दु:ख की उत्पत्ति मानी जाती है, तब उससे सुख की निवृत्ति भी माननी होगी। परमार्थत: दु:ख भी है ही नहीं। केवल उल्लास-भावना से उसकी

1. वा०ल० 636
2. वही, 640
3. वही, 639
4. वही, 631

प्रतीति होती है। उल्लास-भावना के अभाव में अदु:ख या सुख बुद्धि होती है परमार्थत: सुख और दु:ख कुछ भी नहीं। भावना कल्पित सुख दु:ख का हेतु ही है। भावना के न होने पर दु:ख भी नहीं होता। जिस व्यक्ति का अपने पुत्र पर स्नेह है, उसको पुत्र के मरने पर दु:ख होता है। एवं पुत्र के उत्पन्न होने पर सुख होता है। सुख जो उत्पन्न होता है, वह भी अपने वियोग में दु:ख ही देता है। इस प्रकार सुखस्वरूप माने जाने वाले सांसारिक स्कन्ध वस्तुत: दु:खरूप ही होते हैं।[1] पहले दु:ख की वृद्धि करके उसका नाश करने से अच्छा है कि उसकी वृद्धि ही न की जाय, जैसे कि कहावत है—"प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दुरादस्पर्शनं वरम्"।[2] यदि दु:ख से अतिरिक्त सुख नहीं, तब नरकादि का परिहार क्यों किया जाता है?[3] नारकीय दु:ख से भी सुख का उदय क्यों नहीं होता? क्योंकि महान् दु:ख से सुख भिन्न नहीं।[4]

अथवा 'दु:ख' शब्द से यहाँ संस्कार-दु:खता विवक्षित है। (दु:खों का वर्गीकरण करते हुए महर्षि पतंजलि ने कहा है।"—परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरेधाच्च दु:खमेव सर्व विवेकिन: (यो० सू० 2. 15)। संस्कार दो प्रकार के होते हैं—(1) स्मृति-जनक संस्कार और (2) कर्मजन्य धर्माधर्मरूप संस्कार। दोनों प्रकार के संस्कार जीव को जन्म-जरा-मृत्युरूप दु:ख प्रवाह में प्रवाहित करते हैं, यह संस्कार-दु:खता है। इससे विपरीत प्रतीत होने वाला आत्मादिरूप सुख भी अभ्यास-जनित होता है। वह परमार्थ नहीं सुख-दु:खमूलक रागादि भी अभ्यास से जनित होते हैं। उनका कोई हेतु नहीं, अहेतुक पदार्थ का जन्म नहीं होता—यह कहा जा चुका है।

आत्मा की सत्ता मान लेने पर ही उसका बन्धन और मोक्ष बन सकते हैं, क्योंकि मोक्षलाभ से ही आत्मा को विशेष परितोष होता है किन्तु आत्मा के अभाव में परितोष किसको होगा? फिर भी यदि परितुष्टि होती है, तब वह भ्रममात्र होगी, मोक्ष नहीं।

यदि आत्मा नित्य तथा व्यापक है, तब अन्वय-व्यतिरेक का अभाव हो जाने से आत्मा स्वयं अपने दु:ख का उत्पाद नहीं कर सकता जैसे आकाश। यदि आत्मा स्वतन्त्र और कार्योत्पादन में समर्थ है, तब भी वह अपने दु:ख के उत्पाद का हेतु क्योंकर बनेगा? किसी भी प्रेक्षावान् (बुद्धिमान्) व्यक्ति की अपना वध करने में प्रवृत्ति युक्ति-युक्त नहीं कही जा सकती। यदि वह व्यक्ति मूढ़ है, तब अपना उसको ज्ञान ही नहीं, वह अपने में दु:ख हेतुता क्यों मानेगा? यदि उस मूढ़ व्यक्ति का बन्धन-हेतुता स्वभाव ही है, तब स्वभाव का अन्यथाभाव कभी नहीं हो सकता, उसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती। यदि वह व्यक्ति अपने को मानता है, तब उसके लिए कभी दु:ख की उत्पत्ति नहीं कर

1. वा० ल० 642
2. वही, 243
3. वही, 644
4. वही, 645

सकता। लोक में कोई भी नित्य पदार्थ ऐसा नहीं देखा जाता जो दु:खोत्पाद का हेतु हो। यदि वह दु:खस्वभाव ही है, तब दु:ख को दु:ख देना युक्ति-संगत नहीं। दु:खस्वभाव का कभी अन्यथाभाव नहीं हो सकता यह कहा जा चुका है, फिर मोक्ष लाभ कैसे होगा? अन्यस्वभाव होने पर न वह नित्य होगा और न आत्मा यदि दु:खी और सुखी आत्मा व्यतिरिक्त है, तब आत्मा न दु:खी होगी न सुखी, क्योंकि अन्य के सुख से अन्य सुखी नहीं हो सकता। यदि आत्मा में दु:ख का समवाय सम्बन्ध माना जाता है, तब समवाय के विषय में भी वहाँ अन्यत्व और अनन्यत्व का विकल्प किया जा सकता है। फलत: पूर्वोक्त दोष से छुटकारा नहीं मिलता। सुखासुखादि-स्वभाव मानने पर अपरापर स्वभाव की प्रसक्ति हो जाने से अनित्यतादोष आ जाता है। यदि कहा जाय कि आत्मा वस्तुत: निर्विकार है, उसमें सुरिवत्वादि की प्रतीति भ्रान्तिमात्र है तो वैसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रान्ति यदि आत्मा से व्यतिरिक्त है, तब आत्मा का भान न होने से वह आत्मभ्रान्ति नहीं कही जा सकती और यदि वर्द्धन आत्मस्वरूप ही है, तब वह भ्रान्ति नहीं कही जा सकती।[1]

मोक्ष अवस्था में सुखीत्व धर्म आत्मा में है अथवा नहीं यदि है तब मोक्ष की प्रणीतता (विशुद्धता) बनी रहती। एवं आत्मा और आत्मगत सुख-दु:ख मोह वहाँ भी बना रहता है। सुख और रागादि की निवृत्ति न होने के कारण उस अवस्था को मोक्ष नहीं कह सकते।[2]

मोक्ष के अधिकरण में बन्ध का रहने का क्या प्रयोजन यदि कहा जाय "पूर्व-ममासीद् बन्ध:" इस व्यवहार की उपपत्ति करने के लिए बन्धमोक्ष की एकाधिकरणता मानी जाती है तब प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के व्यवहार का क्या प्रयोजन, बन्ध मोक्ष की एकाधिकरणता का निश्चय हो जाने पर अपेक्षा पूर्वकारी पुरुष मोक्षसाधन में प्रवृत्त हो जाता है। क्षणभङ् प्रक्रिया में सन्तारणगत एकत्व ही माना जाता है। पूर्वोक्त प्रयोग परोपकारसाधन के लिए यदि माना जाता है तब स्वकीय मोक्ष की प्रणीतता बन जाने पर भी दूसरे के लिए विपर्यय प्रसक्त होता है।

मोक्ष क्षण के अनन्तर परितुष्टि का क्षण जिसमें माना जाता है उसमें मोक्षतत्व सर्वथा भ्रान्ति से रहित होने के कारण प्रणीत माना जाता है। बन्धक-क्षण और परितुष्टिक्षण यदि भिन्न है तब बन्ध और मोक्ष की एकाधिकरणता नहीं रहती। फिर भी क्षणवृत्तिक एकाधिकरणता का निवारण नहीं किया जा सकता।

आत्मा को नित्य भी मान सकते हैं क्योंकि इस विषय में पहले दोष दिखाया जा चुका है। अनित्य मानने पर प्रेक्षापूर्वकारिता सम्भव नहीं रहती। अत: नित्यत्व अनित्यत्व से अनिर्वाच्य आत्मा को मानना होगा।

---

1. वा० ल० 750
2. वही, 751

यदि आत्मा अनित्यत्वेन वाच्य नहीं तब अनित्यत्व में हेतुता नहीं आती हेतुत्व अनित्यत्व धर्म से व्याप्त होता है यह पहले कहा जा चुका है। अतः अनित्यत्व रूप व्यापक की निवृत्ति से हेतुत्वरूप व्याप्य की निवृत्ति अवश्यम्भाविनी है।

जो वादी आत्मा में नित्यत्व भी नहीं मानता उसके मत में अत्यन्ताभाव प्रसक्त होता है। बन्ध और मोक्ष की समानाधिकरणता की उपपत्ति के लिए यदि अनित्यता मानी जाती है, तब हेतुत्व धर्म का निर्वाह करने के लिए नित्यता नहीं मान सकते, किन्तु वह युक्त नहीं। क्योंकि नित्यत्व और अनित्यत्व धर्मों से रहित कोई स्वभाव उपलब्ध नहीं होता। अन्वयय—व्यतिरेक के आधार पर सभी स्वभावों की उपलब्धि होती है।[1]

यदि प्रत्येक रूप नहीं बन सकता तब उभयरूपता मान लेनी चाहिए। ऐसा कहना भी सम्भव नहीं क्योंकि किसी वस्तु के लिए नश्वर और नित्य कहना अत्यन्त विरुद्ध है क्योंकि जिसका नाश नहीं होता वही नित्य कहा जाता है, और अनित्य पदार्थ को विनाशी माना जाता है। नाश शब्द का अर्थ होता है अभाव या अनुपलब्धि और अनाश शब्द का अर्थ होता है नित्यता। अतः नित्य अनित्य और एकत्व का अर्थ होता है उपलभ्य अनुपलभ्य की एकता। किन्तु उपलभ्यानुपलभ्य की एकता सम्भव नहीं। एकत्वेन जिसकी प्रतीति होती है वही एक कहलाता है, प्रतीत भी हो और अप्रतीत भी ऐसा मानना अतिसाहस है।[2]

यदि नित्य और अनित्य को एक माना जाता है तब प्रतिपन्न और अप्रतिपन्न एक मानना होगा जो कि अत्यन्त असम्बद्ध है। क्योंकि जो वस्तु एकत्वेन प्रतिपन्न है वह अन्यथा कभी प्रतिपन्न नहीं हो सकता।

उनमें यदि एक अप्रतीति है, तब दूसरे धर्म की भी अप्रतीति माननी होगी जिसकी एकत्वेन अप्रतीति है, उसकी प्रतीति न तो नष्ट होती है और न उत्पन्न। यदि अन्य की प्रतीति ही अप्रतीति है, तब अन्य प्रतीतिरूप प्रतीति नहीं, अतः अन्यरूप प्रतीति ही उसकी अप्रतीति है। इस प्रकार तो यही सिद्ध होता है कि वस्तु अन्यरूप है, अतएव उसका अभाव है। वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जो व्यक्ति जिस पदार्थ की अन्यता (भेद) को जानता है वह उसकी अनन्यता (अभेद) क्योंकर कहेगा? जिस पदार्थ से जिसकी अन्यता नहीं, अतएव उसका अनित्यत्व सिद्ध नहीं होती है।[3] अनित्यत्व होने पर उसकी उपलब्धि नहीं होगी, न कि उपलब्ध होने पर अनित्यता। अनृत्यता होने पर उपलब्धि और उपलब्ध होने पर नित्यता सिद्ध होती है।[4] यदि उसकी किसी भी रूप में उपलब्धि नहीं होती, तब जिस रूप में जिसकी उपलब्धि नहीं, वही उसका रूप है।

---

1. वा० ल० 757
2. वही, 758
3. वही, 759
4. वही, 760

यह कैसे होगा?[1] यदि पूर्वत्वेन जिसकी प्रतीति होती है, वह पूर्व ही होगा। इदानींतन रूप से उसका एकता क्योंकर होगी।[2] पूर्वापर रूपों से भी अविमुक्त है, वह एक होगा। जिसका पूर्वापर रूपों से वियोग है, उसका वियोग क्यों नहीं?[3] जिसका क्रम से अवियोग है उसका क्रम से ही वियोग भी होगा। अतएव वियोगावियोग के द्वारा उभयत्मत्व माना जाता है।[4] जिसका सत्व अक्रमिक है, उसकी दृष्टि भी वैसी ही होगी। अक्रमिक सत्व का योग कभी क्रमभावी नहीं होता।[5] एक ही पदार्थ में युगपत् दृष्टता और अदृष्टता नहीं बनती। एककाल में दृष्टता और अदृष्टता नितान्त दुर्घट है।[6] एक ही काल विरोधी भावों का सामंजस्य नहीं हो सकता। एक ही पदार्थ में युगयत् काल:भेद क्योंकर रहेगा।[7] एक ही वस्तु को पुन:-पुन: प्रतीति होने पर गृहीत पदार्थ का ही ग्रहण होगा। जो ग्राह्य गृहीत है, उसका ही स्मरण होता है।[8] स्मरण ज्ञान प्रमाण नहीं कहलाता, अत: क्रमिक ग्रहण नहीं हो सकता। अप्रतीति की प्रतीति हो प्रत्यक्ष कहलाती है।[9] वस्तु का तदानींतन (अतीतकालीन) अस्तित्व पूर्वतन बुद्धि का यदि विषय नहीं तब यह वस्तु पहले थी, यह नहीं—इस प्रकार की भेदप्रभा क्योंकर सिद्ध होगी।[10] दर्शन की अतीतता न होकर सदा वर्तमानता ही यदि बनी रहती है, तब उस वस्तु का पूर्वापरी भाव कैसे जाना जायेगा?[11] पूर्व प्रत्यय (वस्तु का ज्ञान) और पश्चात् प्रत्यय (पूर्व ज्ञान का स्वसंवेदन ज्ञान) इन दोनों ज्ञानों में भेद-ज्ञान नहीं तब द्वित्व-ज्ञान कैसे होगा?[12] यदि एक ही संवेदन पर और पूर्वरूप में अवस्थित माना जाता है, तब अविद्यमान पूर्वरूप की उससे अवगति क्योंकर होगी?[13] एक ही साक्षात्कारी ज्ञान में पररूपत्व और पूर्वरूपत्व क्योंकर बनेगा? साक्षात्कारी ज्ञान वर्तमान-विषयक होने के कारण वर्तमान ही कहा जायेगा, उसमें न तो पूर्वता बन सकती है और न भाविता (भविष्यत्ता)[14] यदि उसमें पूर्वता नहीं, तब वह पूर्वता का गमक क्योंकर होगा? परिशेषत: यही कहना होगा कि पूर्वता का साक्षात्कार

---

1. वा० ल० 761
2. वही, 762
3. वही, 763
4. वही, 764
5. वही, 766
6. वही, 767
7. वही, 768
8. वही, 769
9. वही, 770
10. वही, 771
11. वही, 772
12. वही, 773
13. वही, 774
14. वही, 775

नहीं, अपितु स्मरण है और स्मरण को साक्षात्कारात्मक गति नहीं माना जाता।[1] जब कि तत्पदार्थ का ग्रहण ही नहीं हुआ, तब तत्येदं स्मरणम् ऐसा कहना क्योंकर होगा?[2] पूर्वात्तर का कार्य-कारणभाव होने के कारण वर्तमान से पूर्व का ग्रहण हो जायेगा—ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि पदार्थ की साक्षात्करणता का नाम ग्राह्यता है, वह पूर्वोत्तर भी क्योंकर होगी, साक्षात्करणता वर्तमान की हो सकती है, पूर्वोत्तर भी क्योंकर होगी, साक्षात्करणता वर्तमान की पूर्वोत्तर की नहीं होगी।[3] स्मरण के द्वारा पूर्वत्व सिद्ध नहीं होता, अतीत का साक्षात्करण पूर्वता माना जाता है।[4] भावी साक्षात्कार में भावित्व व्यवि ग़त होता है। उत्पाद और नाश की अवस्था में जो ध्रुव रहे, उसे सत् कहते हैं।[5] जिन पदार्थों का सत्व नहीं, उनको सत् क्योंकर कहेंगे? जब पदार्थों का व्यय (नाश) हो जाता है, तब उन्हें सत् नहीं कहा जा सकता।[6] पूर्व प्रतीत अर्थ में जब सत्व धर्म है, तब व्यय कैसे होगा?[7] प्रतीति ही तो पदार्थों की सत्ता है, अतः नित्यानित्य वस्तु का सम्भव कहीं भी नहीं।[8]

तृष्णा की निवृत्ति के बिना कर्म और देह का अभाव नहीं हो सकता। दीक्षा का विषय कहा जा चुका है। यह जो आगम-वाक्य उद्धृत किया गया था। 'कर्मक्षयान्मोक्ष', वह प्रमाण नहीं। तृष्णा-युक्त व्यक्ति कर्म नहीं करता। ऐसा नहीं, अपितु कर्म-प्रवर्तक राग-द्वेषादि तृष्णा से अनायास ही उत्पन्न हो जाते हैं, उनसे कर्म होता है। तृष्णा और कर्म—इन दोनों के क्षय से केवल तृष्णा की निवृत्ति ही आवश्यक और पर्याप्त है। कर्म भी क्षपयितव्य है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसका प्रतिपक्ष सम्भव नहीं। अर्थात् अनेक फल-प्रदान-सामर्थ्यवाले कर्म का केवल एक फल प्रदान से कर्म का परिक्षय होगा? एकाकार फल तो तापसंक्लेशात्मक फल है, उससे परिक्षय उचित नहीं, जिस कर्म के द्वारा तज्जातीय अनेक फलों का उत्पादन अभीष्ट है। इस कर्म का केवल एक के अनुभव से सभी फलों का नाश क्योंकर होगा? यदि तप की शक्ति है, तब कर्म-प्रचय के एक रोम के उत्पादन से समस्त फल निवृत्त हो जाता है—वहाँ भी हमारा कहना है कि क्लेश से भिन्न तप का फल है, तब उसी एक तप से ही कर्म का क्षय हो जाता है, पंचतप आदि क्लेश की कोई आवश्यकता नहीं, उसी से ही अशेष कर्म का परिहाण हो जायेगा। अन्य कर्म के करने से अन्य कर्म का सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता। कलेश को तप

1. वा० ल० 776
2. वही, 777
3. वही, 778
4. वही, 779.
5. वही, 781
6. वही, 782
7. वही, 783
8. वही, 784

नहीं कहा जाता, क्योंकि तप कर्म का फल माना जाता है। कर्म-फल तप नहीं, क्योंकि शीत और आतप के सेवी पशु आदि में भी तापसत्व प्रसक्त होगा। यदि कहा जाय कि यह कर्मफल नहीं, क्योंकि इच्छापूर्वक किया जाता है। कर्म-फल तो इच्छा के विना भी प्राप्त होता है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इच्छा के द्वारा राज्यलाभादि हो सकते हैं, किन्तु कर्मफल नहीं। कर्म के अनुसार बुद्धि होती है और बुद्धि आदि के इच्छादि धर्म होते हैं किन्तु इच्छा के अनुरूप कर्मफल नहीं।[1]

यदि कर्म का फल इच्छा से नहीं होता तब फलोपभोग से कर्म का क्षय कैसे कहा जाता है। इच्छा के आधार पर तो ताप का ही क्षय होगा, राज्यलाभादि का नहीं। यदि निस्पृहता के कारण राज्यलाभादि का त्याग किया जा सकता है तब नरकादि दु:ख विवश होकर अनुभवनीय ही होगा। यदि नरकयातनादि का दु:ख भावना से अपाकरण हो जाता है—केशोलुंचन (जैनाचार्य-सम्मत केशोत्पाटन) से नारकीय दु:ख का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि केशोत्पाटनादि-विधायक आगम प्रमाण नहीं। दु:खात्व हेतु के द्वारा कर्मों का क्षय ऐकान्तिक नहीं, तब आप का कथन भी अनेकान्तिक क्यों न माना जाय।[2]

नि:स्पृह व्यक्ति का जैसे राज्यसुखाभाव बाधक नहीं होता वैसे ही नैरात्म्य भावना के परिपाक से नारकीय दु:ख बाधक नहीं होता।[3] लोक में सभी दु:ख और सुखदु:खादि नहीं।[4]

आप के वैदिक सिद्धान्त में कर्म का क्षय करने के लिए प्रायश्चित्त कर्मों का विधान किया गया है, अत: उत्तर कर्म के द्वारा पूर्वकर्म का नाश क्यों नहीं।

कृतकर्म का नाश कभी नहीं हो सकता जैसा कि वैदिकमतावलम्बियों ने भी माना है कि प्रारब्धकर्म का उपभोग के विना नाश नहीं होता।

तब कर्मों का क्षय क्योंकर होगा? इसका उत्तर है—कर्म दो प्रकार का होता है, एक का फलदान अवश्यम्भावी और दूसरे का ऐसा नहीं। पहला अवश्य ही फल देता है।[5] तपस्वी व्यक्तियों का यह अभियोग नहीं होता कि अवश्यम्भावी फलकर्म उत्पन्न हों, वह तो संचित कर्म के आधार पर बलात् उत्पन्न होता है। यदि तृष्णा की सिद्धि में कर्मों की पुनरुद्‌बुद्धि होती है तब कर्मो के रहने पर तृष्णा का पुनरुदय क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि तृष्णा के रहने पर फलार्थी कर्म करता है तृष्णा के न रहने पर नहीं। नैरात्म्यभावनादि से तृष्णा का विगम हो जाने पर कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती।

---

1. वा० ल० 873
2. वही, 874
3. वही, 875
4. वही, 876
5. वही, 877

यदि शुभ कर्म सुखदादि में समर्थ है तब सुख की अभिलाषा अवश्य होगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि लोक में सुख नाम की कोई वस्तु है ही नहीं सब दुःख ही दुःख है। सुख भावना केवल मिथ्या विकल्प है। उस मिथ्या विकल्प के बिना अभिलाषा कैसे? निष्कर्ष यह है कि सत्काय-दृष्टिरूप अविद्या का परिक्षय हो जाने से ही मोक्ष लाभ होता है अन्यथा नहीं। इस प्रकार चार आर्यसत्यों का प्रकाशन ही 'ताय' कहा गया है।

जैसे धूमादि कार्य हेतु के द्वारा वह्नि का अनुमान होता है, वैसे ही चतुः-सत्योपदेशरूपतायित्व या तायपदार्थ के द्वारा भगवान् बुद्ध में सुगतत्व का अनुमान होता है। **'सुगतत्व'** शब्द का अर्थ है—तत्वज्ञान, स्थिरज्ञान, अशेषविशेषज्ञान। तत्वज्ञान प्रशस्त ज्ञान है। स्थिर ज्ञान का अर्थ अपुनरावृत्ति-ज्ञान, क्योंकि स्थिर पदार्थ की पुनरावृत्ति नहीं होती। अशेष-विशेष-ज्ञान का स्वरूप सर्वाकार-ज्ञान है। 'सुगत' शब्द में 'गम' धातु ज्ञानार्थक है। ऐसा सुगतत्व भागतत्व भगवान् बुद्ध में है। उसका ज्ञान ताय (आर्यसत्योपदेश) के द्वारा होता है। तायित्व का ज्ञान अनुमान से ही होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य पुरुषों में वैसा तायित्व नहीं। तायित्व में अनुमान की विषयता मानने पर भी अन्य मनुष्यों में तायित्व होना चाहिए। अनुमान कहीं प्रवृत्त होता है और कहीं नहीं—ऐसा कोई विभाग नहीं देखा जाता। भगवान् की देशता के विना किसी भी व्यक्ति में सुगतत्व नहीं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सभी पदार्थों का सर्वाकार-दर्शन भगवान् में ही है। सभी पदार्थों के सर्वाकार-दर्शन के विना व्यापक आर्यसत्यों का उपदेश नहीं हो सकता। "सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः"—इस नियम का उसी पदार्थ में व्यभिचार हो जाता है, जो दृष्ट नहीं। जैसे हमको सर्वक्षणिकत्व का ज्ञान है, वैसे ही भगवान् भी होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हमको तो भगवान् के उपदेश से वैसा ज्ञान होता है किन्तु भगवान् को किसी के उपदेश से नहीं, अपितु स्वयं साक्षात्कार हुआ। फलतः जो **साक्षाद्दर्शी**[1] है, जिसने औरों का उपदेश किया, उसी का वैसा निश्चय है, अन्य का नहीं। निश्चय के विना उपदेश कभी नहीं हो सकता।

भ्रान्ति से भी वैसा निश्चय हो सकता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रम सदैव रज्जु-सर्पादि के सदृश पदार्थों में होता है, सादृश्य नित्य या स्थिर पदार्थों में होता है, क्षणिकत्व पक्ष में न साक्ष्य और न भ्रम। क्षणिक पक्ष में संशय भी नहीं हो सकता, क्योंकि "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" ऐसा संशय उभयांशावलम्बी होता है किन्तु क्षणभङ्गवाद में उभय का दर्शन ही नहीं होता। अतः सर्व क्षणिकम्—यह निश्चयात्मक ज्ञान है, निश्चय से ही उपदेश होता है। वैसा निश्चय साक्षात्करण के विना नहीं होता। अनुमान उपदेश के विना सम्भव नहीं। भगवान् ने संशय से ऐसा नहीं कहा है अन्यथा सन्देहों की दो कोटियों का निर्देश होना चाहिए। अतः स्थिर और अशेषविशेष विज्ञान के सम्बन्ध से भगवान् सुगत

---

1. वा० ल० 878

एवं बाह्य, शैक्ष और अशैक्ष। पुरुषों की अपेक्षा अधिक वे ज्ञानसम्पन्न हैं।

भगवान् में सुगतत्व का हेतु क्या? इसके उत्तर में परकीय हितसिद्ध करने के लिए सचेष्टता या शास्त्रीत्व का अनुमान किया जाता है, सुगतत्व अन्यथा सम्भव नहीं दया के विना परार्थ ज्ञान रखना सम्भव नहीं, ज्ञानमात्र के आधार पर भगवान् में प्रामाण्य नहीं माना जाता, अपितु परार्थ-हितैषी पुरुष सदा परार्थ करने में संलग्न रहता है, कभी निर्विण्ण नहीं होता, जैसा कि पहले बहुधा कहा जा चुका है। अत: कथित कारणचतुष्टय के द्वारा प्रमाणता सिद्ध होती है। प्रमाणभूतत्व रूप गुण के द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है। उपदेश के आधार पर प्रमाणतत्त्वों की सिद्धि कथितस्तुति का उद्देश्य है।[1] यही वार्तिककार ने कहा है—"तत: परार्थतन्त्रमित्यादि।"

जगद्धितैशी महापुरुष दया-परवश होकर सदैव परार्थसाधन में ही निरत रहता है। आदि और अन्त एवं उपरि और उपान्त का हेतुफलभाव माना जाता है। जैसा कि स्वयं भगवान् ने कहा है—"नीलज्ञानसमङ्गी पुद्गलो नीलं जनयति" अत: अनुमानमात्र का कथन किया गया है। श्रद्धादि की निवृत्ति की गई है। जैसा कि स्वयं बुद्ध ने कहा है—"शून्या सर्व परप्रवादा:, अहमेव एकोस्मि तत्त्ववादी" अथवा प्रयोग के द्वारा पुरार्थानुमान दूषित किया गया। "यत्किंचिदुदयात्मकं निरोधधर्मकं तत्सर्वमिति।"

साध्य से व्याप्त हेतु गमक होता है। व्याप्ति का प्रदर्शन भगवान् ने कई बार किया है—"यत्किंचित्समुदयधर्मकं तत्सर्व विरोधधर्मकमिति"। अत: अनुमान भी भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। प्रमाणस्वरूप गुण से इस प्रकार यह तथ्य निकलता है कि भगवान् ने साध्य-साधन उभय से युक्त तत्त्व का उपदेश किया है अत: भगवान् से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं है, उन्हीं से समस्त कल्याण की सिद्धि होती है।



1. वा० ल० 879

7

वैदिक एवं बौद्ध दर्शन में मोक्ष

मोक्ष की समस्या बन्धन से सम्बद्ध है। एक का ज्ञान दूसरे के विना अधूरा है। बन्धन और मोक्ष सापेक्ष है, अर्थात् एक के अभाव में दूसरा निरर्थक है। इनकी सार्थकता इनकी सापेक्षता में है। परन्तु इनकी विशेषता है कि ये सापेक्ष होते हुए भी पूर्णत: स्वतन्त्र हैं तथा एक-दूसरे के नितान्त विरोधी भी हैं। अन्धकार और प्रकाश के समान ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। जहाँ अन्धकार रहेगा वहाँ प्रकाश नहीं रह सकता और जहाँ प्रकाश रहेगा वहाँ अन्धकार नहीं। उसी प्रकार जहाँ बन्धन है, वहाँ मोक्ष नहीं तथा जहाँ मोक्ष है वहाँ बन्धन नहीं। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों अवधारणाएँ सापेक्ष हैं, परन्तु स्वतन्त्र। ज्ञान की दृष्टि से ये निरपेक्ष नहीं हो सकते अर्थात् बन्धन को जाने विना हमें मोक्ष की जानकारी नहीं हो सकती। परन्तु सत्ता की दृष्टि से ये स्वतन्त्र हैं। एक की सत्ता दूसरे से नितान्त भिन्न है। जहाँ एक की सत्ता सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ दूसरे की सत्ता सीमा प्रारम्भ होती है। दोनों में ऐकान्तिक विरोध है।

बन्धन और मोक्ष का नितान्त विरोध इनके कारण और कार्य पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है। बन्धन का कारण अज्ञान है तथा फल दु:ख है। मोक्ष का कारण ज्ञान है तथा फल सुख है। ज्ञान के अभाव में हममें विषय भोग के प्रति आसक्ति बढ़ती है, कभी तृप्ति नहीं होती, मृगतृष्णा के समान वासनाएँ कभी शान्त नहीं होती हैं, फलत: हम दु:ख भोगते रहते हैं। परन्तु ज्ञान के प्रकाश में विषयों की क्षणभंगुरता स्पष्ट हो जाती है, भोग योग में परिणत हो जाता है, आसक्ति विरक्ति का रूप ले लेती है, तो दु:ख भी सुख हो जाती है। इतना ही नहीं, दोनों का स्वरूप भी भिन्न है। बन्धन अनित्य तो मोक्ष नित्य है। भारतीय दार्शनिक संसार को दु:खमय तथा निर्वाण को सुखरूप मानते हैं। दोनों में नितान्त विरोध को स्पष्ट करने के लिए ही वैदिक ऋषि प्रार्थना करते हैं।

तमसो मा ज्योतिर्गमय
असतो मा सद्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

अर्थात् अन्धकर से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर हमें ले चलो। अन्धकार, असत् और मरण बन्धन के सूचक हैं; प्रकाश, सत् और

अमरता मोक्ष के सूचक हैं। यही दोनों में एकान्तिक या नितान्त विरोध है। एक का भाव ही दूसरे का अभाव है तथा दूसरे का भाव ही पहले का अभाव है।

मोक्ष क्या है? मोक्ष का शाब्दिक अर्थ त्राण या छुटकारा प्राप्त करना है। व्युत्पत्ति के अनुसार 'मुच्यते अनेन इति मोक्ष:' अर्थात् जिसके द्वारा त्राण की प्राप्ति हो या छुटकारा मिल जाय वही मोक्ष है। त्राण या छुटकारा तो बन्धन से प्राप्त होता है, अत: बन्धन विनाश ही मोक्ष है। पुन: प्रश्न है बन्धन क्या है? उत्तर यह है कि जन्म और मरण के अनवरत चक्र को बन्धन कहते हैं। व्यक्ति जन्म लेता है और मरता है। पुन: मरकर जन्म लेता है। इससे क्षण भर का विश्राम नहीं। जिस प्रकार दिन के उपरान्त रात और रात के उपरान्त दिन का होना चलता रहता है, उसी प्रकार जन्म और मरण का चक्र भी अनवरत चलता रहता है। इस अनवरत चक्र को ही बन्धन कहते हैं, क्योंकि प्राणी इससे बँधा है। जीव के लिए यह एक पाश है। इस पाश का अच्छेद या बन्धन का उन्मूलन ही मोक्ष है। हम जन्म लेते हैं, यह सत्य है परन्तु इतना ही सत्य यह भी है कि हम मरते भी हैं। दूसरे शब्दों में, हम जन्म लेते हैं मरने के लिए और मरते हैं जन्म लेने के लिए। जन्म और मरण दोनों को सुनिश्चित सत्य माना गया है। इसीलिए भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं—

जातस्य ही ध्रुवो मृत्यु: ध्रुवं जन्म मृतस्य च।—गीता, 2

अर्थात् जो ज्ञात है वह मृत होगा ही—जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्य होनी है और जो मृत है वह जात भी अवश्य होगा (जिसकी मृत्यु हो गयी है उसका जन्म लेना अवश्यम्भावी है) जन्म और मरण का यह अनवरत चक्र सदा चलता रहता है। इसी का नाम बन्धन है। जीव इसी पाश में बँधा है। यह बन्धन अनादि है परन्तु सांत है। कब से हम जन्म और मरण के भँवर में घूम रहे हैं, इसका पता नहीं। परन्तु निराश होने की आवश्यकता नहीं। यह सान्त है इसका अन्त ही मोक्ष है, अर्थात् बन्धन का सर्वदा और सर्वथा विनाश ही मोक्ष है। इसे प्राप्त करने पर जीवन की सरिता सदा के लिए सूख जाती है और इसे प्राप्त करने वाला मृत्यु के सागर को सदा के लिए पार कर जाता है। इसीलिए मोक्ष को जन्म मरण का आमूल उच्छेद माना जाता है।

मोक्ष को पुनर्जन्म का पूर्ण विनाश भी कहा गया है। हम जन्म लेकर मरते हैं और मरकर जन्म लेते हैं। इस प्रकार बार-बार जन्म ग्रहण करना ही पुनर्भव या पुनर्जन्म है। जन्म और मरण के बीच कई अवस्थाएँ हैं—शैशव, यौवन, बार्धक्य। जन्म लेकर हम प्रथम शिशु अवस्था को प्राप्त होते हैं, इसके अन्त होते ही यौवन मध्यावस्था को प्राप्त करते हैं और यौवन का अन्त होते ही बार्धक्य की अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस अवस्था के अन्त का नाम मरण है जो पुन: जीवन में परिवर्तित हो जाता है तथा जीवन पुन: मृत्यु में। पुनर्जन्म की व्याख्या करते हुए भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही॥ 2-22

अर्थात् पुराने जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर जिस प्रकार व्यक्ति नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार जीर्ण शरीर को त्यागकर व्यक्ति नये शरीर को धारण करता है। यही बारम्बार मृत्यु के उपरान्त जन्म ग्रहण करना पुनर्जन्म है और पुनर्जन्म का अन्त ही मोक्ष है। यह आत्मा और शरीर का पूर्ण वियोग है। इन दोनों के संयोग से पुनर्जन्म और इनके पूर्ण वियोग का नाम मोक्ष है। इस प्रकार यदि पुनर्जन्म आत्मा का सशरीर होना है तो मोक्ष आत्मा का नि:शरीर होना है। संक्षेप में आत्मा का शरीर सहित होना जन्म है तो आत्मा का शरीर से सम्बन्ध समाप्त हो जाना मोक्ष है। क्या मरण और मोक्ष समान है? नास्तिक शिरोमणि चार्वाक का कहना है कि मृत्यु ही मोक्ष है—मरणमेवाप वर्गः। परन्तु यह उचित नहीं। मृत्यु के समय आत्मा का शरीर से वियोग तो अवश्य हो जाता है, परन्तु कुछ समय के लिए। पुराने शरीर के द्वारा किये गये कर्मो के अनुसार आत्मा को पुन: शरीरधारी होना पड़ता है। हम कर्म करते हैं, कर्म से संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कारों के अनुसार हम मरकर भी पुन: शरीर धारण कर लेते हैं। अत: मृत्यु के समय शरीर और आत्मा का वियोग किंचित् कालिक है। आत्मा का शरीर से सदा के लिए वियोग तो मोक्ष से ही सम्भव है। इसीलिए कहा गया है कि मोक्ष में आत्मा का शरीर से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है। इस नितान्त वियोग को ही मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष को ही मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग, कैवल्य आदि भी कहते हैं, अर्थात् ये सभी शब्द पर्यायवाची या समानार्थी हैं। सबका तात्पर्य एक ही है—जन्म पुनर्जन्म का सर्वदा तथा सर्वथा विनाश। मोक्ष को भारतीय दर्शन में परम पुरुषार्थ की संज्ञा दी गयी है। अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष सभी पुरुषार्थ है। इनमें से किसी एक की प्राप्ति के लिए विवेकी मानव कोई कार्य करता है। अत: इन्हें सभी कार्यों का प्रयोजन माना गया है, क्योंकि विवेक सम्पन्न व्यक्ति निष्प्रयोजन कोई कार्य नहीं करता। इनमें अर्थ और काम तो लौकिक प्रयोजन है। इन्हें पुरुषार्थ तो भौतिकवादी चार्वाक ही स्वीकार करते हैं। धर्म अलौकिक तथा आध्यात्मिक पुरुषार्थ अवश्य है जिसे (मीमांसा, पूर्व मीमांसा) में पुरुषार्थ माना गया है। धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वर्ग का आनन्द धरती के सुख से अधिक है। परन्तु यह आनन्द भी असीम है, सावधि है। स्वर्ग का आनन्द कुछ समय समाप्त होने पर पुन: धरती पर जन्म-मरण का दु:ख सहना होगा। जन्म-मरण का पूर्ण विनाश तो मोक्ष से ही सम्भव है। अत: यह परम पुरुषार्थ है, प्राप्तव्य की प्राप्ति है, अशेष लाभ है जिसको प्राप्त करने पर कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। यह तो अजर, अमृत और आप्त काम की अवस्था है।

मोक्ष का स्वरूप

भारतीय दर्शन में मोक्ष का स्वरूप अभावात्मक और भावात्मक दोनों माना गया है। अभावात्मक रूप से मोक्ष जन्म-मरण का नितान्त अभाव है। जन्म से लेकर हम नाना प्रकार के दु:खों को भोगते रहते हैं। अत: जन्म पुनर्जन्म के पूर्ण विनाश से दु:खों का भी सर्वथा विनाश हो जाता है। इस दु:ख की विशद विवेचना करते हुए सांख्य दर्शन में कहा

गया है। हमारा सम्पूर्ण सांसारिक जीवन दु:ख से भरा है। हम सर्वदा दु:ख भोगते रहते हैं। दु:ख के तीन प्रकार बतलाये गये हैं।

(क) आध्यात्मिक दु:ख—शारीरिक और मानसिक दु:ख को आध्यात्मिक दु:ख कहते हैं। उदाहरणार्थ—वात, कफ, पित्त आदि शारीरिक दु:ख और काम, क्रोध आदि मानसिक दु:ख हैं।

(ख) आधिभौतिक दु:ख—यह बाह्य कारणों से उत्पन्न दु:ख है, जैसे साँप काटना, युद्ध होना, कृषि नष्ट होना।

(ग) आधिदैविक दु:ख—यह यक्ष, राक्षस क्रूर, ग्रह आदि से उत्पन्न दु:ख है। उदाहरणार्थ—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आँधी, भूचाल,भूत-प्रेत आदि से उत्पन्न दु:ख।

इन सभी प्रकार के दु:खों का सर्वथा विनाश या सार्वकालिक निवृत्ति ही मोक्ष या कैवल्य है। जीवन में दु:ख तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए प्रथम आर्य सत्य में भगवान् बुद्ध का कहना है कि जन्म, जरा, मृत्यु, शोक, विलाप, पीड़ा, चिन्ता करना, व्यग्र होना,इच्छा की पूर्ति न होना, प्रिय वियोग, अप्रिय से संयोग आदि सभी दु:ख है। सच तो यह है कि पंच उपादान से ही सभी दु:ख उत्पन्न होते हैं। जब शरीर धारण करने की क्रिया समाप्त हो जाती है अर्थात् पुनर्जन्म का अन्त हो जाता है तो निर्वाण की प्राप्ति होती है। अत: निर्वाण जन्म-मरण का निरोध है। इसे भवनिरोध, तृष्णा का क्षय आदि माना गया है। यह निर्वाण अजर, अमर और अमृत की अवस्था है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मोक्ष, कैवल्य या निर्वाण अभावात्मक है। परन्तु भारतीय दर्शन में इसे भावात्मक भी स्वीकार किया गया है। इसका भावात्मक रूप वैदिक और अवैदिक दोनों दर्शनों में प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ—वेदों में बार-बार मोक्ष को अमृत तत्त्व की प्राप्ति कहा गया है। अमृत का रस सभी सांसारिक रसों से बढ़कर आध्यात्मिक आनन्द है जिसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई अपने नाम और रूप को छोड़कर सागर में लीन हो जाती हैं। उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप से मुक्त हो पर से भी पर, दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।[1] इसके भावात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करने हुए वेदान्त में मोक्ष को सच्चिदानन्द अर्थात सत् चित् और आनन्द का रूप माना गया है। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन (महायान) में निर्वाण को प्राप्तव्य की प्राप्ति, अशेष लाभ, परम लाभ, कहा गया है। इसे परम पद, परमानन्द की प्राप्ति कहा गया है। इसे शान्त, शिव और क्षेम माना गया है। परम-त्राण और परम क्षेम से बढ़कर अन्य लाभ नहीं। अत: यह भावात्मक भी है। आचार्य शंकर के अनुसार, आत्मा का अपने यथार्थ स्वरूप में अवस्थित होना ही मोक्ष है।[2] यह स्थिति नित्य, शुद्ध चैतन्य रूप है। अत: यही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर मोक्ष को अभावात्मक भी

1. मुण्डक उपनिषद्, 3.2.8
2. स्वात्मन्यीवस्थान मोक्ष:। तै० उप० शां०भा०, 1/11

मानते हैं। उदाहरणार्थ, उनके अनुसार अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है। आचार्य शंकर के समान रामानुजाचार्य भी मोक्ष को अभावात्मक और भावात्मक दोनों मानते हैं। अभावात्मक रूप से यह जन्म-मरण के बन्धन का नितान्त अभाव है परन्तु भावात्म रूप में आनन्द रूप है। रामानुजाचार्य के अनुसार-मुक्त जीव शुद्ध तत्त्व से निर्मित होते हैं।

1. दु:ख तथा दु:ख हेतु—प्रत्येक भारतीय दर्शन दु:ख की निवृत्ति को उद्देश्य मानकर अपने प्रतिपाद्य विषय में प्रवृत्त हुआ है। बौद्ध दर्शन में तो दु:ख का और भी गंभीर विवेचन किया गया है। इसके अनुसार चार आर्य सत्य हैं—दु:ख, दु:खहेतु, दु:खनिरोध तथा दु:ख निरोध का मार्ग। वाचस्पति मिश्र के ग्रंथों में बुद्ध के चार आर्यसत्यों का विशेष विवेचन नहीं मिलता। जो कुछ स्वल्प सा उल्लेख किया गया है, उसी के आधार पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

दु:ख क्या है? इसका उल्लेख करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—न तावद् दु:खं नाम नास्ति जगति, परिणामतापसंस्कारै खल्वनवयवेन पंचापि स्कन्धा: भवन्ति संसारिणाम्।[1] "अर्थात् यह नहीं कि दु:ख संसार में नहीं है, परिणाम ताप तथा संस्कारों के कारण संसारियों के पंचस्कन्ध समस्त रूप से होते रहते हैं।"

अभिप्राय यह है बौद्ध दर्शन के अनुसार जन्म-मरण के चक्र मे फँसे हुए रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पाँचों स्कन्ध ही दु:ख हैं, जैसा कि धर्मकीर्ति ने भी कहा है—दु:खं संसारिण: स्कन्धा:।[2] यह स्कन्ध पंचक तीन प्रकार की दु:खता के कारण दु:खमय ही है।[3] यह तीन प्रकार की दु:खता है। 1. परिणामदु:खता, 2. ताप-दु:खता और 3. संस्कारदु:खता। इनका प्रमाणवार्तिक में भी उल्लेख किया गया है।[4] किंतु वहाँ इनका स्वरूप स्पष्टत: निर्दिष्ट नहीं किया गया। वाचस्पति मिश्र ने भी बौद्ध दर्शन में इनका क्या स्वरूप है, यह विवेचन नहीं किया । ऐसा प्रतीत होता है कि योगदर्शन के समान ही[5] बौद्ध दर्शन में भी यह तीन प्रकार की दु:खता है? व्यासभाष्य में इसका विशद विवेचन किया गया है। और, सम्भवत: बौद्ध दर्शन निर्दिष्ट दु:ख के स्वरूप में ही योगदर्शन ने "गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्व विवेकिन:" यह अंश जोड़ दिया है।

ये दु:ख विविध रूपों में प्राणी को संतप्त करते हैं। बौद्ध दर्शन में इनका कहीं संक्षेप में तथा कहीं विस्तार से वर्णन किया गया है। संक्षेप में जरा-मरण आदि ही दु:ख है, जिनकी व्याख्या करते हुए भामती टीका में कहा गया है—"उत्पन्न हुए रूप आदि स्कन्धों का पाक दशा को प्राप्त होना जरा कहलाती है। स्कन्धों (स्कन्ध-सन्तान) का नाश

---

1. न्यायकणिका, पृ० 142
2. प्रमाणवार्तिक, 1. 149
3. जन्ममरणप्रबन्ध: संसार:। तद्वन्तो दु:खं तिसृभिर्दु:खताभि:। प्र०वा० (मनो०); 1. 149
4. प्र० वा० 1. 254
5. योगसूत्र, 2. 15

मृत्यु है। मरते हुए मोहयुक्त स्त्री पुत्र आदि में लिप्त व्यक्ति का मानसिक संताप शोक है। शोक से उत्पन्न प्रलाप, जैसे हाय माँ, हाय पिता, हाय मेरे पुत्र, स्त्री, इत्यादि परिवेदना कहलाता है। चाक्षुष विज्ञान इत्यादि पाँचों विज्ञानों के कार्यों से युक्त होकर प्रतिकूल अनुभव करना दु:ख है। मानसिक दु:ख दौर्मनस्य है।''[1]

इस प्रकार बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, शोक, रोदन इत्यादि संसार में प्रसिद्ध दु:ख हैं। साथ ही यह भी दु:ख है कि इन्द्रियों द्वारा जो विषयों का ग्रहण होता है वह सदा ही अनुकूल वेदनीय ही नहीं होता। मन में डाह इत्यादि भी कम दु:ख नहीं। ये सभी दु:ख संसार में प्रत्यक्षत: अनुभव किये जाते हैं। इनका हेतु क्या है—जन्महेतुका उत्तरे जरामरणादय:।[2]

''आगे वाले जरामरण इत्यादि जन्म के कारण उत्पन्न होने वाले हैं।''

जन्म का क्या हेतु है? इस पर विचार करके बुद्ध ने अविद्या से लेकर जन्मपर्यन्त 12 अरों वाले संसार-चक्र को ढूँढ निकाला था। इसका वर्णन वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार किया है—''यह अविद्या संसार की दु:खराशि का मूल कारण है। इस अविद्या के होने पर संस्कार अर्थात् विषयों के प्रति राग, द्वेष, मोह प्रवृत्त होते हैं। (संस्कार से विज्ञान होता है) वस्तुविषयक ज्ञान ही विज्ञान कहलाता है। विज्ञान से चार उपादान स्कन्ध (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) होते हैं, वही नाम है। उनके कारण से रूप होता है। इस को एक में संक्षिप्त करके नाम-रूप कहा जाता है, शरीर की ही कललबुदबुद आदि अवस्था। नाम रूप से युक्त इंद्रिया षडायतन (1 मन+5 इन्द्रियाँ) कहलाती हैं। नाम रूप और इन्द्रियाँ तीनों का समुदाय स्पर्श है। स्पर्श से सुख आदि (अनुभव) वेदना होती है। वेदना के होने पर ''यह सुखकर (कार्य) मुझे फिर करना चाहिए'' इस प्रकार की भावना तृष्णा होती है, तृष्णा से उपादान अर्थात् वाणी और काया की चेष्टा होती है। उससे भव होता है, भव का अर्थ है धर्माधर्म; क्योंकि इससे जन्म होता है। धर्माधर्म के निमित्त होने वाली पाँच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) की उत्पत्ति जाति या जन्म कहलाती है।''[3]

---

1. भामती, पृ० 528
2. वही, पृ० 528
3. सेयमविद्या संसारानर्थसंभारस्य मूलकारणं तस्यामविद्यायां सत्यां संस्कारा रागद्वेषमोहा विषयेषु प्रवर्तन्ते। वस्तुविषया विज्ञप्तिर्विज्ञानम्। विज्ञानाच्चत्वारो रूपिणं उपादानस्कन्धास्तन्नाम, तान्युपादाय रूपमभिनिवर्तते तदेकध्यमभिसंक्षिप्य नामरूपं निरुच्यते शरीरस्यैव कललबुदबुदाद्यवस्था। नामरूपसंमिश्रितानीन्द्रियाणि षडायतनम्। नामरुपेन्द्रियाणां त्रयाणां सन्निपातः स्पर्शः। स्पर्शद् वेदना सुखादिका। वेदनायां सत्यां कर्तव्यमेतत् सुखं पुनर्मयेत्यध्यवसानं तृष्णा भवति। तत उपादानं वाक्कायचेष्टा भवति। ततो भवो भवत्यस्माजन्मेति भवो धर्माधर्मो। तद्धेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः जन्म। भामती, पृ०527—528

अविद्या से लेकर जन्म तक एक-दूसरे के निमित्त से होते रहते हैं, जैसा कि प्रतीत्य-समुत्पाद के वर्णन में दिखलाया गया है। भव-चक्र इसी द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद का नाम है। यह अनादि काल से इसी प्रकार चल रहा है अतः इसमें यह प्रश्न नहीं हो सकता कि जन्म पहले हुआ या अविद्या पहले हुई। कहा भी है—"ते मी परस्परहेतुकाः जन्मादिहेतुकाः अविद्यादयो विद्यादिहेतुकाश्च जन्मादयो घटीयन्त्रवदानिशमावर्तमानाः सन्तीति।"[1] वे ये (अविद्या अदि) एक दूसरे के हेतु से होने वाले हैं, अविद्या आदि जन्म आदि के हेतु से होती है और जन्म इत्यादि अविद्या आदि के हेतु से होते हैं। घटीयंत्र के समान ये निरन्तर आवृत्त होते रहते हैं।

12 अरों वाले इस संसार-चक्र का मूल कारण अविद्या है। यह अविद्या क्या है? वाचस्पति मिश्र ने भामती में इस अविद्या का स्वरूप प्रकट करते हुए लिखा है—"तत्रैतेष्वेव षट्सु धातुषु यैकसंज्ञा, पिण्डसंज्ञा, नित्यसंज्ञा, सुखसंज्ञा, सत्वसंज्ञा, पुद्गलसंज्ञा, मनुष्यसंज्ञा, मातृदुहितसंज्ञा अहंकारममकारसंज्ञा सेयमविद्या।"[2] इन छः धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा विज्ञान) में एक संज्ञा (यह एक है इस प्रकार का ज्ञान) पिण्डसंज्ञा (यह शरीर है ऐसा ज्ञान) नित्यता का ज्ञान, सुख का ज्ञान, सत्वसंज्ञा (यह जीव है, इस प्रकार का ज्ञान) पुद्गलसंज्ञा (आत्मा का ज्ञान) मनुष्य संज्ञा तथा माता, पुत्र आदि नाम और 'मैं हूँ' (अहम्) मेरा है (ममकार संज्ञा) इत्यादि व्यवहार होते हैं; यह अविद्या है।

यही आत्मविषयक अविद्या संसार-चक्र की प्रवर्तक है या जन्म आदि का हेतु है। पृथिवी आदि धातुओं के संघात रूप इस शरीर में एकत्व की भावना, इसमें आत्मा का विचार सुख-दुःख का अनुभव और मेरा-तेरा का भाव यही है अविद्या, जो संस्कार आदि का कारण है। यही अविद्या, परम्परा या तृष्णा की जननी है और "अनात्मा को आत्मा समझना" यही है संक्षेप में इसका स्वरूप। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका में बतलाया है—"आत्मा को सबसे प्रिय (अभ्यर्हिततम)[3] समझकर यह (प्राणी) उसमें स्नेह करता है ओर उसके हितसम्पादन के लिए प्रयत्न करता है। इसी प्रकार उसके विरोधी से द्वेष करता है और द्वेष से उसके अहित के लिए प्रयत्न करता है। इससे कर्माशय का संचय करता है। कर्माशय के संचित होने से जन्म होता है और उससे दुःख होता है। इसलिए ऐसी (अनर्थ परम्परा की मूल) आत्मा का ज्ञान तत्त्व ज्ञान नहीं होना चाहिए, उसमें नास्तिकता का समारोप ही अच्छा जिससे प्रवृत्ति तो न होगी। जैसा कि कहा भी है—

---

1. भामती, पृ० 528
2. वही, पृ० 527
3. अभ्यर्हिततम् उपकार्यतमम्, सत्वम् आत्मा। तात्पर्यपरिशुद्धि, पृ० 399

मैं सुखी होऊँ अथवा दु:खी होऊँ इस प्रकार की तृष्णा करते हुए जो मैं (अहम्) यह बुद्धि होती है, यही स्वाभाविक आत्मबुद्धि है।''[1]

बौद्ध दर्शन के अनुसार रूप आदि स्कन्धों से भिन्न आत्मा नाम की कोई व्यक्ति या सत्त्व नहीं। इसी प्रकार बाह्य पदार्थों में भी अवयवों से भिन्न कोई अवयवी या द्रव्य नहीं, यही अनात्मवाद है। यह अनात्मवाद न्याय-वैशेषिक आदि के आत्मवाद के विपरीत है। बौद्ध-दर्शन सर्व दु:खम् तथा सर्वमनात्मम् कहता हुआ यही प्रकट करता है कि संसार के समस्त दु:खों का मूल आत्मवाद ही है। इसी से दु:खवादी तथागत ने उपनिषदों के आत्मवाद के विरुद्ध अनात्मवाद की उद्भावना की थी। यह तो उपनिषद् के ऋषियों का भी अभिमत था कि आत्महित की भावना से ही अन्य वस्तुओं से स्नेह होता है ''आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति।'' बौद्ध-दर्शन ने इस पर सूक्ष्म विचार किया तथा आत्मभाव को ही संसार-चक्र की प्रवृत्ति का कारण समझा। उसका कहना है कि प्राणी क्षणध्वंसी विज्ञानों में अहं बुद्धि (मैं) करता है वह उस विज्ञान-प्रवाह को एक सत्त्व (आत्मा) के रूप में देखता है, यही आत्मभाव है। इस आत्म-भावना के कारण वह सोचता है कि मैं ''सुखी हो जाऊँ'' अथवा ''मैं दु:खी न होऊँ'' अर्थात् प्राणी सुख प्राप्ति तथा दु:ख निवारण का प्रयास करता है इसी से वासना उत्पन्न होती है तथा जन्ममरण आदि का संसार-चक्र निरन्तर चलता रहता है। तृष्णा से प्राणी कार्य में प्रवृत्त होता है और तृष्णा का कारण है यह आत्मभावना। यदि प्राणी यह समझ ले कि पूर्व क्षण का विज्ञान अन्य है, द्वितीय क्षण का दूसरा ही है; जो चेष्टा करता है वह फल नहीं भोगता तो वह तृष्णा मग्न होकर प्रयास न करे। अत: आत्मवाद ही राग आदि का कारण है तथा संसार-चक्र का प्रवर्तक है; जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में भी स्पष्टतया विवेचन किया है—

''नित्य आत्मदर्शन के विना कोई भी स्वार्थ-साधन की तृष्णा से युक्त होकर प्रवृत्त नहीं होता। जैसे—चैत्र नामक व्यक्ति मैत्र को अपने से भिन्न समझता है, वह अपने ही सुख की अभिलाषा करता है, मैत्र के सुख के लिए प्रयास नहीं करता। इसी प्रकार पूर्व तथा अपर क्षण से सम्बन्ध न रखने वाले (विविक्त) विज्ञान मात्र को साक्षात् रूप में आत्मा मानता हुआ (व्यक्ति) उस विज्ञान-संतति में होने वाले अन्य विज्ञान क्षण के हित सम्पादन में प्रवृत्त नहीं होगा, किन्तु स्वार्थ की तृष्णा में मग्न होकर प्रवृत्त होता है। इससे प्रतीत होता है कि निश्चय ही यह भिन्न-भिन्न चित्त क्षणों को एक समझ लेता है। इस

---

1. नन्वात्मानं सर्वतोभ्यर्हितमं पश्यंस्तत्रासौ स्निह्यति स स्नेहात्तदुपकाराय घटते, एवं तत्परिपन्थिनं देष्टि, द्वेषाच्च तदपकाराय घटते, ततः कर्माशय-मातनोति, ततो जन्म ततश्च दु:खर्मिति, एवमात्मनस्तादृशस्य मा भूतत्वज्ञानम् अस्तु नास्तितासमारोप एव तावद् यतो न प्रवर्तेत। यथा हुः—

सुखी भवेयं दु:खी वा मा भूवमिति तृष्यतः।
वैवाहमिति धीः सैव सहजं सत्वदर्शनम्॥ —न्या० वा० ता०, पृ० 84

प्रकार यह स्वभाव-सिद्ध एकात्मदर्शन राग आदि का कारण है"[1]

ऊपर के विवेचन से यह बात भली भाँति विदित होती है कि बौद्ध-दर्शन आत्मवाद को ही तृष्णा का कारण मानता है और तृष्णा के परित्याग के लिए ही अनात्मवाद का उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया था। अत: बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मदर्शन केवल भ्रांति है, मिथ्याज्ञान है। अब देखना यह है कि भ्रांति का स्वरूप क्या है?

दु:ख निरोध का उपाय

दु:ख निरोध बुद्ध के समस्त दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। समस्त दर्शन तथा आचार मार्ग इसी केन्द्र बिन्दु के चारों ओर घूम रहा है। दु:खनिरोध मार्ग का उल्लेख मात्र ही वाचस्पति मिश्र ने किया है। वास्तव में यह विशुद्ध दार्शनिक संघर्ष एवं विवेचन का समय था। इस समय दर्शन बहुत कुछ स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित हो रहा था, जीवन या संसार और निर्वाण से उसका सम्बन्ध नाममात्र का ही रह गया था। प्रसंगवशात् ही इनका उल्लेख कर दिया जाता था। फलत: वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में भी इसका संक्षेप रूप में होना स्वाभाविक ही है। यहाँ दु:खनिरोध तथा निरोध के उपाय का दार्शनिक पहलू ही कुछ देखा भर गया है उसका स्पष्टत: विवेचन नहीं किया गया। फिर भी दु:ख-निरोध आदि के विषय में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में कुछ उल्लेख अवश्य है। न्यायकणिका में कहा गया है—

(दुखनाश के) उपाय का अपरिज्ञान भी नहीं, क्योंकि दु:ख के उत्पादक राग-द्वेष आदि दोष तथा मद-मान आदि (उपक्लेश) हैं। ये उत्पादक होते हुए भी दु:ख के अवयव हैं? अत: जब ये नष्ट होते हैं तो दु:ख को भी नष्ट कर देते हैं जैसे जो ज्वर कफ से उत्पन्न होता है वह कफ की निवृत्ति से निवृत्त हो जाता है। और (रागादि) दोष नित्य-आत्मा आदि के दर्शन (विचार या धारणा) से उत्पन्न होने वाले हैं अत: उसके अवयव हैं, उसके साथ अभिन्न रूप से रहते हैं और उस (नित्यात्मदर्शन) के न होने पर नहीं रहते। नित्यात्मदर्शन को नष्ट करने का हेतु उसके विरोधी (सर्वधर्मनैरात्म्यभाव) के

---

1. नह्यसति नित्यात्मदर्शन स्वार्थतृष्णापरिप्लुतः कश्चित्परिस्पन्दते। यथा हि मैत्रः स्वतो भिन्नं मैत्रमुदीक्षमाणः स्वगतसुखतृष्णापरिप्लुतो न मैत्रसुखाय घटते। तथा पूर्वापरक्षणविविक्तं विज्ञानमात्रमात्मानं साक्षादीक्षमाणो न तत्सन्ततिपतित-क्षणान्तरोपकारकर्मणि* प्रवर्तते, च स्वार्थ तृष्णापरिप्लुतः। तेनागच्छामोऽ वगच्छति नूनमयमहमिति विभिन्नानपि स्वचित्तक्षणानेकतयाम तदिदं सहजमात्मदर्शनं निदानं रागादीनाम्। न्यायकणिका, पृ०113

*यहाँ न्यायकणिका में दो प्रकार का पाठ उपलब्ध है (प्रथम) सन्तति—पतिततद्विपरीतलक्षणान्तरोपकारकर्मणि; (द्वितीय) न तत्संततिपतितलक्षणात्मो-पकारकर्मणि; दोनों के आधार पर परिकल्पित ऊपर का पाठ ही प्रसंगानुकूल प्रतीत होता है।

साक्षात्कार से अन्य नहीं।[1] भाव यह है कि राग आदि दोष दु:ख के हेतु हैं अत: उनकी निवृत्ति से दु:ख की निवृत्ति हो जाती है, दु:ख निरोध हो जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि राग आदि दोषों की निवृत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर स्पष्ट है। नित्य एक आत्मा को स्वीकार करने से राग आदि उत्पन्न होते हैं, यह पहले कहा जा चुका है। अत: आत्मदर्शन या नित्यात्मा की स्वीकृति ही राग आदि का कारण है। आत्मदर्शन की धारणा को बदलने से ही राग आदि का नाश हो सकता है। इस धारणा को नष्ट करने का उपाय है इसकी विरोधी धारणा; आत्मवाद के स्थान पर अनात्मवाद को स्वीकार करना। यही दु:खविनाश का मुख्य उपाय है; जैसा कि कहा भी है—"धर्मपुद्गलनैरात्म्यज्ञानम् इत्यपरे।"[2] "धर्म पुद्गल के विषय में नैरात्म्य ज्ञान (मिथ्याज्ञान का निवर्तक है) यह दूसरे अर्थात् बौद्ध कहते हैं।

बुद्ध ने दु:ख—निरोध—मार्ग का अन्वेषण करके आर्य अष्टांगिक मार्ग का निर्देश किया था। यह आर्य अष्टांगिक मार्ग था—1. सम्यक्दृष्टि, 2. सम्यक् संकल्प, 3. सम्यक् वचन, 4. सम्यक् कर्म, 5. सम्यक् जीविका, 6. सम्यक् प्रयत्न, 7. सम्यक् स्मृति, 8. सम्यक् समाधि। इनमें सम्यक् दृष्टि या सम्यक् ज्ञान अष्टागिक मार्ग का प्राण है, मूल आधार है। इसी का दार्शनिक विवेचन से विशेष सम्बन्ध है। सम्यक् ज्ञान में कायिक, वाचिक मानसिक समस्त भले-बुरे कर्मों का ठीक-ठीक सज्ञान करना सम्मिलित है। दु:ख के हेतु, निरोध तथा निरोध-मार्ग का ठीक-ठीक ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि है। सम्यक् दर्शन का आधार है—नैरात्म्य ज्ञान। अतएव बौद्ध दर्शन के ग्रंथों में सम्यक् दृष्टि शब्द का अर्थ नैरात्म्यदृष्टि किया गया है।[3] वाचस्पति मिश्र ने सम्यक् दृष्टि का ही उल्लेख किया है। योग भाष्य की व्याख्या करते हुए अष्टांगिक मार्ग के चरम अंग समाधि का प्रसंग भी आ गया है। वहाँ वाचस्पति मिश्र ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि क्षणिक चित्त में एकाग्रता का क्या अर्थ है। योग दर्शन की ओर से यह आक्षेप किया गया है—"वैनाशिक (बौद्ध) के मत में सब चित्त एकाग्र ही हैं (क्योंकि एक वस्तु विषयक एक विज्ञान होता है, वह क्षणिक है) कोई भी चित्त विक्षिप्त (एकाग्रता-विहीन) नहीं है अत: उस (एकाग्रता) के लिए दिये गये उपदेश तथा उसके लिए किये गये प्रयत्न सब व्यर्थ हैं।"[4]

---

1. नाप्युपायापरिज्ञानम्। तथा हि, दु:खस्य समुत्पादका दोषाः रागद्वेषादयो मदमानादयश्च ते चोत्पादका अपि तदवयवान्निवर्तमानास्तदपि निवर्तयन्ति यथा कफोद्भवो ज्वरः **कफनिवृत्या निवर्तते। दोषाश्च नित्यात्मादिदर्शन-जन्मानः तदवयवास्तदविभाग-वर्तिनस्तदभावे न भवन्ति। तदभावहेतुर्न तत्प्रतिपक्षसाक्षात्कारादन्यः।—न्यायकणिका, पृ० 142**
2. न्या० वा० दा० पृ०639. पृ० 6
3. सम्यक् दृष्टिः नैरात्म्यदृष्टिः।, प्र० वा० (मनोरथनन्दिवृत्ति)। 1:273
4. वैनाशिकानां तत्सर्वमेकाग्रमेव चित्तं (यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तम योगभाष्य 1.32 (नास्ति किंचिद् विक्षिप्तमिति तदुपदेशानां तदर्थनां च प्रवृत्तीनां वैयर्थ्यम्। तत्त्ववैशारदी योगसूत्र,1.32

इसका उत्तर देते हुए बौद्ध दर्शन की चित्तैकाग्रता या समाधि का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—यो पि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते।[1] मा भूदकस्मिन्चिते एकाग्रताधानयत्नः, चित्तसन्तानेत्वनादावक्षिणिके विक्षेपमपनीय एकाग्रता धास्यत इत्यर्थ।''[2]

''जो समान चित्तों के प्रवाह के द्वारा चित्त को एकाग्र मानता है अर्थात् एक चित्त (क्षण) में एकाग्रता धारण करने का प्रयत्न भले ही न हो, अनादि तथा अक्षणिक चित्तसन्तान में तो विक्षेप को दूर करके एकाग्रता धारण की जायेगी।''

भगवान् बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग का उपदेश देते हुए कहा था—''चित्त की एकाग्रता को सम्यक् समाधि कहते हैं।''[3] सम्यक् समाधि में मन के विक्षेपों को हटा दिया जाता है और मन एकाग्र हो जाता है। यह ठीक है कि चित्त क्षणिक है,एकार्थविषयक एक प्रवृत्ति विज्ञान होता है। उस क्षणिक प्रवृत्ति विज्ञान में किसी विक्षेप को अवकाश नहीं, अत: वह स्वयं ही एकाग्र है। किंतु उस चित्त सन्तति में जो चित्त-प्रवाह चलता है उसमें दो स्थिति हो सकती है; एक तो यह कि चित्त-सन्ततिरूपी नदी में सदृश विज्ञानों की धारा प्रवाहित हो; दूसरी यह कि एक चित्तक्षण के पश्चात् उसका विसदृश चित्तक्षण आवे, फिर उसका विसदृश। इनमें प्रथम स्थिति एकाग्रता की अवस्था कही जायेगी। यह चित्तसन्तान अनादि है। इसमें एकाग्रता धारण करने के लिए ही सम्यक् समाधि का उपदेश तथागत ने दिया था। यह चित्तसन्तान चित्तों (विज्ञानों) से भिन्न नहीं अर्थात् चित्तक्षणों की परम्परा ही चित्त सन्तान है अत: परमार्थ रूप में इसे अक्षणिक नहीं कहा जा सकता, केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही अक्षणिक कहना संगत है।

यहाँ एक शंका और भी होती है वह यह कि तत्त्व ज्ञान द्वारा एक बार मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी फिर से मिथ्या ज्ञान की वासनाओं के द्वारा मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती? यह शंका सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के यहाँ संभव है। तथा उसका उत्तर भी प्राय: समान रूप से ही दिया जा सकता है। वाचस्पति मिश्र ने न्याय के तत्त्व ज्ञान की व्याख्या करते हुए इस शंका का उत्तर दिया है और वहीं बौद्ध दर्शन के उत्तर को भी अपने मत के समर्थन के लिए उद्धृत किया है। वे लिखते हैं—

''मनुष्यों की बुद्धियाँ तब तक ही अस्थिर रहती हैं तथा अपने अभ्यस्त संस्कारों का प्रसार करती हैं जब तक कि वे वास्तविक वस्तु का साक्षात्कार नहीं करती। उसका साक्षात्कार करने पर तो वे उसमें ही स्थिर हो जाती हैं और वासनासहित मिथ्या ज्ञान को नष्ट कर देती है; क्योंकि यथार्थ वस्तु के प्रति पक्षपात होना बुद्धि का स्वभाव है; जैसा कि अन्यों अर्थात् बौद्धदार्शनिकों (धर्मकीर्ति) ने भी कहा है '—(दोषराशि के नष्ट हो

1. योगभाष्य, 1.32
2. तत्त्ववैशारदी, 1.32
3. मज्झिम निकाय, 1.5.4

जाने से) बाधारहित (निरुपद्रवस्य), वास्तविक अर्थ का भान करने वाले (भूतार्थस्य) (नैरात्म्य आदि) स्वभाव का मिथ्याज्ञान के द्वारा (विपर्ययै:) प्रयत्न न करने पर भी बाध नहीं होता; क्योंकि उस निर्दोष ज्ञान में बुद्धि का पक्षपात है। इसलिए मिथ्या ज्ञान की फिर उत्पत्ति नहीं होती'।''[1]

बौद्धदार्शनिकों का भाव यह है कि साक्षात् किया हुआ स्वभाव फिर नहीं बदला जा सकता।[2] अत: जब बुद्धि नैरात्म साक्षात्कार कर लेती है तो फिर मिथ्या ज्ञान का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। उस दशा में व्यक्ति बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है सर्वज्ञ हो जाता है।

सर्वज्ञता की प्राप्ति का साधन

सर्वज्ञता की प्राप्ति का साधन और प्रक्रिया क्या है? इस पर विचार करते हुए बौद्ध दर्शन की ओर से कहा गया है—

''इन्द्रियों से होने वाला तथा मानस प्रत्यक्ष चाहे सर्वविषयक न हो भावनामय प्रत्यक्ष तो सर्वविषयक हो सकता है; क्योंकि शास्त्रवचनों से समस्त वस्तुओं की नैरात्म्यधर्मता का ग्रहण होगा और युक्तियों द्वारा इस (नैरात्म्यधर्म सिद्धांत)की यथार्थता को निर्धारित करके तथागत पुन: पुन: चित्त की तल्लीनतारूप भावना के प्रकर्ष के अन्त में पूर्णतया अपने आप से (आत्मा) से लेकर समस्त विश्वपर्यन्त के विषय में हाथ पर रखे हुए कमल के समान अत्यन्त विशद प्रत्यक्ष विज्ञान को भावना द्वारा प्राप्त कर लेगा।''[3]

जैसा कि ऊपर निरूपण किया गया है,[4] बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—इन्द्रियज, मानस,स्वसंवेदन तथा भावनामय। इनमें से इन्द्रियज प्रत्यक्ष केवल

---

1. तावदेव पुंसां बुद्धयो स्थिरा: भ्राम्यन्ति स्वोचितं संस्कारजातमातन्वते च न यावद्भूतमथ साक्षात् कुर्वन्ति। अथ साक्षात्कृते तत्र स्थिरपदा भवन्ति क्षिणवन्ति च सवासनान्मिथ्या प्रत्ययान्। भूतार्थपक्षपातो हि बुद्धे:स्वभाव:। यदाहुर्बाह्या अपि—
   निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययै:।
   न बाधो यत्नवत्वेपि बुद्धेस्तत्पक्षपातत:। इति।
   तस्माद् मिथ्याज्ञानस्य न पुनरुत्पाद:। न्या० वा०ता० पृ०95
   प्र०वा० (मनो०), 1.212 में ''न बाधा यत्नवत्येऽपि यह पाठ है।
2. न हि स्वभाव: साक्षात्कृतोऽन्यथाकर्तु शक्य:। प्र०वा० (मनो०), 1.213
3. ननु मा भूद इन्द्रियजं मानसं च प्रत्यक्षं सर्वविषयं भावनामयं तु भविष्यति। तथाहि—श्रुतमयेन विज्ञानेन समस्तवस्तुविषयनैरात्म्यादि गृहीत्वा युक्तिमयेन च भूततामस्य व्यवस्थाप्यासकृच्चेतोनिवेशनरूपभावनाप्रकर्षपर्यन्तजन्म प्रत्यक्षं विज्ञानम् अवयवेनात्मादिरूपविश्वालम्बनं करतलारविन्दविषयमिवातिविशदं भावविष्यति तथागत:
   —न्यायकणिका, पृ० 141—142

   न्यायकणिका, पं० 111 पृ० 4 के पाठ की समानता के आधार पर यहाँ अवयवेन के स्थान पर अनवयवेन पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। (अनवयवेन—साकल्येन)।
4. परि० 6. अनु० 5

वर्तमान विषय का ग्रहण करता है। उससे सकल जगत् का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं। मानस प्रत्यक्ष द्वारा भी इन्द्रियों द्वारा गृहीत बाह्य विषय का प्रत्यक्ष होता है। अतएव इन्द्रियप्रत्यक्ष के द्वारा तथा मानस प्रत्यक्ष के द्वारा सकल वस्तु विषयक ज्ञान (सर्वज्ञता) नहीं हो सकता। हाँ, भावनामय प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त हो सकती है। कोई साधक बौद्ध दर्शन के ग्रंथों द्वारा यह जान लेता है कि बाह्य तथा आध्यात्मिक सकल वस्तु 'अनात्म' है (सर्वम् अनात्मम्) नैरात्म्यधर्मता ही विश्व का तथ्य है। तब वह इसकी युक्ति-युक्तता पर विचार करता है, प्रमाणों द्वारा इसकी परख करता है और निर्धारित कर लेता है कि नैरात्म्यधर्मता आदि (सर्वदु:खम् , सर्वक्षणिकम् आदि भी) बिल्कुल सत्य है। यह निर्धारित करके वह बार-बार इसी में मन को लगाता है। मन को किसी भाव में लीन कर देना ही भावना है। इस भावना में वह श्रद्धा के साथ, निरन्तर चिरकाल[1] पर्यन्त तत्पर रहता है और भावना का प्रकर्ष (स्पुटाभासता) प्राप्त कर लेता है। इस भावना-प्रकर्ष से वह वस्तुतत्व को यथावत् जान लेता है। तब उसे अपने विषय[2] में तथा समस्त विश्व के विषय में जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष अत्यन्त विशद होता है। प्रत्येक वस्तु हथेली पर रखे हुए कमल के समान स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो जाती है। उसके नैरात्म्य आदि स्वरूप का स्पष्ट बोध हो जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि सर्वधर्मनैरात्म्य भावना से विश्व का हस्तामलकवत् विशद् ज्ञान होना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए बौद्ध दर्शन कहता है "जो-जो श्रद्धा के साथ निरन्तर, दीर्घकाल तक तत्परता से की हुई भावना है वह सब आलम्बन (विषय) का हस्तामलकवत् ज्ञान कराने वाली होती है जैसे कामातुर की जो कामिनी विषयक भावना होती है वह तीनों विशेषणों अर्थात् आदर, नैरन्तर्य यथा दीर्घकालीन तत्परता से विशिष्ट होकर कामिनी विषयक विशद ज्ञान का कारण होती है, इसी प्रकार समस्त वस्तु—नैरात्म्य भावना भी है, यह स्वभाव हेतु (नाम का अनुमान) है।"[3]

यदि प्रतिपक्षी कहे कि यह हेतु असिद्ध है; अर्थात् विशेषणत्रयवती भावना का होना ही संभव नहीं तो इसके उत्तर में बौद्ध दर्शन कहता है—"यह हेतु असिद्ध भी नहीं सांसारिक दु:खहेतु से भयभीत तथा श्राबक और बोधि के नियमों का पालन करने वाले एवं सकल प्राणियों के दु:ख को अपना दु:ख समझने वाले करुणापरायण जनों में समस्त दु:खों को शांत करने वाली (आदर, नैरन्तर्य एवं दीर्घकाल आसेविक) तीनों विशेषणों से युक्त भावना का होना संभव ही है और दान आदि पारमिता के अभ्यास से जिनके हृदय के मल क्षीण हो गये हैं उन्हें ऐसी भावना के प्रकर्ष द्वारा उत्पन्न होने वाला विज्ञान भी होना संभव है। (उनका) यह ज्ञान भ्रांतिरहित है; क्योंकि यह प्रमाणों द्वारा सिद्ध वस्तुओं के विषय में है। विशद् रूप से भासित होने के कारण यह ज्ञान विकल्परहित है। यह

1. आदरनैरन्तर्यदीर्घकालासेविता। न्यायकणिका, पृ० 146
2. बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ०494
3. न्यायकणिका, पृ० 145-146

समस्त वस्तु विषयक है, नैरात्म्य साक्षात्कार रूप होने से। नैरात्म्य नाम को कोई धर्म भावों से भिन्न कुछ है नहीं जो उन भावों के ज्ञानगोचर न होने पर भी उस (नैरात्म्य) का प्रत्यक्ष हो सके तथा विकल्पारूढ़ वस्तु विज्ञान को विकल्प रहित किए बिना (?) विशदतया अवभासित नहीं हो सकती। अतः यह भावना के द्वारा विशदता (स्पुटाभासता) को धारण करने वाला ज्ञान विशदरूप में ही होगा। इस प्रकार विश्व नैरात्म्य का साक्षात्कार ही विश्व साक्षात्कार है।[1]

बौद्ध धर्म (दर्शन) के अनुसार साधक या मुमुक्षु तीन प्रकार के होते हैं। (1) श्रावक, (2) प्रत्येक बुद्ध (बोधिसत्व), (3) सम्यक् सम्बुद्ध। जन साधारण से श्रावक का पद उत्कृष्ट है। जनसाधारण तो धर्म, अर्थ, काम तीनों की सिद्धि में ही तत्पर रहता है किन्तु श्रावक इनसे परे मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है। वह दुःख के निमित्त से भयभीत होकर उसके निरोध के उपाय का अन्वेषण करता है। श्रावक का लक्ष्य व्यक्तिगत दुःखनिवृत्ति है। उसके लिए वह बुद्ध आदि शास्ताओं की देशना की अपेक्षा रखता है और पुद्गल नैरात्म्यज्ञान से या प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान से उसका दुःखनिरोध होता है। प्रत्येक बुद्ध (बोधि) का आदर्श श्रावक से श्रेष्ठ है। उन्हें स्वयं ही बोधि-लाभ होता है, किन्तु प्रत्येक बुद्ध का लक्ष्य भी स्वदुःख निवृत्ति ही होता है।[2] तीसरे उच्च कोटि के साधक बुद्ध हैं जो अत्यन्त करुणा-परायण है। ये समस्त प्राणियों को अपने समान (आत्मवत्) देखते हैं इसी हेतु श्रद्धा (आदर) के साथ निरन्तर दीर्घकाल पर्यन्त नैरात्म्य साक्षात्कार का हेतु है, यह ऊपर कहा गया है। मुमुक्षु बुद्धों की भावना इन तीनों विशेषणों से युक्त है यह दिखलाने के लिए यहाँ इन विशेषणों का प्रयोग किया गया है। मुमुक्षु-जन संसार के दुःखों का जो निमित्त है अर्थात् तृष्णा, आत्मग्रह या सत्वदर्शन का मोह, उससे बचना चाहते हैं। इसी हेतु उनके मन में नैरात्म्य भावना के प्रति उत्कट आदर का भाव होता है। उनके मन में समस्त प्राणियों के प्रति करुणा का भाव है। इसी से वे निरन्तर इस भावना को पुष्ट करते हैं। साथ ही दान आदि पारमिता[3] के सेवन से उनके मल क्षीण हो जाते हैं अतः बीच-बीच में उन्हें क्लेशों की बाधा नहीं सताती, अपितु वे दीर्घकाल पर्यन्त नैरात्म्य भावना को पुष्ट करते रहते हैं। इस प्रकार उनकी भावना विशेषणत्रय से युक्त होती है और वह विश्व साक्षात्कार का हेतु होती है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि नैरात्म्य विषयक भावना से विश्व का साक्षात्कार कैसे संभव है? तथा यह भावनामय ज्ञान यथार्थ एवं साक्षात् ज्ञान कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में बौद्ध दर्शन कहता है कि समस्त वस्तुओं के विषय में जो नैरात्म्य भावना होती है वह समस्त वस्तुओं से भिन्न कुछ नहीं है; अतएव वस्तु नैरात्म्यभाव के साथ-साथ समस्त विश्व का साक्षात्कार होता ही है। इस भावना के द्वारा ज्ञान में ऐसी विशदता,

1. न्यायकणिका, पृ० 146
2. कविराज गोपीनाथ, बौद्धधर्मदर्शन, भूमिका, पृ० 23-24
3. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धदर्शन, पृ० 184

स्फुटाभासता उत्पन्न कर दी जाती है कि ज्ञान की सविकल्पता भी नष्ट हो जाती है और भावना के उत्कर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है यह सद्वस्तु विषयक होता है, यथार्थ होता है अतः उसमें भ्रान्ति का लेश भी नहीं रहता। इसी से उसमें ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढम-भ्रान्तम्'' यह प्रत्यक्ष का लक्षण भली-भाँति चला जाता है। वही भावनामय प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

इस पर पूर्वपक्षी की ओर से यह शंका होती है—''मान लिया कि शास्त्र और अनुमान के विषय में होने वाली भावना साक्षात् भासित होने वाले विज्ञान का कारण है किन्तु जो उस (भावना) का विषय होगा उसकी ही विशद प्रतीति होगी फिर समस्त विश्व की विशद प्रतीति (साक्षात्कार) शास्त्र तथा अनुमान-विषयक भावना से कैसे हो सकती है? कभी भी रूप-भावना प्रकर्ष के द्वारा रस-विषयक विशद प्रतीति नहीं होती''[1] इसका उत्तर देते हुए बौद्ध-दर्शन कहता है—''भावना अन्यविषयक विशद प्रतीति का हेतु है ऐसा हम (बौद्ध) नहीं कहते किन्तु शास्त्र तथा अनुमान के विषय में विशद प्रतीति का हेतु है, यही कहते हैं। समस्त वस्तुओं का नैरात्म्य ज्ञान शास्त्र और अनुमान का विषय (तद्विषयम्) है, इसलिए उसकी भावना का प्रकर्ष सकल वस्तुओं के नैरात्म्य का साक्षात्कार कराता है और वह समस्तवस्तु-नैरात्म्य का साक्षात्कार समस्त वस्तुओं की विशद प्रतीति के विना हो नहीं सकता (तदनुपपत्तेः) इस हेतु सकल वस्तुओं की विशद प्रतीति करा देता है; यह कहा गया है।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि ''वस्तु के (अस्य अर्थस्थ) वे ही क्षण आलम्बनप्रत्यय हो सकते हैं जो अव्यवधान से विज्ञान के पहिले होते हैं। इस प्रकार वे ही क्षण इस विज्ञान के ग्राह्य हैं, उनसे पहिले वाले (अतीत) और तत्कालीन एवं अनागत (क्षण) ग्राह्य न होंगे अतः उस विज्ञान की सर्वविषयता नहीं होगी।''[2] इसका उत्तर देते हुए सर्वज्ञता के समर्थक कहते हैं ''(भूत, वर्तमान और भविष्यत् इस) धातुत्रय को प्राप्त होने वाले दृश्य मान प्राणधारी जन्मान्तर के परिवर्तन हो जाने पर अतीत और अनागत स्कन्ध समुदाय-रूप उपादान के उपादेय स्वरूप हैं अतः प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले प्राणधारियों के तादात्म्य से उनके विशेषणरूप में अतीत और अनागत क्षणों का भी ज्ञान हो जाता है। इसमें यह भी आक्षेप नहीं हो सकता कि हमारी दृष्टि भी वैसी होने लगेगी; क्योंकि (हमारी दृष्टि) राग आदि मलों से आवृत्त है। जिसके समस्त क्लेश और उपक्लेश रूपी मल नष्ट हो गये हैं, उस (सर्वज्ञ) भगवान् का विज्ञान तो आवरणरहित है, सर्वतः दीप्तिमान है अतः वह 'स्व' को आलम्बन करने वाली प्रतीति को सर्वाकारक रूप में कर लेगा और उसका साक्षात् या परम्परा से किसी प्रकार सकल वस्तु के सम्बन्ध होने से वह देश और काल में बिखरी हुई वस्तुओं के विशिष्ट स्वभाव होने के कारण

1. न्यायकणिका, पृ० 147
2. वही, पृ० 149

उन्हें वैसा ही अनुभव कर लेगा। और सर्व ग्रहण के विना यह नहीं हो सकता इसलिए सर्वज्ञ का सार्वविषयक विशद (अनावरण) विज्ञान सिद्ध होता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बुद्धावस्था में सर्वज्ञता की प्राप्ति हो जाती है। बौद्ध दर्शन का विश्वास है कि यथोचित साधनों के द्वारा कोई भी साधक इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है और निर्वाण को प्राप्त होता है।



1. न्यायकणिका, पृ० 149-150

8
कर्म के सिद्धान्त की तुलनात्मक व्याख्या

प्रस्तुत अध्याय में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के अनुसार कर्म सिद्धान्त का नैतिकता और धर्म पर क्या प्रभाव है इसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है।

दोनों ही धर्म में नैतिकता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ठीक है कि दोनों धर्म में नैतिकता और धर्म के बीच सम्बन्ध को लेकर कुछ मान्यताएँ हैं। इन बातों को स्पष्ट करने के लिए दोनों धर्मों की मूल धारणा की तुलना वांछनीय है। हिन्दू विचारक आत्मा को अमर, अविनाशी और शाश्वत मानते हैं। इनके अनुसार आत्मा न जन्म लेती है, न ही इसकी मृत्यु होती है। इसका न आदि है, न अन्त होता है। मृत्यु शरीर का होता है। आत्मा अविनाशी है।

हिन्दू धर्म के अनुसार, जीवात्मा आत्म चेतन जीवन शक्ति है। जीवात्मा मन एवं शरीर की समस्त क्रियाओं को व्यवस्थित करती है। शरीर के विभिन्न अंगों के बीच सामंजस्य पूर्णता लाने का कार्य तथा शरीर के विभिन्न अंगों को निर्देश देने का कार्य जीवात्मा का ही है। जीवात्मा ही शरीर के विभिन्न अंगों का नियंत्रण करती है। जीवात्मा व्यक्ति के समस्त विचारों भावनाओं एवं संवेगों के बीच सामंजस्य पूर्णता का काम करती है। स्वामी अभेदानन्द ने लिखा है—

> "Living soul means the self conscious individualised life force with the sense of 'I' and that sense of 'I' holds them together. ' I am this body' I am Mr. so-and-so'. The self holds all things together, unities them and makes the separate parts vilnate and produce a perfect harmony, and that harmony is life."[1]

शरीर में आत्मा का अस्तित्व होने के कारण भी हमारी समस्त प्रतिक्रियाएँ संचालित होती रहती हैं। मृत्यु उपरान्त आत्मा शरीर को त्याग देती है। शरीर चेतनहीन हो जाता है। मृत्यु के बाद आत्मा जीर्ण शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। ठीक उसी तरह जिस तरह प्राणी अपने पुराने वस्त्रों को त्याग कर नया वस्त्र

---

1. Swami Abhedanand; Life Beyond Death, p. 32.

धारण करता है। इसलिए मृत्यु केवल भौतिक शरीर का परिवर्तन है। यही एक उपक्रम है जिसके कारण आत्मा अपने को अभिव्यंजित करती है। शरीर के माध्यम से ही आत्मा का उत्थान होता है और जब शरीर आत्मा के उत्थान और विकास के योग्य नहीं रह जाता तब आत्मा शरीर को त्याग देती है। इसके लिए आत्मा को दोषी नहीं ठहराया जाता है। हिन्दू विचारक यह मानते हैं कि मृत्यु विनाश की अवस्था नहीं है। न ही यह शून्य की अवस्था है क्योंकि शरीर मात्र आत्मा का एक पोषक है जिसे कब बदल दिया जाता है जब यह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है।

विज्ञान भी यह मानता है कि किसी वस्तु का अन्त नहीं होता। वह शून्य में विलीन नहीं हो जाता। भूत और शक्ति दोनों अमर है। जो अमर है उसका परिवर्तन शून्य में नहीं होता। भौतिक शरीर के अन्दर एक सूक्ष्म शरीर होता है यह आत्मा का एक आकस्मिक पोशाक है जबकि नैतिक शरीर बाहर नहीं। इस सूक्ष्म शरीर को ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से नहीं देखा जा सकता है। स्वामी के शब्दों में—

> "The subtle body is the outer-garment of the soul, and the gross physical body is the outer-garment. When the soul has performed certain functions and has enjoyed certain pleasures, and has fulfiled certain desires, it finds that the gross physical body is no longer of any use, and it does not work right. Then the living soul leaves the physical body and manufactures another."[1]

सूक्ष्म शरीर एवं आत्मा एक भौतिक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। आत्मा मृत्यु का अनुभव नहीं करती। मृत्यु के पूर्व ही आत्मा भौतिक शरीर से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने लगती है। यही कारण है कि मृत्यु उपरान्त आँख एवं कान देखने और सुनने के योग्य नहीं रह जाता है। आत्मा मानसिक स्तर पर अपने विचारों को प्रतिबिंबित करती है। आत्मा का कार्य मानसिक होता है। सूक्ष्म शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच जीवन शक्तियाँ, मन तथा बुद्धि होती है। आत्मा, जिसकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती, अंधकार में रहती है। आत्मा सुख में शरीर के साथ इस जगत् में रहती है। लेकिन वह आत्मा जो भौतिक वस्तुओं और इच्छाओं से अनाशक्त रहती है। कुछ समय बाद या तो वह ईश्वर के साथ एकात्म हो जाती है या पुनः इस पृथ्वी पर पूर्ण चेतना के साथ अवतरित होती है।

अमरत्व आत्मा की प्रकृति है आत्मा को इसे प्राप्त करना नहीं है। जब अमरत्व दूसरा रूप ले लेती है तब उसे मोक्ष कहा जाता है प्रत्येक क्षण एक परिवर्तन है और मृत्यु परिवर्तन के अतिरिक्त कोई और चीज नहीं है। हर क्षण व्यक्ति मरता है। मोक्ष का अर्थ अपरिवर्तनशील अवस्था को प्राप्त करना है मृत्यु एक नये जीवन की शुरुआत है। इसलिए

---

1. Swami Abhedanand; Life Beyond Death, p. 211.

मृत्यु को जीवन का दुश्मन नहीं मानना है बल्कि यह जीवन का मित्र है। अब यदि मृत्यु का अर्थ परिवर्तन है तब अमरत्व का एक नया अर्थ होगा। यह एक ऐसी अवस्था है जिसकी मृत्यु नहीं होती यह एक अपरिवर्तनशील अवस्था है। अत: मृत्यु का अर्थ परिवर्तन तथा अमरत्व का अर्थ अपरिवर्तनशीलता है। मोक्ष का अर्थ स्वर्ग की प्राप्ति नहीं है जहाँ व्यक्ति ऐंद्रिक सुख की प्राप्ति करता है। सभी सुख सामयिक है। यदि हम दिन-रात संगीत सुनते रहे तब संगीत आनन्दमय नहीं रह जाता उसी प्रकार यदि एक व्यक्ति हर समय रंग देखता है तब उसे रंग देखना बहुत आनन्दमय नहीं होगा। अमरत्व की अवस्था में आत्मा सभी इच्छाओं और जगत् की आशक्ति से अनाशक्त रहती है।

पुनर्जन्म का विचार हिन्दू धर्म की सभी शाखाओं में स्वीकृत है। भगवत्गीता का कहना है कि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होना निश्चित है। अत: मृत्यु से चिन्तित होना नहीं है। लेकिन जन्म संस्कार और इच्छाओं के अनुरूप होता है। जो अशुभ संस्कारों में रहते हैं उनका जन्म दैत्य की योनि में होता है। लेकिन साधु और संत का जन्म संत की योनि में होता है। ऐसे व्यक्ति जो अशुद्ध विचार के हैं तथा भौतिक विचार के हैं उनका जन्म निम्न स्तर में होता है। वे बार-बार जन्म लेते हैं और जिसका ईश्वर के साथ कोई एकात्म नहीं होता। लेकिन जो ईश्वर के साथ एकत्व की स्थापना करते हैं और जो भौतिक वस्तुओं के प्रति अनासक्त के भाव रखते हैं वही व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। उनका जन्म या पुनर्जन्म नहीं होता। उनका ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित होता है। वैसे व्यक्ति जिनमें न भय है और न क्रोध है न राग-द्वेष है वे ईश्वर के साथ एकत्व की प्राप्ति करते हैं।

ईश्वर की प्राप्ति या मोक्ष की प्राप्ति जो हिन्दू धर्म का चरम उद्देश्य है तीन प्रकार के गुणों से ऊपर उठने पर होता है। भगवत्गीता ईश्वर की प्राप्ति के लिए तीन भिन्न युगों की चर्चा करता है। ये लोग हैं—ज्ञान योग, भक्ति योग तथा कर्म योग। ईश्वर की प्राप्ति के लिए तीन मार्ग बताये गये हैं। लेकिन ज्ञान योग ईश्वर की प्राप्ति के लिए एक सीधा मार्ग बताया गया है।

मोक्ष की प्राप्ति उन्हीं आत्माओं के लिए सम्भव है जो अनासक्त हैं, इसके लिए हर व्यक्ति को अपना ध्यान दैविक आत्मा जो उसके अन्दर विद्यमान है उस पर केन्द्रित करना है। यही अंतरात्मा ईश्वर है। यदि एक व्यक्ति अपने निम्न जीवात्मा को नियंत्रित कर लेता है तब उसे ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है।

हिन्दू धर्म में दो प्रकार की विचारधाराएँ देखने को मिलती हैं। इन्हें क्रमश: निरपेक्षवादी तथा ईश्वरवादी विचारधारा कहा जाता है। कुछ उपनिषद् निरपेक्षवादी विचारधारा को स्वीकारते हैं तथा कुछ ईश्वरवादी विचारधारा को। ईश्वरवादी विचारधारा के अनुसार मोक्ष का अर्थ जीवात्मा का ईश्वर के साथ एकत्व की स्थापना है। ईश्वर और आत्मा के बीच द्वैत रहता है। आत्मा ईश्वर के समान होता है और दैविक गुणों की प्राप्ति करता है। लेकिन आत्मा न तो ईश्वर बनता है न ही यह पूर्ण रूपेण ईश्वर

के साथ एकत्व की स्थापना करता है। निरपेक्षवादी विचारधारा एक वाद को स्वीकारती है और आत्मा को निरपेक्ष का एक प्रतिबिम्ब मानती है।

इस विचारधारा के अनुसार निरपेक्ष सत्ता ही केवल यथार्थ है तथा आत्मा अयथार्थ है। इसके अनुसार मोक्ष में सीमित व्यक्ति की कोई यथार्थ सत्ता नहीं है। निरपेक्ष सत्ता ही केवल अस्तित्ववान होता है। इस विचार के अनुसार मोक्ष का मतलब पुनर्जन्म से मुक्त होना है तथा परम ब्रह्म की प्राप्ति करना है। व्यक्ति सच्चिदानन्द हो जाता है और जगत् से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है। इस विचार के अनुसार एक मात्र ब्रह्म ही अस्तित्ववान है और अन्य सभी असत्य हैं। सभी सीमित सत्ताएँ चाहे वे मानसिक हों या भौतिक अयथार्थ हैं। सीमित प्राणियों का अपना अस्तित्व नहीं है क्योंकि वे सभी निरपेक्ष सत्ता के प्रतिबिम्ब हैं। हिन्दू धर्म की इन दोनों विचारधाराओं को स्रोत शंकर का अद्वैत वेदान्त तथा रामानुज का विशिष्टाद्वैत है। अद्वैत विचारक ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं और वे यह भी स्वीकारते हैं कि मोक्ष ब्रह्म के साथ एकात्म हो जाने की अवस्था है। यह अवस्था सत्-चित् और आनन्द की अवस्था है। एक व्यक्ति परम ब्रह्म बन जाता है और जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।

इसके विपरीत ईश्वरवादी विचारधारा के अनुसार आत्मा को ईश्वर का एक अंग माना जाता है। इसके अनुसार मोक्ष प्राप्ति का अर्थ है व्यक्ति का ईश्वर के गुणों से विभूषित हो जाना। इस अवस्था में व्यक्ति ईश्वर के सम्पर्क में आता है और उसके साथ साहचर्य की स्थापना करता है। आत्मा में ईश्वर के गुण जैसे सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्व-व्यापकता की प्राप्ति हो जाती है। इस विचारधारा के अनुसार आत्मा और ईश्वर के बीच द्वैत शाश्वत रूप में रहता है। यहाँ मोक्ष प्राप्ति का अर्थ ईश्वर के साथ सम्पर्क स्थापित करना है। बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म के विपरीत, किसी शाश्वत आत्मा की सत्ता नहीं स्वीकारता। इस जगत् की प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। कोई भी ऐसी शाश्वत आत्मा नहीं है जिसका जन्म और पुनर्जन्म होता है। जगत् की वस्तुएँ तदनन्तर परिवर्तनशील होती हैं और घटित होने के लिए विभिन्न कारणों पर निर्भर करती हैं। एक वस्तु तो अस्तित्ववान है अपने कोरश पर निर्भर करती है और पुन: वह कारण वस्तु दूसरे कारण पर निर्भर करती है। व्यक्ति के जन्म का कारण उसके माता-पिता हैं और पुन: उनके जन्म का कारण उनके माता-पिता हैं और इस तरह प्रक्रिया चलती रहती है। बौद्ध विचारक मानते हैं कि कारण-कार्य का सम्बन्ध असीमित रूप से चलता रहता है। बौद्ध धर्म में एक शाश्वत स्वयंभू, स्वतंत्र तथा अपरिवर्तनशील आत्मा की सत्ता नहीं स्वीकारी जाती है। जबकि हिन्दू धर्म में आत्मा को शाश्वत, स्वयंभू और अपरिवर्तनशील सत्ता के रूप में पाया गया है।

यद्यपि कि बौद्ध धर्म शाश्वत आत्मा की सत्ता में अविश्वास करता है फिर भी वह पुनर्जन्म में विश्वास करता है। बौद्ध धर्म के अनुसार हर क्षण एक वस्तु समाप्त होती है और एक नयी वस्तु का अस्तित्व कायम हो जाता है। नये तत्त्व अपने कारण पर निर्भर करते हैं। पूर्ववर्ती घटनाएँ या सत्ताएँ इनका कारण होती हैं। बौद्ध धर्म यह विश्वास

करता है कि पूर्वजन्म में कोई सत्ता एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। ये केवल अपने कारणों पर आधारित रहती है। जिस प्रकार एक दीपक से दूसरा दीपक जलाये जाने पर पहला दीपक दूसरे दीपक के रूप में बदल नहीं जाता उसी प्रकार विना एक आत्मा को दूसरे शरीर में प्रवेश किए हुए पुनर्जन्म हो जाती है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार पुनर्जन्म व्यक्ति के कर्मों पर निर्भर करता है। ये कर्म ऐसे होते हैं जो ऐक्षिक वस्तुओं के साथ आशक्त होने से होते हैं। ये कर्म हमारे अज्ञान पर निर्भर करते हैं। पुनर्जन्म व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर करता है। घ्यक्ति जन्म कैसा लेता है वह इस बात पर निर्भर करता है कि पिछले जन्म में हमारे कैसे कर्म रहे हैं। अत: जन्म पिछले किये हुए कर्मों का प्रभाव है। यह विज्ञान है जो मन और शरीर की व्यवस्था रखता है। लेकिन जब व्यक्ति जन्म लेना छोड़ देता है तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। वस्तुत: मन और शरीर की व्यवस्था ही पुनर्जन्म लेती है। मन शरीर की व्यवस्था समाप्त होती है और दूसरा अस्तित्ववान होती है। यह दूसरा मन और शरीर की व्यवस्था पहले मन और शरीर की व्यवस्था पर निर्भर करती है। यह ठीक है कि इनके नाम अलग-अलग हो जाते हैं। नागसेन के शब्दों में—

> "It is not this name and form that is born into the next existence, but with this name and form, your Majesty, one does one dead—it may be good, or it may be wicked—and by reason of this deed another name and form is born into the next existence."[1]

इस प्रकार जन्म और पुनर्जन्म की शृंखला चलती रहती है।

प्रत्येक क्षण हर व्यक्ति का अन्त होता है और दूसरे ही क्षण दूसरे जीवन की उत्पत्ति होती है। वे ही कारण जिससे व्यक्ति का अन्त होता है दूसरे जीवन का कारण बन जाता है। पुन: नागसेन ने लिखा है—

> "Although the name and forms which is born into the next existence and is different from the name and form which is to end at death, nevertheless it is sprung from it."[2]

बौद्ध धर्म आत्मा के अस्तित्व में अविश्वास करता है। उसका तर्क है कि यदि आत्मा देखती है और सुनती है न कि हमारी आँखें और कान देखते सुनते हैं तब इन अंगों को काट देने पर आत्मा और भी स्पष्ट रूप से वस्तुओं को देख पाती, लेकिन ऐसा नहीं हो पाता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा को देखने और सुनने की क्षमता नहीं है। सुनने और देखने का काम हमारे शारीरिक अंगों का है। इस तरह काम हमारी मस्तिष्क और हमारी नश तंतुएँ करती हैं। इसलिए बौद्ध धर्म के अनुसार आत्मा का अस्तित्व

---

1. Milindapanho, 45. 5.
2. Ibid.

स्वीकारना एक अंधविश्वास है। कुछ का तर्क है कि यदि आत्मा अस्तित्ववान है तब इसके कौन से गुण हैं? और यदि इसके गुण नहीं होते तब इसका अनुभव भी नहीं हो सकता। वस्तुत: बौद्ध दर्शन के अनुसार जो भी अस्तित्ववान है उसे हम विज्ञान या चेतना के नाम से जानते हैं न कि आत्मा के नाम से। विज्ञान भी तदनन्तर परिवर्तनंशील है, हर क्षण यह भी समाप्त होता है और नये विज्ञान को जन्म देता है। वस्तुत: चेतना या विज्ञान का तदनन्तर समाप्त होना और इसके जन्म लेने की प्रक्रिया ही आत्मा के होने का भ्रम उत्पन्न कर देती है। शाश्वत आत्मा में विश्वास करने से ही कई तरह की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

बौद्ध दर्शन इस बात में भी विश्वास नहीं करता कि कोई दैविक आत्मा का अस्तित्व हममें विद्यमान हो। एक व्यक्ति मात्र विशेष अणुओं का संघात है इसी से चेतना उत्पन्न होती है और इसी से जीवन और शरीर उत्पन्न होता है। मनुष्य भौतिक तत्त्वों के तदनन्तर परिवर्तन का संग्रह है जिसका अस्तित्व पूर्ववर्ती कारणों पर निर्भर करता है। यदि कारण में उत्पन्न करने की क्षमता नहीं हो तब पुनर्जन्म का होना सम्भव नहीं होता। बुद्ध का विचार है कि कारण में इस प्रकार की क्षमता का उत्पन्न होना उसे व्यक्ति विशेष की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि व्यक्ति में इच्छा नहीं होती तब पुनर्जन्म की संभावना ही समाप्त हो जाती। विसुदी मागा के शब्दों में—

"The old age and death of the constituents of beings exist when birth exists, birth when existence exists, existence when attachment exists, attachment when desires exist, sensation when contact exists contact when the six organs of sense exist, the six organs of sense when name and form exist, name and term when consciousness exists, consciousness when karma exists, karma when ignorance exists."[1]

बौद्ध धर्म के अनुसार एक जीवित प्राणी भी तदनन्तर परिवर्तनशील होने वाले विभिन्न तत्त्वों का वर्ग है जिससे एक विशेष वस्तु की रचना होती है। पुनर्जन्म पाँच स्कंध, जैसे—शरीर, भावना, प्रत्यक्ष चेतना आदि की कड़ी है। इन्हीं पाँचों स्कंध के साथ जन्म शुरू होता है। इस तरह एक जीवन और दूसरे जीवन के बीच तारतम्यता होती है लेकिन तारतम्यता और अमरत्व के बीच अंतर है। अमरत्व की अवस्था में इस तरह के परिवर्तन की तारतम्यता नहीं होती। एक व्यक्ति को बराबर वर्तमान में रहने का अर्थ है कि जीवन और मृत्यु की शृंखला का होना। जन्म और मृत्यु के बीच अभिन्न सम्बन्ध है।

बौद्ध धर्म के अनुसार एक व्यक्ति जब निर्वाण की प्राप्ति करता है तब वह शाश्वत सर्वग्यता को हासिल करता है। निर्वाण की प्राप्ति तब होती है जब कि 'मैं' का अस्तित्व

---

1. Visudhi Magga—Chapter-19. Quoted in Buddhism in translations, Eng. Trans. by Henry Clarke Warren, p. 244.

समाप्त हो जाता है। 'मैं' एक ऐसा व्यक्ति है जो पाँच स्कंधों से रचित होता है। जब ये पाँचों स्कंध समाप्त हो जाते हैं तब सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। निर्वाण की अवस्था में इस जगत् के अस्तित्ववान वस्तुओं के प्रति अनासक्त का भाव रहता है। निर्वाण सांसारिक अवस्था नहीं होती है। इस तरह की व्यवस्था की प्राप्ति अनासक्त भाव से तथा इस जगत् की वस्तुओं से स्वतंत्र होने पर होती है। एडवर्ड कोज ने लिखा है—

"Salvation can be summed up in three negations—Non attainment, non assertion, non-relying—and positive attribute—omniscience, Nirvana cannot be attained. It is a state of non-existence or Sunyata. In emptiness there is neither attainment nor non-attainment."[1]

निर्वाण प्राप्ति की तीन अवस्थाएँ हैं जिन्हें क्रमशः अर्हत प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्व कहा जाता है। अर्हत वह व्यक्ति होता है जिसने पूर्णता की प्राप्ति कर ली है लेकिन वह बुद्ध नहीं है। वह अर्हत प्राप्त व्यक्तियों को शिक्षा नहीं दे सकता है। प्रत्येक बुद्ध अपने बल पर तथा अपने लिए पूर्णता की प्राप्ति करता है। बोधिसत्व प्राप्त किया हुआ व्यक्ति बुद्ध कहा जाता है जो स्वतः प्रकाशमान होकर संबोधि की प्राप्ति करता है। यह कड़ी निर्वाण की अवस्था है। यही सबसे महान् अवस्था मानी जाती है। अर्हत प्राप्त व्यक्ति अपने को सभी बंधनों से मुक्त कर लेता है। वह अपने लिये पूर्णता की प्राप्ति करता है। आनन्द ने लिखा है—

"Lord, he who is Arhat, who has won his own salvation, has utterly destroyed the fetters of becoming, who is by perfect wisdom emancipated, to him there does not occur the thought that they are better than I, or equal to me, or less than I".[2]

अर्हत अपने को सभी बंधनों से मुक्त कर निर्वाण की प्राप्ति में संलग्न हो जाता है। वह इच्छारहित तथा अनाशक्त प्राणी है। वह सिर्फ अपने लिये निर्वाण की प्राप्ति करने को सोचता है। वह अपने और दूसरों के बीच अन्तर मानता है। यह ठीक है कि उसमें बोधि चेतना का प्रादुर्भाव हो जाता है लेकिन वह अपने अस्तित्व के साथ पूर्णतः आसक्त रहता है। वह सोचता है कि उसने निर्वाण की प्राप्ति कर ली है जबकि दूसरे लोग अज्ञान के बंधन में जकड़े हुए हैं। अर्हत प्राप्त व्यक्ति स्वयं तो निर्वाण की प्राप्ति कर लेता है जबकि दूसरों के अज्ञान और दुःख को समाप्त करने का प्रयास नहीं करता। इस प्रकार अर्हत अपने और दूसरों के बीच के भेद को स्वीकारता है।

'Visudhi Magga–Chapter-19 Quoted in Buddhism in translations, Eng. Trans. by Henry Clarke Warren, p 135.

2. Samyutta Nikaya, iii, 359.

प्रत्येक बुद्ध भी अपने लिये निर्वाण की प्राप्ति करता है। लेकिन अर्हत की अपेक्षा इनमें आध्यात्मिक भाव ज्यादा व्यापक होता है। प्रत्येक बुद्ध अपने और दूसरों के बीच भेद करता है वह दूसरों द्वारा प्राप्त निर्वाण की प्रतीक्षा नहीं करता है। ऐसे व्यक्ति अपने को शरीर, जीवन, मन, दुःख और सुख सभी से अनाशक्त कर लेते हैं। द्वाऐत गोडार्ड ने लिखा है—

> "The term, Pratyeka—Buddha as used by both schools, means a discipline or an arhat who is selfishly desiring Nirvana for his own satisfaction. Such a desciple, according to the Mahayana school has ceased to follow the path at the seventh stage of Bodhisattvahood and passes to his Nirvana. But after a Bodhisattva attains the eighth stage there is, thereafter, 'no more recension', and he ascends in the realisation of the highest perfect wisdom which constrains him, instead of passing of Nirvana, to return to the Saha World of ignorance and suffering for its liberation and enlightenment."[1]

तीसरी अवस्था बोधिसत्व की अवस्था है। बोधिसत्व प्राप्त व्यक्ति जगत् में आदि मानव के समान है। इस तरह के व्यक्ति निर्वाण की प्राप्ति सिर्फ अपने लिये नहीं करते बल्कि समस्त मानव प्राणी को निर्वाण प्राप्ति कराने का अभ्यास कराते हैं। बोधिसत्व प्राणी इन तत्त्वों से अपने को हटा लेते हैं जो तत्त्व जीव को निर्माण करने में सहायक होता है। करुणावश इस तरह के व्यक्ति दूसरों का भला चाहते हैं। प्रज्ञापस्मीता में लिखा है कि—

> "Doers of what is hand are the buddhisattva, the great beings who have set out to win supreme enlightment. They do not wish to attain their own private Nirvana, On the contrary, they have surveyed the highly painful world of being, and yet desirous to win supreme enlightment, they do not tremble at birth and-death. They have set out for the benefit of the world, out of pity for the world."[2]

बौद्ध धर्म के हीनयान स्कूल के अनुसार एक व्यक्ति जब निर्वाण की प्राप्ति कर लेता है तब उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। निर्वाण की अवस्था विनाश की अवस्था है। यह कोई आध्यात्मिक अवस्था नहीं है। निर्वाण प्राप्ति के बाद व्यक्ति अस्तित्व विहीन हो

---

1. A Buddhist Bible, p. 656.
2. Budhism : Its Essence and Development, p. 128.

जाता है। हीनयान स्कूल के विचारक इस बात पर जोर देते हैं कि निर्वाण की प्राप्ति, प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रयास से करता है। व्यक्ति को निर्वाण की प्राप्ति में कोई भी दूसरा मदद नहीं करता। इसके विपरीत महायान स्कूल निर्वाण को बोधिसत्व की भावात्मक अवस्था मानता है। बोधिसत्व वे हैं जिन्होंने बोधि चेतना की प्राप्ति की है और जिनमें मानव जाति के प्रति प्रेम है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति दूसरों के निर्वाण प्राप्ति के लिए तत्पर रहते हैं। इन्हें करुणाचित कहा जाता है। निर्वाण की अवस्था में व्यक्ति आनन्द और चेतना की प्राप्ति करता है। अतः निर्वाण की अवस्था आनन्द की अवस्था है।

इस प्रकार आत्मा की धारणा और उसके स्वरूप को लेकर हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म दोनों के विचार भिन्न प्रतीत होते हैं। यहाँ तक कि पुनर्जन्म की धारणा भी दोनों की विचारधाराओं में भिन्न है। मोक्ष के विचार को लेकर भी दोनों धर्म समान नहीं दिखते। लेकिन दोनों कर्म सिद्धान्त को मानते हैं और यह भी स्वीकारते हैं कि कर्म सिद्धान्त का उनके नीति दर्शन और धर्म पर प्रभाव पड़ता है।

मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को लेकर बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के बीच कुछ समता दीख पड़ती है। हिन्दू धर्म में मोक्ष प्राप्ति की मुख्यतः चार पद्धतियाँ बताई गई हैं जिन्हें क्रमशः राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्ति योग कहा जाता है। ये सारे योग ईश्वर के साथ आत्मा का एकात्म होने के लिए किया जाता है। मन को संतुलित रखना राज योग है। ज्ञान योग की प्राप्ति ज्ञान के आधार पर होती है। कर्म योग स्वार्थ रहित कर्म से होता है। और भक्ति योग ईश्वर के प्रति प्रेम रखने से होता है। संवेदनशील व्यक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम जैसे रास्ते को अपनाते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति स्वार्थहीन कर्म की बात करते हैं। चाहे जिस रास्ते पर चला जाय उद्देश्य एक ही है। और बहुउद्देश्य है मोक्ष की प्राप्ति। भगवत्गीता इन मार्गों के बीच समन्वय की स्थापना करती है। विना भक्ति का ज्ञान मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं है और विना भक्ति के पूरा ज्ञान की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है। उसी प्रकार विना ज्ञान की भक्ति भी अंधविश्वास है। ऐसा माना जाता है कि सर्वोच्च अवस्था में ज्ञान और भक्ति दोनों समान हो जाते हैं। गीता का उपदेश है कि भक्ति ज्ञान और कर्म मोक्ष की प्राप्ति कराते हैं। भागवत पुराण भी योग के सभी मार्गों के बीच एकता की बात करता है।

> "The Bhagvata Purana also speaks of the unity of Yogic Paths thus : The Yoga of devotion being fixed on Lord Vasudeva, brings forth instantaneously Vairagya (Non-attachment) and jnana (knowledge) that is revealed directly."[1]

हिन्दू धर्म यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के साथ एकत्व की स्थापना कर सकता है। ईसामसीह, मोहम्मद तथा बुद्ध ने जिस प्रकार अपने जीवन की प्राप्ति की है

---

1. Bhagvata Purana, 1, ii, 7.

ठीक उसी प्रकार हर व्यक्ति अपने प्रयास के बल पर जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है। हिन्दू धर्म के अनेकों संतों ने ईश्वर के साथ एकात्म सम्बन्ध की स्थापना की है। उन्होंने ऐसा नहीं कहा है कि दूसरे लोग जीवन के इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। हिन्दू धर्म तो उन मार्गों की विवेचना करता है जिन मार्गों पर चलकर कोई भी व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। हिन्दू धर्म के अनेकों संतों ने ईश्वर के साथ एकात्म संबंध की स्थापना की है। उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि दूसरे लोग जीवन के इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। हिन्दू धर्म तो उन मार्गों की विवेचना करता है जिन मार्गों पर चलकर कोई भी व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। यहाँ हिन्दू धर्म द्वारा बताए गये विभिन्न मार्गों का क्या महत्त्व है इसकी चर्चा निम्न रूप से की जा सकती है।

राजयोग के प्रवर्तक पतंजलि माने जाते हैं। राजयोग मन की उन वृत्तियों को रोकता है जो आध्यात्मिक सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में अवरोध उत्पन्न करते हैं। पतंजलि ने राजयोग की चर्चा करते हुए लिखा है—

> "Yoga is cessation of the function of mind."
>
> "Yama-truthfulness, non-stealing continence and non-receiving of any gift. Next is Niyama cleanliness, contentment, auserity study and self surrender of God. The come Asana, or posture, Pranayana, or control of Prana, Pratyahara, or restraint of the senses from their objects, Dharana, or fixing the mind on a spot, Dhayana, or meditation and Samadhi, or super consciousness."[1]

राजयोग के अभ्यास से मन और शरीर संतुलित एवं नियंत्रित रहता है। यम तथा नियम राज्य योगी की नैतिक शिक्षा है। योग के अभ्यास के लिए नैतिक आधार का होना आवश्यक है। यम का सम्बन्ध कुछ न बोलना, चोरी न करना तथा जीवों की हत्या न करने से है। यम का अर्थ मन, वचन और कर्म से अशुभ की उत्पत्ति नहीं करना है। यह अहिसा का ही रूप है। नियम का सम्बन्ध अच्छी आदतों को डालना है। इसका सम्बन्ध स्वच्छ, संतोष, तपस, स्वध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान से है। स्वच्छ का अर्थ शारीरिक एवं मानसिक प्रताड़ना को बर्दास्त करने से है। स्वाध्याय का सम्बन्ध धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन से है और ईश्वर प्रणिधान का सम्बन्ध ईश्वर के ध्यान से है। आसन का अर्थ शरीर को आराम से एक मुद्रा में रखने से है। इसमें मन और शरीर नियंत्रित होता है। प्राणायाम का सम्बन्ध स्वास्थ्य के नियंत्रण से है। इससे मन केन्द्रित होता है। प्रत्याहार का सम्बन्ध अपनी इन्द्रियों को वस्तुओं से खिंचने से है। जब इन्द्रियाँ मन द्वारा नियंत्रित होती हैं तब इनका बाह्य वस्तुओं से बंधन समाप्त हो जाता है। धारण का सम्बन्ध अपने मन को ऐच्छिक दस्तु पर केन्द्रित करने से है। ऐच्छिक वस्तु कोई भी बिन्दु हो सकती है

---

1. What Religion is : Swami Vivekananda, p. 103.

या ईश्वर की प्रतिमा हो सकती है। ध्यान का अभ्यास पूर्ण रूप से परिपक्व व्यक्ति ही कर सकते हैं। इस अवस्था में मन और शरीर बाह्य एवं आन्तरिक संवेदनाओं से प्रभावित नहीं होते। समाधि योग का चरम बिन्दु है जिसके बाद मोक्ष की प्राप्ति ही बच जाती है। इस अवस्था में व्यक्ति बाह्य जगत् से बिल्कुल सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है और आत्म जगत् की वस्तुओं से स्वतंत्र हो जाती है। समाधि के बाद की अवस्था मोक्ष की है। इसका सम्बन्ध ईश्वर के साथ एकात्म की स्थापना करना है। इसी से परम आनन्द और पूर्णता की प्राप्ति होती है।

ज्ञान योग हिन्दू धर्म के अनुसार एक दूसरा मार्ग है जिस पर चल कर व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करता है। राम कृष्ण परमहंस के अनुसार ज्ञान योग का अर्थ ज्ञान के आधार पर ईश्वर के साथ एकत्व की स्थापना करना है। ज्ञानी का उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति है। ज्ञान योग के आधार पर ही व्यक्ति सत्य और असत्य, यथार्थ और अयथार्थ, ईश्वर तथा जगत् के बीच भिन्नता कर पाता है। ज्ञान योगी ज्ञान प्राप्ति के बाद सच्चिदानन्द का रूप ले लेता है। वह इस बात से आश्वस्त हो जाता है कि यह जगत् मिथ्या है, अयथार्थ है। विवेकानन्द ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

> "If we have known the Atman, as it is, if we have known that there is nothing else but the Atman, that everything else is but a dream, with no existence in reality than this world with its poverties, its miseries, its wickedness, and its goodness will cease to disturb us. If they do not exist, for whom and for what shall we take trouble. This is what the Jnyanayogis teach."[1]

ज्ञान योग की चार अवस्थाएँ हैं और वे हैं विवेक, वैराग्य, सत् सम्पत्ति, मुमुक्षत्व, विवेक की अवस्था में ज्ञान योगी केवल विचार करता है। वह ध्यान रखता है कि वह मन, शरीर या जीवन नहीं है। वैराग्य का अर्थ सांसारिक वस्तुओं से अपने को स्वतंत्र करना है। सत् सम्पत्ति का सम्बन्ध अपने इन्द्रियों और राग-द्वेषों को नियंत्रित करना है। मुमुक्षत्व का सम्बन्ध इस जगत् से स्वतंत्र होकर सत, चित् और आनन्द की प्राप्ति करना है।

हिन्दू धर्म के कर्म मार्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे ही कर्म योग के नाम से पुकारा जाता है। कर्म योग एक नैतिक मार्ग है जिसके आधार पर मोक्ष की प्राप्ति की जाती है। कर्म योग का पालन नैतिक और सामाजिक कर्मों को करने से है। इस मार्ग पर चलकर भी व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। लेकिन ऐसा तभी सम्भव है जब कि हमारे सभी कर्म अनासक्त भाव से किये गये हों। गीता में भी इसी संदर्भ में निष्काम कर्म की चर्चा की गयी है। साधारणत: व्यक्ति जगत् की वस्तुओं से अपने को अनासक्त मानता है। हिन्दू धर्म का विचार है कि हम आज बंदी हैं या हमारी आज जो भी अवस्था है वह अतीत

---

1. What Religion is : Swami Vivekananda, pp. 84-85.

में किये गये कर्मों का परिणाम है। कल हमारी अवस्था क्या होगी वह हमारे इस बात पर निर्भर करती है कि आज हमारे कर्म कैसे हैं। कर्म और पुनर्जन्म एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। हमारे कर्म बराबर हमारे चरित्र को बनाते या बिगाड़ते रहते हैं अतः मानव का जीवन इसके संस्कारों पर टिका है।

कर्म योग ईश्वर की प्राप्ति कराने में सहायक होता है कर्म योगी यह महसूस करते हैं कि उसका सच्चा उद्देश्य इस जगत् के वस्तुओं के प्रति लिप्सा रखने में नहीं बल्कि इन वस्तुओं से अनासक्त होने में है। व्यक्ति यह महसूस करने लगता है कि आनन्द, पूर्णता, ज्ञान और ईश्वर की प्राप्ति इस जगत् में होना संभव नहीं है। वैसे कर्म जो स्वार्थ पूर्ण किये जाते हैं हमें इस जगत् से बाँध देते हैं। लेकिन इसका यह भी अर्थ नहीं है कि मोक्ष की प्राप्ति निष्क्रिय होने से होती है। प्रत्येक व्यक्ति को इस जगत् में कर्म करना है और यदि व्यक्ति अपने कर्मों को विना उसके परिणाम के विषय में सोचे हुए करता है तभी उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए गीता का उद्देश्य कर्मों की स्थापना नहीं है बल्कि कर्म में सुधार लाना है।

कर्म योग तो गृहस्थ जीवन का मार्ग है। इसमें व्यक्ति इस जगत् में रहते हैं लेकिन इस जगत् की वस्तुओं से अनासक्त रहता है। एक गृहस्थ को ईश्वर के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखनी होती है। इसके साथ ही इसे कर्म के परिणाम की चिंता किये हुए अपने कर्तव्य का पालन करना होता है। इस तरह सामाजिक तथा नैतिक कर्म करते हुए और त्याग की भावना रखते हुए एक व्यक्ति ईश्वर के साथ एकत्व की स्थापना कर पाता है। विवेकानन्द ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

> "If you want to live in the world, live like these birds, ready at one on moment to sacrifice yourself for others. If you want to renounce the world, be like that young man to whom the most beautiful woman and a kingdom were as nothing. If you want to be a househoIar, hold your life a sacrifice for the welfare of others, and if you choose the life of renanciation, do not even look at beauty and money and power. Each is great in his own place, but the duty of one is not the duty of the other."[1]

निष्काम भाव से किया हुआ कर्म यदि गलत परिणाम देता है तब व्यक्ति को कोई हानि नहीं पहुँचती। साथ ही ऐसे कर्म करने से व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं के प्रति अधिक लिप्सा नहीं रखता। कर्म दो प्रकार के होते हैं जिन्हें क्रमशः प्रवृत्ति तथा निवृत्ति कहा जाता है। प्रवृत्ति वह कर्म है जो 'मैं' के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। इसके विपरीत निवृत्ति वह कर्म हो जो 'मैं' के बाहर व्यक्ति को ले जाता है। यहाँ व्यक्ति यह महसूस करने

---

1. Swami Vivekananda, Karmayoga, p. 27.

लगता है कि यह जगत् मिथ्या है तथा 'मैं' और 'तुम' की भावना बेकार है। इस प्रकार कर्म योग के आधार पर हिन्दू धर्म के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति करना संभव हो जाता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म कर्म सिद्धान्त को अपने उद्देश्य की प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त मानता है।

हिन्दू धर्म में एक चौथे मार्ग की भी चर्चा मिलती है, जिसे भक्ति योग के नाम से पुकारा जाता है। भक्ति योग में एक व्यक्ति ईश्वर के प्रति असीम भक्ति और श्रद्धा के आधार पर मोक्ष की प्राप्ति करता है। हिन्दू धर्म यह मानता है कि एक पापी व्यक्ति भी ईश्वर के प्रति भक्ति रखकर अपने को धार्मिक बना सकता है। यह बताया जाता है कि ईश्वर के प्रति श्रद्धा समर्पण और भक्ति रखते हुए व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति कर लेता है। यह ठीक है कि ईश्वर का कुछ ज्ञान रखना आवश्यक है। ईश्वर के कई तरीके बताये गये हैं जिनमें उनकी पूजा, प्रार्थना, भजन और ईश्वर का नाम लेना है। प्रार्थना में ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ अैर शुभ होने की बात की जाती है। भक्त मंदिर, मस्जिद और गिरजाघर में बैठकर ईश्वर की प्रार्थना करता है और उससे एकात्म होने की बात करता है। भक्त ईश्वर की पूजा सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए नहीं करता है क्योंकि इन वस्तुओं की प्राप्ति आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं करा सकते। प्रार्थना का प्रयोजन ही है ईश्वर के साथ एकत्व होकर आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति करना।

भक्ति में कुछ नैतिक तत्त्व भी मिले होते हैं जिनका कुछ कम महत्त्व नहीं होता। नैतिक आचारों का सम्बन्ध शुद्ध भोजन खाने की इच्छाओं को परिमार्जित करने तथा मन वचन और कर्म से सत्य रहने से है। शुद्ध भोजन से मन और शरीर दोनों शुद्ध रहता है। मन और शरीर की शुद्धि लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होती है। सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों पर नियंत्रण पा लेना सही भक्ति का आधार है। आत्म नियंत्रण से ही व्यक्ति अध्यात्म सत्ता की प्राप्ति कर सकता है।

भक्त द्वारा किया गया स्वार्थरहित कार्य ही उसे ईश्वर के समीप कर देता है। सत्य का पालन करना, दूसरों का भला करना, अनासक्त भाव से कार्य करना अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाना, अपरिग्रह का भाव रखना भक्ति के आवश्यक अंग माने जाते हैं। इन सब के लिए मन और शरीर को शुद्ध एवं सबल बनाना आवश्यक है। जो व्यक्ति मन से कमजोर होता है वह ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता।

हिन्दू धर्म में धार्मिक गुरु का महत्त्व आत्म-प्राप्ति के लिए आवश्यक है लेकिन गुरु का चरित्र तथा पापरहित होना आवश्यक है। उसे धन और नाम के स्वार्थ से कोई भी कार्य नहीं करना है। गुरु मानव जाति के प्रति प्रेम का भाव रखता है तथा मानव जाति को धार्मिक बनाने का प्रयत्न करता है। वह ज्ञानी होता है जो धार्मिक पुस्तकों का गहन अध्ययन करता है। गुरु प्रायः ईश्वर के समीप होता है और आम व्यक्ति का यह विश्वास होता है कि उसके प्रति श्रद्धा का भाव रखने से गुरु उसे ऐसे रास्तों का बोध करा देता है जिस पर चलकर व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो सकता है। लेकिन इस तरह

के गुरु की संख्या दुनिया में बहुत कम हैं। उन्हें खोज निकालना हर व्यक्ति का कर्तव्य है। गुरु ही हमें ईश्वर तक पहुँचाने में सफल हो सकते हैं।

धर्मों में अवतार और धर्म प्रवर्तक की भी चर्चा मिलती है। प्रवर्तक और अवतार, पुरुष सभी गुरु के गुरु माने जाते हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो ईश्वर के साथ एकात्म की स्थापना कर चुके हैं। कुछ लोगों को देवदूतों द्वारा वह सब मिला है जिससे उनका स्थान महान् पुरुषों का हो गया है। इनमें से कुछ व्यक्ति ही मानव का उत्थान कर पाते हैं। ऐसा माना जाता रहा है कि जब अधर्म का पलड़ा भारी पड़ा है तब ईश्वर अवतार लेकर इस जगत् में पैदा होता है और अधर्म का अन्धकार पुन: चला जाता है। कभी-कभी वे मोक्ष का मार्ग भी दिख जाता है। राम अवतार और कृष्ण अवतार इनमें से हैं। वे बराबर अधर्म का विनाश कर धर्म की स्थापना करने में सफल माने गये हैं।

भक्तों की कुछ खास विशेषताएँ भी हैं। यही भक्त कभी भी दूसरे धर्म के पालन करने वाले व्यक्तियों से मतभेद नहीं रखते। उनका यह विश्वास होता है कि सभी धर्म एक ही लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। इनके मार्ग अलग होते हैं। जो सही भक्त होते हैं उनमें दूसरों के धर्मों के प्रति सहानुभूति का भाव होता है। वे ईश्वर की प्राप्ति में लगे होते हैं। उनमें नैतिक बल होता है। एक भक्त सांसारिक वस्तुओं के प्रति लिप्सा को त्याग कर ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम का भाव रखता है। संसार के प्रति उसकी विरक्ति दावापूर्ण नहीं होती बल्कि स्वेक्षा से होती है। ईश्वर के समक्ष एक भक्त सभी तरह की आसक्तियों से मुक्त हो जाता है। लेकिन इस तरह की भक्ति के लिए ईश्वर के प्रति सार्वभौम प्रेम व्यक्ति को जगत् के सभी आनन्दों से उसे हटा देता है, स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—

> "That love of God grows and assumes a form which is called supreme devotion. Forms vanish, rituals fly away, looks are superseded, images, temples, churches, religions and sects, countries and nationalities—all these little limitations and bondages fell off by their own nature from him who knows this love of God. Nothing remains to bind him or fetter his freedom."[1]

एक भक्त ईश्वर के प्रति असीम भक्ति रखता है, ईश्वर की कृपा उस पर बराबर बनी रहती है चाहे वह जहाँ भी हो। ईश्वर सौंदर्य, प्रकाश, तारा और आकाश सभी में विद्यमान रहता है। उसी की चमक सभी चमकीले वस्तुओं में होती है। उसका प्रेम सार्वभौम स्वार्थरहित तथा अनासक्त होता है।

> "Bhakti fills his heart with the divine waters of the ocean of love, which is and himself. There is no place for little loves.

---

1. Swami Vivekanand, What religion is in the words of Swami Vivekanand, p. 179.

That is to say, the Bhakta's renunciation is that non-attachment for all things that an not bed, which results from great attachment to God."[1]

भक्त ईश्वर को जगत् की हर वस्तु में देखता है। वह मानता है कि प्रत्येक सजीव प्राणी में तथा निर्जीव वस्तुओं में ईश्वर का भाव होता है। वे सभी ईश्वर के ही रूप हैं। भक्त का प्रेम सबों के प्रति होता है। भगवद्गीता में लिखा है—

"He who sees that everywhere and sees everything in me, to him I am never lost, nor is he ever lost to Me. He who, having been established in oneness, worships Me dwelling in all beings— That Yogi, in whatever may be leads his life, lives in Me."[2]

भक्त इस जगत् में जो भी सफलताएँ या असफलताएँ पाता है सबको ईश्वर पर समर्पित कर देता है। उसका कोई स्वार्थपूर्ण लक्ष्य नहीं होता है। वह अपने सभी कर्मों को ईश्वर पर समर्पित करता है। भक्त यह मानता है कि उसका जीवन सामयिक है और ईश्वर के साथ एकत्व की स्थापना ही उसे शाश्वत आनन्द और अमरत्व की प्राप्ति करा लेता है। ईश्वर के प्रति भक्ति सांसारिक आनन्द की प्राप्ति के लिए नहीं होती। भक्त ईश्वर के प्रति प्रेम का प्रदर्शन कई तरह से कर पाता है। वह ईश्वर को प्रेमी मानता है, उसे अपना मालिक मानता है, उसे अपना मित्र मानता है, उसे पिता मानता है। वह अपने को ईश्वर का सेवक मानता है यद्यपि कि ईश्वर असीमित है फिर भी एक भक्त उन्हें अपने समान मानता है। ईश्वर भी अपने भक्तों को प्यार करता है वह अपने भक्तों से विशेष कुछ नहीं चाहता। वह स्वयं अपने अपार प्रेम की वर्षा करना चाहता है। भक्त भी भगवान् के प्रेम में सब कुछ भूलकर अपने को उस पर न्यौछावर कर देता है। वह स्वयं ईश्वरमय हो जाता है।

गीता में ईश्वर प्रेम की अगाध चर्चा मिलती है। पुरुषोत्तम पर अपने को आश्रित कर सारा कर्म करना ही एक मात्र लक्ष्य होता है। आत्मा का ईश्वर के साथ जब एकात्म हो जाता है तब वह परम आनन्द की प्राप्ति करता है और वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् बन जाता है। ईश्वर एक महान् सत्ता है। वह व्यक्तित्व पूर्ण है। विवेकानन्द के शब्दों में—

"All is Brahman, the one without a second, only Brahman, as unity or Absolute, is too much of an abstraction to be loved or worshipped, so the Bhakta chooses the relative aspect of Brahman,

---

1. Swami Vivekanand, **What religion** is in the words of Swami Vivekanand, p. 189.
2. Bhagwadgita, 6. 30-31.

that is, Ishvara, the Supreme Ruler "[1]

इस प्रकार हिन्दू धर्म में मोक्ष प्राप्ति के कई भागों की चर्चा मिलती है। बौद्ध धर्म में निर्वाण प्राप्ति के मार्ग हिन्दू धर्म के निर्वाण प्राप्ति के मार्ग से भिन्न है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि बौद्ध धर्म में आत्मा को एक शाश्वत सत्ता नहीं माना गया है। बौद्ध धर्म आत्मा को मानसिक प्रक्रिया का एक प्रवाह मानता है। आत्मा बौद्ध धर्म के अनुसार तदनन्तर परिवर्तनशील होने वाली सत्ता है। उसी प्रकार चेतना भी अनेकों बोधों की शृंखला है। चेतना एक द्रव्य नहीं है बल्कि क्षणिक तत्त्वों की शृंखला है। यहाँ चूँकि कोई शाश्वत और अविनाशी सत्ता नहीं है इसलिए आत्मा को मोक्ष प्राप्ति की धारणा यहाँ नहीं मिलती।

बौद्ध विचारकों के अनुसार जीवन का मुख्य उद्देश्य मानसिक शुद्धि की प्राप्ति है। इसके विपरीत हिन्दू विचारक आत्मा को उच्च स्तर पर होने की बात करते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार सारी व्यक्तित्वपूर्ण सत्ताएँ दुःख से परिपूर्ण हैं। ये सभी बन्धन की अवस्था में हैं। यह जगत् भूत तत्त्वों से सूचित है। इस जगत् में कोई स्थिर सत्ता नहीं है बल्कि तदनन्तर परिवर्तनशील सत्ता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म में भौतिक या मानसिक या आध्यात्मिक किसी भी स्तर पर स्थिर सत्ता की धारणा देखने को नहीं मिलती।

बौद्ध धर्म के अनुसार मन और शरीर आत्मा और भूत सभी प्रकृति की भौतिक सत्ताएँ हैं। जगत् की हर वस्तु का कोई कारण है। वे किसी न किसी वस्तु पर निर्भर करने वाला है। यह जगत् दुःखों से भरा है। निर्वाण की अवस्था विश्वातीत की अवस्था है। यह प्रकृति से दैविक है। केवल वे लोग जो आनन्द तथा बौद्धिकता को प्राप्त करते हैं, निर्वाण की प्राप्ति कर पाते हैं। जीवात्मा की समाप्ति के बाद व्यक्ति शाश्वत अस्तित्व को प्राप्त करता है। असीमित चेतना की व्याख्या शब्दों के माध्यम से नहीं की जा सकती। बुद्ध मध्य मार्ग को अपनाते हैं। यह मार्ग दुःख-दर्द से बिल्कुल स्वतंत्र है।

बौद्ध धर्म यह स्वीकारता है कि निर्वाण प्राप्ति के लिए संतों का जीवन यापन करना ज्यादा श्रेयस्कर है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए व्यक्ति को निर्वाण की प्राप्ति करना कठिन है। लेकिन जो घर-बार छोड़कर एकान्त जीवन में प्रवेश करता है या संघ में प्रवेश करता है वह आसानी से मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। बुद्ध का विचार है कि ब्राह्मण, जो अपने परिवार में पत्नी और बच्चों के साथ घर में निवास करते हैं वे, मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकते।

> "Full of hindrance is the household life, a path defiled by passion, free as the air is the life of him who has renounced all worldly things. How difficult it is for the man who dwells at home to live the higher life in all its fulness, in all its purity,

---

1. What Religion is in the Words of Swami Vivekananda, p. 166.

in all its perfection."[1]

बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति अष्टांगिक मार्ग पर चलने से होनी संभव है। बौद्ध धर्म यह मानता है कि निर्वाण की प्राप्ति के लिए न तो पुरोहित के पास जाना है न ही मंदिर या गिरजाघर में जाने की आवश्यकता है। कोई ईश्वर या देवता व्यक्ति को निर्वाण की प्राप्ति में कोई मदद नहीं कर सकता। निर्वाण की प्राप्ति अष्टांगिक मार्ग पर चलने के अभ्यास करने से ही संभव होता है।

अष्टांगिक मार्ग का सम्बन्ध पूर्णज्ञान, शील और समाधि से है। इन तीनों का अभ्यास करने से ही निर्वाण की प्राप्ति होनी संभव है। पूर्णज्ञान का सम्बन्ध सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् संकल्प से है। शील का सम्बन्ध सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त तथा सम्यक् जीवन से है। समाधि का सम्बन्ध सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् ध्यान से है।

चतुर्थ आर्य सत्यों का ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि के नाम से पुकारा जाता है। इसका ज्ञान कि दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख के कारण के अन्त में कुछ मार्ग है तथा निर्वाण की अवस्था है ही सम्यक् दृष्टि कहा जाता है। सम्यक् संकल्प का अर्थ अपने विचारों को क्रोध, लिप्सा तथा अशुभ विचारों से मुक्त रखना है। मन को अशुभ विचारों से स्वतंत्र रखना है, मन में अच्छे विचार विकसित करने हैं तथा इससे विचलित न होने का संकल्प लेना है। सम्यक् वाक् का सम्बन्ध सत्य बोलने से है। झूठ न बोलना, कड़ा वचन न बोलना, तथा गप्पें न हाँकना, सम्यक् वाक् के विभिन्न रूप हैं। वैसा व्यक्ति जो सम्यक् वाक् का पालन करता है विश्वासी व्यक्ति माना जाता है। वह नम्र होता है तथा उस पर भरोसा किया जा सकता है।

सम्यक् कर्मान्त का सम्बन्ध अहिंसा, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य के पालन करने से है। सम्यक् कर्मान्त से मन पवित्र होता है। इससे व्यक्ति जगत् की वस्तुओं से आसक्त नहीं होता है। सम्यक् जीवन का सम्बन्ध शुद्ध जीवन यापन करना है। अशुद्ध जीवन न जीना तथा मन को पवित्र मार्ग पर लगाना, व्यक्ति को निर्वाण प्राप्ति के लिए तैयार करता है। सम्यक् जीवन, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प को भी संलग्न रखता है। सम्यक् व्यायाम का सम्बन्ध मूलतः चार तत्त्वों से है। मन से अशुद्ध विचार तथा मन को शांत अवस्था में रखना सम्यक् व्यायाम के मुख्य रूप हैं। व्यक्ति जो इस मार्ग पर चलता है अपने इन्द्रियों पर नियंत्रण रखता है तथा राग और द्वेष को समाप्त करता है। एक व्यक्ति इस अवस्था में आनन्द की प्राप्ति करता है तथा अशुभ विचारों से अपने को मुक्त रखता है।

सम्यक् स्मृति का सम्बन्ध वस्तुओं में क्षणिक स्वरूप को समझने से है। व्यक्ति भावना मन और विचार पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए उसके वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास करता है। इस अवस्था में बौद्धिक प्रक्रिया समाप्त हो जाती है और अन्तःप्रज्ञा की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

---

1. Tevijja Sutta, A Buddhist Bihle, p. 67.

"The path consists in recollecting and meditating upon the conclusion of the intellectual mind, seeking to understand their true meaning and significance."[1]

इस अवस्था में व्यक्ति जंगल में रहना पसन्द करता है और एकान्त में वृक्ष के नीचे रहना पसन्द करता है। वह पार्थी पारकर ध्यान की मुद्रा में बैठता है। वह जगत् की वस्तुओं का सही स्वरूप समझ लेता है। व्यक्ति इस अवस्था में यह विचार करता है कि कैसे उसका शरीर उत्पन्न हुआ है, कैसे विकसित हुआ है तथा कैसे वह समाप्त होने लगता है। वह शरीर के विभिन्न अंगों पर ध्यान लगाता है। इसका दूसरा रूप भावनाओं पर ध्यान लगाने से है। वह अपनी भावनाओं का अनुभव करता है। वह अच्छी, बुरी और उदासीन भावनाओं पर विचार करता है। वह यह मानता है कि भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और समाप्त होती हैं।

"Feelings are there this clear consciousness is present in him, because his knowledge and mindfulness, and he live independent, unattached to anything in the world. Thus does the disciple, dwell in contemplation of the feelings."[2]

ध्यान की तीसरी अवस्था में व्यक्ति यह जान पाता है कि लालचीपन क्या है तथा अलालचीपन क्या है। वह यह जानने में सक्षम हो जाता हैं कि क्रोध क्या है और यह कैसे अक्रोध से भिन्न है। वह यह समझ पाता है कि स्थिर मन और अस्थिर मन में क्या फर्क है।

"He beholds how the mind arises, beholds how it passes away, beholds the arising and passing away of the mind. Mind is there, this clear consciousness in present in him, because of his knowledge and mindfulness, and he lives independent, unattached to anything in the world. Thus does the disciple dwells in contemplation of the mind."[3]

ध्यान की चौथी अवस्था में व्यक्ति क्रोध, लोभ, मोह, चंचलता, चिन्ता तथा शंका पर विचार करता है। वह जानता है कि कब इस तरह की चीजें उसमें पनपी हैं और कैसे उन्हें समाप्त किया जा सकता है। इस अवस्था में व्यक्ति रूप, वेदना, प्रत्यक्ष तथा चेतना पर विचार करता है। वह जानता है कि ये कैसे उसमें उत्पन्न होते हैं और कैसे इनका अन्त होता है। पुन: वह छ: इन्द्रियों पर भी विचार करता है।

---

1. Bwight Geddard, A Buddhist Bible, p. 652.
2. Digha Nikaya, p. 22.
3. Ibid., 22.

"He knows eye and forms, ear and sounds, nose and odours, tongue and tastes, body and touches, mind and ideas, and the fetter that arise in dependence on them, he also knows. He knows how the fetter comes to arise, knows how fetter is overcome, and how the abondoned fetter does not arise again in future."[1]

पुन: निर्वाण प्राप्ति के उत्सुक व्यक्ति अपना ध्यान सात तत्त्वों में लगाते हैं।

"The disciple dwells in contemplation of the phenomena, namely of the seven elements of the enlightenment. The disciple knows when there is **Attentiveness** in him, when there is **Investigation of the law** in him, when there is **Enthusiasm** in him, when there is **Tranquiltty** in him, when there is concentration in him, when there is **Equanimity** in him. He knows when it is not in him, knows how it comes to arise, and how it is fully developed."[2]

सम्यक् समाधि अष्टांगिक मार्ग की अन्तिम अवस्था मानी जाती है। सम्यक् समाधि सुव्यवस्थित अभ्यास और शिक्षा से विकसित होती है। जो व्यक्ति पूर्ववत् सातों नियमों से अपने जीवन को नियंत्रित कर पाता है वह सभी प्रकार के राग द्वेष से अपने को मुक्त कर लेता है। वह अपने को अशुभ विचारों से भी मुक्त कर लेता है। और तब वह एक कदम बढ़ते हुए सम्यक् समाधि की चार गहन अवस्थाओं में प्रवेश करता है। इन अवस्थाओं में वह तब तक रहता जब तक कि वह निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर लेता। इन अवस्थाओं की शिक्षा व्यक्ति में मानसिक समाधि की आदत डालने में सक्षम होती है। धम्मपद में लिखा है—

Thōse who are wise, meditative, strenupus and advancing even steadily attain the supreme happiness, Nibhana, the freedom from fear."[3]

एक व्यक्ति जिसने नैतिक मूल्यों की शिक्षा ली है और जिसने अपनी इन्द्रियों का नियंत्रण कर लिया है तथा जो मन को स्थिर रखने में सक्षम है समाधि के लिए अपने को तैयार कर चुका होता है। सम्यक् समाधि अष्टांगिक मार्ग की एक ऐसी अवस्था है जिस पर चलकर निर्वाण की प्राप्ति की जा सकती है। सम्यक् समाधि की चार अवस्थाएँ हैं। इन्हें क्रमश: तर्क करने की अवस्था, तर्क रहित अवस्था, आनन्द से अनासक्त होने की अवस्था तथा निर्वाण प्राप्ति की अवस्था कहते हैं। पहली अवस्था में चतुर्थ आर्य सत्यों का ज्ञान रहता है।

---

1. Digha Nikaya, p. 22.
2. Majjhima Nikaya, p. 118.
3. Dhammapada, Verse, p. 23.

"Detached from sensual objects, detached from demeritorious things, the disciple enters into the first trance which is accompained by verbal thought and Rumination, is born Detachment, and filled with Rapture and Hapiness."[1]

दूसरी अवस्था में तर्क के लिए कोई जगह नहीं होती। साधक चार आर्य सत्यों में पूर्ण विश्वास रखने लगता है। वह आनन्द और शांति का अनुभव करता है। बुद्ध ने कहा है—

"After the subsiding of verbal thought and rumination, and by the gaining of inward tranquillisation and oneness of mind, he enters into a stage free from verbal thought and rumination, the second trance, which is born of concentration and filled with Rapture and Happiness."[2]

तीसरी अवस्था आनन्द से भी अनासक्त की अवस्था है। साधक आनन्द से उदासीन हो जाता है। समाधि की चौथी अवस्था में व्यक्ति शारीरिक बोध से भी अनासक्त हो जाता है। इस अवस्था में वह निर्वाण की प्राप्ति करता है। वह अपने सभी इन्द्रियों को नियंत्रण में ले लेता है। वह अर्हत की प्राप्ति कर लेता है।

"After the giving up of pleasure and plain, and through the disappearance of previous joy and grief, he enters into a state beyond pleasure and pain, into the fourth trance, which is purified by equanimity and attentiveness."[3]

बौद्ध धर्म के अनुसार अष्टांगिक मार्ग, जिसका सम्बन्ध ज्ञान, व्यवहार और ध्यान में है, एक कड़ी में बँधा है। ये सभी मार्ग एक-दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। ये सभी एक ही मार्ग की कड़ी हैं। ज्ञान और नैतिकता के बीच अभिन्न सम्बन्ध है। ज्ञान व्यवहार को शुद्ध करता है और व्यवहार चेतना को शुद्ध करता है। विना नैतिक विचार के पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

निर्वाण के मार्ग का सम्बन्ध घर का परित्याग, बुद्ध के शरण में जाना, नैतिक शुद्धता तथा ध्यान से है। बुद्ध का विचार है कि एक व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहकर निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता है। क्योंकि वह अपने को सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं करा सकता है। अपनी पत्नी और बच्चों के साथ सम्बन्ध रखते हुए एक साधक निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता। बुद्ध ने एक संघ की भी स्थापना की जहाँ जाकर व्यक्ति निर्वाण

---

1. Majjhima Nikaya, p. 142.
2. Ibid., p. 27.
3. Ibid., p. 27.

प्राप्ति की तैयारी कर सकता है। एक व्यक्ति जब संघ में अपना दाखिला करा लेता है तभी उसे निर्वाण प्राप्ति का निर्देश दिया जा सकता है। जो व्यक्ति बुद्ध के शरण में अपने को न्यौछावर कर देता है तथा संघ में प्रवेश करता है वही व्यक्ति निर्वाण की प्राप्ति के लिए सक्षम होता है। साधक अपने को जगत् की वस्तुओं के मोह से मुक्त कर लेता है। उसका जीवन अहिंसा का होता है। वह जगत् की हर प्राणियों से प्रेम करता है। वह संतों का नैतिक जीवन यापन करता है। यह संसार की सभी सुख प्रदान करने वाली वस्तुओं जैसे आभूषण, सोना, चाँदी, अच्छे भोजन से अपने को मुक्त कर लेता है।

> "He is contented with the robes he receives for the covering of his body and with the food he receives for the maintenance of his life, and, with so-ever he goes he takes with him only such things as an proper and necessary."[1]

साधक अपने मन में उठे बुरे विचारों का परित्याग करता है तथा मन में अच्छे विचारों को धारण करता है। ऐन्द्रिक सुखों से मुक्त होने पर एक साधक समाधि की अवस्था में आ जाता है।

> "The origin of such bless is detachment from the pleasures that the evoked by the objects of sense and if, Ananda, while I remained in this state, perception and mental pictures came over me, which were associated with sensual, pleasure, then this to me was painful."[2]

समाधि की अवस्था से व्यक्ति निर्वाण की अवस्था में प्रवेश करता है। जब साधक संवेदनाओं, प्रत्यक्षों और मानसिक प्रक्रियाओं से स्वतंत्र हो जाता है तब वह अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। निर्वाण की अवस्था में तार्किक विचार के लिए कोई जगह नहीं है ध्यान के रास्ते से साधक स्वयं निर्वाण की अवस्था में प्रवेश पा लेता है। बुद्ध ने कहा है—

> "His corporeal form, his sensation, his perception, his activities of the mind, his cognition, all of which one might have on mind when speaking of him, they are all done with, they are annulled fundamentally, they are made even to an uprooted palm-free, they are beyond all possibility of every arising again in the future. And so, being freed from all that may be called corporeal form-sensation—perception—activities of the mind—cognition, a

---

1. Samyutta Nikaya, LV, 1-74.
2. Majjhima Nikaya, p. 19, Descourse.

perfected one is deep boundless, unfethomable like the great ocean."[1]

हिन्दृ धर्म और बौद्ध धर्म के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि कि दोनों धर्मों में कर्म सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है फिर भी दोनों धर्म मूल बिन्दुओं पर एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत प्रतीत होते हैं। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म दोनों कर्म को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग मानता है लेकिन एक ओर जहाँ हिन्दू धर्म कर्म को मोक्ष प्राप्ति का एक स्वतंत्र मार्ग मानता है वहाँ दूसरी ओर बौद्ध धर्म कर्म को अष्टांगिक मार्ग की एक कड़ी मानता है। लेकिन दोनों धर्म नैतिकता को धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में साधन के रूप में ही स्वीकारते हैं।



1. Majjhima Nikaya. III.

उपसंहार

हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म की विस्तृत व्याख्या के उपरान्त निष्कर्ष में कुछ सामान्य बातों की स्थापना की जा सकती है। सर्वप्रथम दोनों धर्म, कर्म सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। दोनों यह स्वीकारते हैं कि कर्म एक नैतिक नियम है। कर्म का सिद्धान्त यह मानता है कि मनुष्य में इच्छा स्वतंत्रता है और वह अपने सभी कर्मों के लिए उत्तरदायी है। कर्म के आधार पर हम सभी अपने भाग्य का भी निर्माण कर सकते हैं। मानव के दु:ख का कारण उसका भाग्य नहीं होता बल्कि उसके द्वारा किया गया कर्म है। हम जैसा बोते हैं वैसा ही काटते हैं। हमारे सुख और दु:ख में भाग्य का कोई कसूर नहीं है। बौद्ध धर्म ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, लेकिन दोनों कर्म सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। गौतम बुद्ध ने कर्म सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। शंकर ने मानव को पशु से महान् इसी आधार पर माना है कि मानव में ज्ञान की शक्ति है तथा उसमें एक जवाबदेह प्राणी की तरह व्यवहार करने की इच्छा स्वतंत्रता है। ईसाई धर्म में भी मानव को सृष्टि में सबसे महान् इसी आधार पर माना है कि मानव में बुद्धि और इच्छा स्वतंत्रता है। कर्म का सिद्धान्त ही मानव को जवाबदेह होने की स्थापना करता है।

दोनों धर्म इस बात को स्वीकारते हैं कि नैतिक अनुमोदन का कोई अर्थ नहीं रहता यदि मानव को अपने कर्मों के लिए जिम्मेदार नहीं माना जाय। एक व्यक्ति जब यह मान लेता है कि वह अपने कर्म के लिए स्वयं जिम्मेवार है तब उसे किये गये कर्म का परिणाम उतना कड़वा नहीं लगता। कर्म का सिद्धान्त ही मानव में पाये गये विविधताओं की व्याख्या कर पाता है। बौद्ध धर्म में कर्म सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या हीनयानी बौद्ध के The Questions of King Milinda में देखने को मिलती है। राजा ने नागसेन से यह प्रश्न किया है—क्यों सभी मानव समान नहीं हैं? क्यों कुछ व्यक्तियों की उम्र कम होती है जबकि कुछ व्यक्तियों की उम्र ज्यादा होती है? क्यों कुछ सुन्दर और कुछ कुरूप होते हैं? क्यों कुछ व्यक्ति शक्तिशाली कुछ अमीर और कुछ गरीब होते हैं? क्यों कुछ लोग उच्च जाति के और कुछ निम्न जाति के होते हैं? क्यों कुछ मूर्ख और कुछ बुद्धिमान् होते हैं। इन प्रश्नों के जबाव में नागसेन यह प्रश्न करते हैं कि क्यों सभी पौधे समान नहीं होते? क्यों कुछ का स्वाद खट्टा, कुछ का नमकीन और कुछ का कड़वा होता है? नागसेन का कहना है कि ये सभी विविधताएँ बीज रूप से प्रकृति पर निर्भर करती हैं। ठीक उसी प्रकार मानव में होने वाली विविधताओं का कारण उनका कर्म है। ये उनके कर्म

ही होते हैं जिनके कारण मानव को विभिन्न श्रेणियों में रखा जाता है। भूत के कर्मों के द्वारा ही हमारा जन्म निर्धारित होता है। कर्मों के द्वारा ही व्यक्ति अपने भूल में सुधार लाता है। कर्मों के द्वारा ही व्यक्ति अपने भविष्य के जीवन का रूप देता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म में कर्म सिद्धान्त की महत्ता स्वीकारी गयी है। यदि कर्म सिद्धान्त को उसके सही स्वरूप में स्वीकार लिया जाय जब दूसरों से ईर्ष्या या कड़वापन सम्बन्ध के लिए कोई जगह नहीं रह जाती। यह सिद्धान्त हममें आत्मविश्वास पैदा करता है कि हम अपने प्रयास से अपने को मन के लायक बना सकते हैं। कोई ऐसा अज्ञात आधार नहीं है जो हमारे जीवन को बनाने या बिगाड़ने में मदद करता है। हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। इस तरह का आत्म विश्वास ही हमें स्वतंत्र जीवन जीने की जगह देता है। यही हममें नैतिक बल और उत्तरदायित्व का संचार करता है। कर्म सिद्धान्त यह मानता है कि यह जगत् कोई आकस्मिक व्युत्पत्ति नहीं है। कर्म सिद्धान्त नैतिकता का आधार है। नैतिक-अनैतिक बातें इसी पर आधारित हैं कि व्यक्ति में कर्म करने की इच्छा स्वतंत्रता है। कर्म सिद्धान्त न केवल नैतिकता का आधार है बल्कि यह कई धर्म की समस्याओं की भी व्याख्या कर पाता है। उदाहरण के लिए वैसे धर्म जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं उनके विरोध में हर तर्क दिया जाता है कि यदि ईश्वर शुभ और सर्वशक्तिमान् है तब अशुभ की उत्पत्ति कैसे होती है? यह अशुभ की समस्या धर्म दर्शन का खास विषय बन गया है। कर्म सिद्धान्त इस समस्या का भी समाधन करता है। ईश्वरवादी यह तर्क देते पाये जाते हैं कि मानव कर्म करता है और कर्म करने के लिए वह स्वतंत्र है। कर्म करने में उसे दो विकल्पों में से किसी एक का चुनाव करना होता है। अच्छे और बुरे दो विकल्पों में जिस तरह के विकल्प का चुनाव व्यक्ति करता है उसके अनुरूप उसे जगत् में दुःख या सुख का भोग करना होता है। अतः अशुभ का कारण ईश्वर या कोई अध्यात्म सत्ता नहीं है बल्कि स्वयं मानव है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त धर्म में उठे हुए मसले का भी हल ढूँढ़ लेता है। जो कर्म सिद्धान्त को मानता है उसके लिए अशुभ कोई समस्या नहीं रह पाती। यह चूँकि व्यक्ति द्वारा किये गये कर्म का फल है। इसलिए वह अपने प्रयास से जीवन के अशुभ को समाप्त कर सकता है। अशुभ परम अर्थ में सत्य नहीं है।

कर्म सिद्धान्त में विश्वास रखने के कारण ये दोनों धर्म मानव की प्रतिष्ठा की स्थापना कर पाते हैं। मानव केवल हाड़मांस का लोथड़ा नहीं रह पाता बल्कि एक जबावदेह प्राणी के रूप में उभरता है। व्यक्ति के हर कर्म के दो परिणाम होते हैं। एक कर्म का सीधा परिणाम सुखमय या दुःखमय होता है। और दूसरा कर्म आत्मा पर वासना या संस्कार छोड़ता है। कर्म के परिणाम को समाप्त नहीं किया जा सकता। वे कर्म के तत्त्व हैं। लेकिन अशुभ प्रवृत्तियों को नैतिक प्रयास के आधार पर समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म दोनों कर्म सिद्धान्त के स्वरूप की व्याख्या करते हुए इसे भाग्य से भिन्न मानते हैं। मानव का कर्म आत्मा की प्रवृत्ति से निर्धारित होता है। उपनिषद् के एक मुख्य ऋषि याज्ञवल्क्य अपने स्मृति में भी कर्म सिद्धान्त को भाग्य से

अलग की वस्तु मानते हैं। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त स्वतंत्रता और नियतता में भी समन्वय करता है, तथा किसी भी अवस्था में प्रगति या विकास का अवरोध नहीं है। कर्म सिद्धान्त के स्वरूप में नैतिक प्रयास के लिए भी जगह है। जिसके आधार पर व्यक्ति अपने जीवन में परिवर्तन ला सकता है। दोनों धर्म इस बात को स्वीकारते हैं।

दूसरा, दोनों धर्म की नीतिशास्त्रीय व्याख्या से यह स्पष्ट है कि धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नैतिकता का होना आवश्यक है। हिन्दू धर्म में नैतिकता की विस्तृत व्याख्या देखने को मिलती है। यह ठीक है कि एक पाश्चात्य दार्शनिक स्वीटजर ने इस विषय पर शंका व्यक्त की है। उन्होंने हिन्दू धर्म के सही स्वरूप को नहीं समझा और वे यह सोचते रहे कि हिन्दू धर्म इस जगत् को बिल्कुल मिथ्या मानता है। और इसलिए यहाँ कर्म करने के लिए कोई जगह है। और चूँकि कर्म के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता इसलिए, हिन्दू धर्म में नैतिकता के लिए कोई जगह नहीं है। डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक Eastern Religions and Western Thought में स्विटजर द्वारा उठाये गये आलोचनाओं का जवाब दिया है और इस बात को स्थापित करने का प्रयास किया है कि हिन्दू धर्म में नैतिकता के लिए जगह है।

स्विटजर ने हिन्दू धर्म की आलोचना कई बिन्दुओं पर की है जिनकी संक्षिप्त व्याख्या यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन प्रतीत होता है—

(1) स्विटजर का विचार है कि हिन्दू धर्म में परमानन्द पर विशेष बल दिया जाता है। परिणामस्वरूप मनुष्य जीवन एवं संसार के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण अपनाता है और इस जीवन को भ्रम स्वरूप मानता है। डॉ० राधाकृष्णन ने इस आलोचना का जवाब देते हुए बताया है कि यह ठीक है कि हिन्दू धर्म परमानन्द पर जोर देता है लेकिन इससे हिन्दू धर्म को निषेधात्मक दृष्टिकोण का पोषक नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहना तो अति सरलीकरण का एक उदाहरण है। वस्तुतः ईश्वर सम्बन्धी समस्त अनुभव जब तीव्र हो जाते हैं तब वे परमानन्द की संज्ञा पाते हैं। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें आत्मा जीवन की धारा में प्रवेश करती है और अपने अस्तित्व का महत्त्व एक विशालतर जीवन में पाती है। परमानन्द आध्यात्मिक जीवन की एक अवस्था है। ईसाई धर्म भी परमानन्द पर बल देता है। प्रारम्भिक चर्चा में चमत्कारी शक्तियों का अनुभव पैगम्बरी द्वारा दिये गये संदेश आदि इस के उदाहरण हैं। ऐसी स्थिति में यदि परमानन्द पर बल देने के कारण हिन्दू धर्म को निषेधात्मक दृष्टिकोण का समर्थक कहा जाता है तब ईसाई धर्म को भी परमानन्द की महत्ता प्रदान करने के कारण निषेधात्मक दृष्टिकोण का समर्थक कहा जा सकता है। अतः हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण निषेधात्मक नहीं है।

(2) पुनः स्विटजर का विचार है कि हिन्दू धर्म में आचार नीति के लिए कोई जगह नहीं है क्योंकि यह सिर्फ पारलौकिक बातें करता है। राधाकृष्णन ने स्विटजर के इस आक्षेप का खण्डन किया है। राधाकृष्णन का तर्क है कि मनुष्य मात्र शरीर नहीं है। इसमें आध्यात्मिक आत्मा भी मौजूद है। यही कारण है कि वह भौतिक साधनों के उपभोग तक ही सीमित नहीं रह पाता। मनुष्य भौतिक वस्तुओं में तन्मय होने के बावजूद भी सीमितता को महसूस करता है। सीमितता मनुष्य को सर्वशक्तिमान् असीम एवं अलौकिक सत्यता की ओर ले जाती है। मनुष्य असीमता की उपासना के लिए तत्पर रहता है जिसके कारण वह कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होता है। इसमें धार्मिक भावना का जन्म होता है। डॉ० राधाकृष्णन का विचार है कि धर्म का प्रारम्भ हमारे जीवन क्रम में तब हो पाता है जब हम जान पाते हैं कि हमारा जीवन हमारे ही निमित्त नहीं है। हमारे इस जीवन से भी बृहत्तर जीवन है, जिसने हमें पकड़ रखा है और जो हमारा पोषण करता है। धर्म का जन्म मनुष्य के इस दृढ़ विश्वास में होता है। दृश्य और पार्थिव संसार से परे भी कोई दूसरा संसार है जिससे मनुष्य का काम पड़ता है। राधाकृष्णन ने इस बात पर जोर दिया है कि नैतिकता और पारलौकिकता परस्पर विरोधी नहीं हैं। पारलौकिक सत्यता के अभाव में नैतिकता निरर्थक प्रतीत होती है। धर्म नीतिशास्त्र आदर्शों के कारण कायम रहता है। राधाकृष्णन यह मानते हैं कि धर्म हो या आचारशास्त्र दोनों ही आदर्शों के प्रकार जीवन यापन करने की इच्छा से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। यदि हम जो है उसी से सन्तुष्ट हैं तो 'चाहिए' का कोई अर्थ हमारे लिये नहीं है। नैतिकता और पारलौकिकता के बीच सामंजस्य का सम्बन्ध है। अतः हिन्दू धर्म को पारलौकिक में विश्वास करने के कारण नैतिक रहित कहना अमान्य है।

(3) स्विटजर का तर्क है कि हिन्दू धर्म में मायावाद का समर्थन हुआ है। मायावाद को मान्यता देने के फलस्वरूप हिन्दू धर्म में आचारनीति का महत्त्व समाप्त हो जाता है। स्विटजर यह मानते हैं कि यदि संसार की सत्यता से यह इनकार किया जाता है तब यहाँ आचारनीति का महत्त्व नहीं रह जाता है। मनुष्य के लिए सिर्फ यह काम रह जाता है कि वह भौतिक जगत् में विश्वास करने के मिथ्यात्व को समझ सके। राधाकृष्णन स्विटजर के इस विचार का भी खण्डन करते हैं। हिन्दू धर्म में जगत् को शून्य या अयथार्थ नहीं कहा गया है। शंकर ने भी, जो मायावाद के प्रमुख समर्थक हैं विश्व को असत्य नहीं मानते। जगत् पारमार्थिक दृष्टिकोण से भले ही असत्य है परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से पूर्णतः सत्य

है क्योंकि विश्व की व्यावहारिक सत्यता है। चूँकि जगत् पूर्णरूपेण सत्य नहीं है इसलिए यह समझ लेना कि यह मिथ्या है गलत होगा। अत: मायावाद पर विचार होने के बावजूद भी हिन्दू धर्म में नैतिकता के लिए स्थान सुरक्षित है।

(4) पुन: हिन्दू धर्म विश्व उत्पत्ति का कारण ईश्वर की लीला मानता है। लीला सम्बन्धी सिद्धान्त के कारण हिन्दू धर्म में आचारनीति के लिए स्थान नहीं रह जाता है। स्विटजर की इस आलोचना का खण्डन करते हुए राधाकृष्णन ने बताया है कि यद्यपि कि हिन्दू धर्म में जगत् को ईश्वर की मात्र लीला कहा जाता है लेकिन इसमें जगत् की तुच्छता नहीं प्रमाणित होती है। लीला की उपमा इसलिए दी जाती है कि विश्व में ईश्वर स्वतंत्र रूप से ओत-प्रोत है। ईश्वर के प्रचुर आनन्द का परिचायक है। क्योंकि ईश्वर ने आनन्द के लिए संसार की रचना की है। लीला की उपमा से यह साबित नहीं होता कि कोई निरर्थक सत्ता है। विश्व लीला होने के बावजूद भी यथार्थ है।

(5) स्विटजर का विचार है कि हिन्दू धर्म में मोक्ष की प्राप्ति आत्म ज्ञान के आधार पर होना बताया जाता है। चूँकि ज्ञान पर जोर ज्यादा दिया गया है इसलिए यहाँ नैतिक आचरण के लिये स्थान नहीं है। इसका भी खण्डन डॉ० राधाकृष्णन करते हैं। राधाकृष्णन का तर्क है कि यह ठीक है कि हिन्दू धर्म में मोक्ष की प्राप्ति आत्म ज्ञान तथा आत्म साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त होता है फिर भी हिन्दू धर्म में इस बात पर भी बल दिया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए कठिन प्रयास तथा अनुशासन की आवश्यकता है। डॉ० राधाकृष्णन यह मानते हैं कि प्राप्ति सरलता से नहीं होती है। इसे कठिन बलिदान, अनुशासन, संघर्ष तथा सहनशीलता से उपलब्ध किया जाता है। इससे यह साबित होता है कि नैतिकता के लिए हिन्दू धर्म में नैतिक आचरण की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म में ज्ञान शब्द की व्याख्या व्यापक अर्थ में भी की गयी है। ज्ञान विचार भावना तथा इच्छा का समन्वय है। तीनों मिलकर ज्ञान को धारण का समर्थक बनाते हैं। राधाकृष्णन ने कहा है कि हमारा सत्य बोध तब तक अन्तिम होता है जब तक वह पूर्ण नहीं हो। अत: ज्ञान की महत्ता देने के बावजूद भी हिन्दू धर्म में नैतिकता के लिए स्थान रह जाता है। स्विटजर ने हिन्दू धर्म को नीतिशून्य माना है क्योंकि हिन्दू धर्म मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य यथार्थ से छुटकारा पाना मानता है। पुनर्जन्म से व्यक्ति को तभी मुक्ति मिल सकती है जब संसार से उसे जीने की इच्छा से स्वतंत्रता मिल जाय। अत: हिन्दू धर्म पलायनवादी प्रवृत्ति पर बल देता है। क्योंकि

जीवन का परम शुभ आत्मा की सीमितता से छुटकारा पाना है। यहाँ सीमितता के निषेध के द्वारा अनन्तता की प्राप्ति पर बल दिया गया है। अत: स्विटजर के अनुसार नैतिकता के लिए हिन्दू धर्म में कोई जगह नहीं है। राधाकृष्णन ने इस आलोचना को भी खंडित करते हुए बतलाया है कि हिन्दू धर्म में कर्म पर इतना अधिक जोर दिया गया हैं कि इसे पलायनवादी नहीं कहा जा सकता। सांसारिक धर्मों में भाग न लेना मनुष्य के लिए सर्वथा अनुचित होगा। मनुष्य एक पल भी बिना कर्म का नहीं रह सकता। हिन्दू धर्म यह मानता है कि जीवन मुक्ति के बाद भी व्यक्ति लोक कल्याण के मिले कार्य करता रहता है। अत: नैतिकता के लिए हिन्दू धर्म में स्थान सुरक्षित है।

(6) स्विटजर यह मानते हैं कि हिन्दू धर्म के आधार पर मनुष्य का आदर्श शुभ और अशुभ उचित एवं अनुचित के नैतिक अन्तर से परे होता है। मुक्त आत्मा शुभ एवं अशुभ के नैतिक विभेदों से ऊपर उठ जाता है। अत: हिन्दू धर्म में नैतिकता के लिए स्थान रह जाता है। राधाकृष्णन ने कहा है कि स्विटजर की यह धारणा भी निर्मूल है। यह ठीक है कि मुक्त व्यक्ति उचित एवं अनुचित के नैतिक अन्तर से ऊपर उठ जाता है परन्तु इससे यह नहीं प्रमाणित होता है कि नैतिकता से परे हो जाता है तथा बुरा कर्म करने के बावजूद भी पाप से मुक्त रहता है। इसके विपरीत मुक्त आत्मा के द्वारा गलत काम होना ही असंभव है। उसके सारे कार्य नैतिक दृष्टिकोण से उचित ही होते हैं। अत: हिन्दू धर्म में नैतिकता के लिए यथार्थ स्थान है।

(7) पुन: स्विटजर का विचार है कि हिन्दू धर्म में आन्तरिक पूर्णता पर बल दिया गया है। इसलिए इसमें नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। उनकी यह आलोचना भी निराधार है। राधाकृष्णन यह मानते हैं कि हिन्दू धर्म में आन्तरिक पूर्णता पर जोर दिया गया है। यहाँ आध्यात्मिक साधना तथा ध्यान के विकास पर जोर दिया जाता रहा है। मन को घृणा, क्रोध तथा वासना से सर्वथा मुक्त करने का आदेश दिया गया है। इस प्रकार हिन्दू धर्म में आन्तरिक पूर्णता का विशिष्ट स्थान है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि हिन्दू धर्म ने बाह्य क्रियाशीलता की उपेक्षा की है। हिन्दू धर्म में असामाजिकता को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। जीवन के स्वाभाविक सम्बन्ध के प्रति प्रेम तथा ममत्व की भावना का प्रकाशन अपेक्षित समझा गया है। लोक कल्याण तथा मानव सेवा में विश्वास हिन्दू धर्म की विशेषता है। यहाँ आन्तरिक पूर्णता के साथ-साथ बाह्य क्रियाशीलता पर महत्त्व दिया गया है। राधाकृष्णन का विचार है कि यदि आन्तरिक पूर्णता पर बल देने के कारण हिन्दू धर्म को नीति शून्य

माना जाय तो ईसाई धर्म को भी नीति शून्य माना जायेगा। इसके धर्म में भी आन्तरिक पूर्णता पर बल दिया जाता है। इस प्रकार स्विटजर द्वारा की गयी यह आलोचना कि हिन्दू धर्म में नैतिकता के लिए कोई जगह नहीं है निर्मूल एवं निराधार है।

बौद्ध धर्म में भी नैतिकता की विस्तृत व्याख्या मिलती है। बौद्ध धर्म में वर्णित अष्टांगिक मार्ग नैतिकता की आधारशिला है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि ही बौद्ध धर्म की नैतिकता को रचित करते हैं। इस तरह हिन्दू धर्म एवं बौद्ध धर्म की नैतिकता को रचित करते हैं। इस तरह हिन्दू धर्म एवं बौद्ध धर्म में नैतिकता का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लेकिन दोनों धर्मों में नैतिकता को मानव का लक्ष्य नहीं माना गया है। नैतिकता का स्थान मात्र साधन के रूप में स्वीकारा गया है। दोनों धर्मों के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म दोनों विभिन्न मार्गों की चर्चा करते हैं। हिन्दू धर्म में निष्काम कर्म को जो नैतिकता का आधार है कर्म मार्ग के नाम से पुकारा जाता है। उसी प्रकार जैसा कि हमने देखा सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प आदि को जो नैतिकता का आधार है अष्टांगिक मार्ग के नाम से पुकारा जाता है। अत: दोनों धर्मों में नैतिकता का स्थान साधन के रूप में है जबकि धार्मिक लक्ष्य का स्थान साध्य के रूप में है।

परमात्मा के समान आत्मा की अवधारणा भी भारतीय दर्शन की मौलिक अवधारणा है। इसकी मौलिकता तथा प्रमुखता के कारण ही ईश्वरवाद के समान आत्मवाद को भारतीय दर्शन का आधार-स्तम्भ सिद्धान्त भी कहा जाता है। यह सिद्धान्त ही नहीं, वरन् एक प्रमुख समस्या भी है। इसे ध्यान में रखकर भारतीय दर्शन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—आत्मवादी और अनात्मवादी दर्शन। आत्मवादी आस्तिक और अनात्मवादी नास्तिक माने जाते हैं। अत: आस्तिक, नास्तिक का विभाजन भी आत्मवाद और अनात्मवाद पर आधारित लगता है।

आत्मा के सम्बन्ध में दो प्रमुख प्रश्न है—आत्मा का अस्तित्व और आत्मा का स्वरूप। प्रथम तो कम परन्तु दूसरा प्रश्न अधिक विवादास्पद है। अस्तित्व तो सत्ता या भाव है। आत्मा के अस्तित्व को तो प्राय: भारतीय दार्शनिक मानते हैं। विरोध या विवाद स्वरूप को लेकर है। कोई आत्मा का स्वरूप नित्य मानता है तो कोई अनित्य या क्षणिक मानता है। कोई शरीर को, तो कोई जीव को और कोई पुरुष को आत्मा मानता है। इससे स्पष्ट है कि 'आत्मा है' यह विवाद का विषय नहीं, वरन् 'आत्मा क्या है' यह विवाद का विषय है। यदि 'है' नहीं स्वीकार करें तो 'क्या है' पर विचार निरर्थक होगा। इससे स्पष्ट है कि आत्मवाद और अनात्मवाद में 'अस्तित्व' को लेकर विवाद नहीं, वरन् स्वरूप को लेकर विवाद है। यदि किसी की सत्ता ही नहीं तो उसके स्वरूप पर विचार

ही असम्भव है। इसी को ध्यान में रखकर आचार्य शंकर कहते हैं कि आत्मा का अस्तित्व 'स्वयं सिद्ध' है। आत्मा की सत्ता को स्वीकार किये विना किसी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति आत्मा का निषेध भी करे तो उसे आत्मा की सत्ता पहले स्वीकार करनी ही होगी, क्योंकि निषेध या निराकरण भी भाव या अस्तित्व का ही सम्भव है। जिसका भाव या अस्तित्व ही नहीं उसका अभाव या निषेध कैसे होगा? अत: निराकरण से भी निराकर्त्ता (आत्मा) की सत्ता सिद्ध होती है।[1] 'मैं' निराकरण या निषेध करता हूँ, इस वाक्य में 'मैं' की सत्ता निराकरण से पहले ही सिद्ध है। अत: आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद रूप से सिद्ध है। यह स्वयं सिद्ध परमतत्त्व है।

आत्मा का स्वरूप क्या है? आत्मा नित्य है या अनित्य? आत्मा जीव है? आत्मा शरीर है? आत्मा पुरुष है? नित्य-आत्मवाद उपनिषद् या वेदान्त का मत है कि अनित्य-आत्मवाद बौद्ध दर्शन का मत है। जीव-आत्मवाद जैन दर्शन का मत है। शरीर-आत्मवाद चार्वाक् का मत है और पुरुष-आत्मवाद सांख्ययोग का। वेदान्त या उपनिषद् तो वेद का अन्त है, अत: वैदिक मत की चरम परिणति वेदान्त में है। सभी आस्तिक दर्शन वैदिक ही हैं। अत: सभी आस्तिक-दर्शनों की चरम परिणति भी वेदान्त में है। अत: वेदान्त मत में न्याय-वैशेषिक-सांख्य योग आदि सभी के मत समाहित हैं। इन सभी मतों को नित्यात्मवाद कह सकते हैं, क्योंकि सबके अनुसार आत्मा का स्वरूप नित्य है। सांख्य योग का मत पुरुषात्मवाद है, क्योंकि इसके अनुसार पुरुष ही आत्मा है। यह नित्यात्मवाद का ही एक रूप है।

नित्यात्मवाद—यह उपनिषद् या वेदान्त का मत है। इसके अनुसार आत्मा नित्य, निर्विकारी, निरवयव है। इसे अजर, अमर, अमृत और अभय माना गया है। यह जड़ जगत् तथा जीव से सर्वथा भिन्न है। जड़ जगत् अचेतन और आत्मा आध्यात्मिक चेतनतत्त्व है। जीवन सांसारिक है और आत्मा असांसारिक। जीव शरीर का स्वामी है, अत: शरीरी कहलाता है, आत्मा अशरीरी है। जीव कर्त्ता है, क्योंकि कर्मेन्द्रियों के माध्यम से कर्म का सम्पादन करता है और आत्मा अभोक्ता है। जीव ज्ञाता है, क्योंकि बुद्धि के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है। आत्मा ज्ञाता नहीं, ज्ञान ही है। चैतन्य इसका एकमात्र स्वरूप है। जीव प्रति शरीर में निवास करता है, अत: अनेक है। आत्मा एक है, विभु है। जीव अनित्य, सावयव, सोपाधि, शान्त और अवच्छिन्न है और आत्मा नित्य, निरवयव, निरुपाधि, अनन्त और अनवच्छिन्न है। आत्मा शुद्ध चेतना है। अत: चैतन्य ही इसका एकमात्र स्वरूप है। उपनिषदों में चेतना की चार अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं।

जाग्रत—इसमें चेतना का विषय बाह्य संसार है, अर्थात् इस अवस्था में बाह्य संसार के विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। इसे 'वैश्वानर' कहा जाता है।

---

1. य एवं हि निराकर्त्ता तदैव तस्य स्वरूपम्। ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 2, 3, 7

स्वप्न—इसमें चेतना का विषय आन्तरिक होता है अर्थात् इसमें आन्तरिक सूक्ष्म विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। इसे 'तेजस्' कहा जाता है।

सुषुप्ति—इसमें विषय बाह्य या आन्तरिक नहीं वरन् अत्यन्त सूक्ष्म होता है। यह आनन्द की अवस्था है। इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं।

तुरीय—यह चेतना की शुद्ध अवस्था है जिसमें कोई भी विषय नहीं होता अर्थात् इसमें चेतना बाह्य, आन्तरिक या आनन्द किसी विषय का भोग नहीं करती। यही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है, शुद्ध चेतना की अवस्था है।

एक आवश्यक प्रश्न यह है कि नित्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा की सिद्धि के लिए प्रमाण क्या है? उत्तर यह है कि प्रमाण से तो प्रमेय की सत्ता सिद्ध होती है। जो अप्रमेय है, उसकी सिद्धि के लिए प्रमाण क्या है? प्रमाण-प्रमेय का व्यवहार तो बौद्धिक है। जो बुद्धि के परे है। उसे किस बौद्धिक प्रमाण से जाना जाय? यदि उसे जाना नहीं जा सकता तो वह 'अज्ञेय' है। आत्मा की विशेषता यह है कि आत्मा अप्रमेय होते हुए भी अज्ञेय नहीं। उपनिषद् में आत्मा को 'स्वयं प्रकाश' कहा गया है। प्रकाश की सहायता से दूसरी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, जो स्वयं प्रकाश है उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं। प्रमाण तो प्रकाश है परन्तु जो स्वयं सिद्ध है, वह स्वयं प्रकाश है, उसे प्रमाणित या प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह अगम्य भी नहीं। उपनिषद् में बतलाया गया है कि विशुद्ध शान्त और एकाग्रचित्त से आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। योगी आत्म तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। परन्तु यह अनुमान का विषय है नहीं, अर्थात् अनुमेय नहीं।

अन्य नित्यात्मवादी आस्तिक सम्प्रदाय आत्मा को अनुमेय मानते हैं। उदाहरणार्थ, न्याय—वैशेषिक के अनुसार आत्मा अनुमेय है। महर्षि गौतम का कहना है कि इन्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, का ज्ञान आदि आत्मा के लिंग है। इन गुणों को आत्मा का विशेष गुण कहा गया है। इनके आधार पर आत्मा का अनुमान होता है। परन्तु ये गुण जीवात्मा के हैं। आत्मा असांसारिक है, परन्तु सांसारिक अवस्था में आत्मा का शरीर से सम्बन्ध है। यह जीव है तथा इसके कुछ विशेष गुण हैं जिसके आधार पर जीवात्मा का अनुमान होता है। इन विशेष गुणों के कारण ही जीवात्मा को गुणी और धर्मी भी कहा जाता है। परन्तु अन्य आस्तिक दार्शनिक आत्मा को गुणी, धर्मी नहीं मानते।

आत्मा को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध माना जाता है। यह असाधारण योगज प्रत्यक्ष से सिद्ध है। योगी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं।

आत्मा के विषय में शब्द प्रमाण तो सर्वाधिक है। वेद-उपनिषद् में इसका कई बार उल्लेख हुआ है। मु० उप० में कहा गया है कि आत्मा, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म और ज्ञानियों से गम्य है। बृ० उप० में कहा गया है कि आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना ही परम कर्तव्य है। इस प्रकार श्रुति-प्रमाण से आत्मा की सत्ता सिद्ध है। इस प्रकार

आत्मा अप्रमेय होकर भी अगम्य नहीं। यह प्रमेय है तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि प्रमाणों से गम्य है।

अनित्यात्मवाद—(बौद्ध मत) भगवान् बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार किया है, परन्तु इसका स्वरूप अनित्य या क्षणिक बतलाया है। भगवान् बुद्ध का मत 'अनात्मवाद' कहलाता है।

भगवान् बुद्ध ने आत्मा के नित्य स्वरूप का निषेध किया है। भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिस प्रकार स्त्री, पुत्री, धन आदि की कामना है उसी प्रकार आत्मा की भी कामना है। मोक्ष या निर्वाण के लिए आवश्यक है कि मनुष्य सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग करें। यदि हम सांसारिक विषयों के प्रति कामना का त्याग करते हैं, परन्तु नित्य आत्मा की कामना का त्याग नहीं करते तो हमें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। इससे सिद्ध है कि आत्म-कामना भी सांसारिक विषय-वासनाओं के समान ही है। आत्मवासना का परिहास करते हुए तथागत ने बतलाया है कि असद् आत्मा में लीन रहना तो किसी अज्ञात रमणी से प्रेम करना है, जिसको कभी किसी ने देखा ही नहीं हो। अत: आत्म-दृष्टि को तथागत तुच्छ दृष्टि मानते हैं। जिस प्रकार विषयों में लीन रहना एक अन्त है, उसी प्रकार एक आत्मा में लीन होना दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के बीच मध्यम-मार्ग का अनुसरण करने वाला ही निर्वाण प्राप्त करता है।

पंचस्कन्ध और अनात्मवाद—भगवान् बुद्ध के अनुसार व्यक्ति या सत्त्व की सत्ता पृथक् नहीं। व्यक्ति मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं का समुदाय है जो अनित्य तथा विनाशी है। भगवान् बुद्ध के अनुसार आत्मा पंच-स्कन्धों का समुदाय मात्र है, अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, पाँचों का समुदाय ही आत्मा कहलाता है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध केवल पारमार्थिक नित्य आत्मा का निषेध करते हैं, परन्तु अनित्य व्यावहारिक आत्मा को स्वीकार करते हैं। व्यक्ति की सत्ता है, परन्तु व्यक्ति केवल पंच-स्कन्धों का समुदाय है, इससे भिन्न कोई नित्य, अविनाशी आत्मा नहीं। जिस प्रकार रथ के अनेक अंगों को मिलाकर हम एक रथ की संज्ञा देते हैं, उसी प्रकार रूप, वेदना, संस्कार, सत्त्व, विज्ञान इत्यादि के समुदाय की आत्मा के नाम से पुकारते हैं। रथ की सत्ता रथांगों से भिन्न नहीं, उसी प्रकार व्यक्ति की सत्ता पंचस्कन्धों से भिन्न नहीं। व्यक्ति दो अवस्थाओं का पुंज है—शारीरिक और मानसिक। इन दोनों अवस्थाओं को नाम-रूप कहते हैं। स्थूल पुंज रूप है तथा सूक्ष्म-पुंज ही नाम है। नाम चार अवस्थाओं में विभक्त है—वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। अत: जिस प्रकार रथांगों के संयोग से रथ की प्रज्ञप्ति होती है। उसी प्रकार नाम-रूप के समुदाय में व्यक्ति की प्रज्ञप्ति होती है।

अनात्मवाद की व्याख्या भदन्त नागसेन और ग्रीक राजा मिनांडर के प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट होती है।

राजा—'आप किस नाम से पुकारे जाते हैं?'

नागसेन—'मैं नागसेन के नाम से पुकारा जाता हूँ।'

राजा—'नागसेन क्या है? क्या केश नागसेन है?'

नागसेन—'केश किस प्रकार नागसेन हो सकता है?'

राजा—'नख, दाँत, चमड़ी, मांस, शरीर नागसेन हैं।'

नागसेन—'नहीं राजन्।'

राजा—'क्या इन पाँच स्कन्धों का संयोग नागसेन है?'

नागसेन—'नहीं, महाराज।'

राजा—'इनसे पृथक् कोई नागसेन है?'

नागसेन—'नहीं महाराज।'

एक अन्य उपमा देकर समझाते हैं—क्या रथ के बाँस रथ हैं? क्या धुरा, चक्का, रस्सा, जूआ, पहिया, रथ है? क्या इनसे अलग वस्तु रथ है? नहीं भन्ते। रथ एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिए है। जिस प्रकार इसका अस्तित्व बाँस, चक्का, रथ हाँकने की लकड़ी पर निर्भर है, उसी प्रकार व्यक्ति का अस्तित्व रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पर निर्भर है। नागसेन का कोई अलग व्यक्तित्व नहीं, नागसेन तो केवल शब्द है जो व्यवहार में प्रचलित है। नागसेन ने अनात्मवाद की व्याख्या पुद्गल नैरात्म्य के रूप में किया है। पुद्गल सत्त्व या व्यक्ति का शरीर है। यह शाश्वत या नित्य आत्मा से रहित है।

जीवात्मवाद—(जैन मत) जैन दर्शन में जीव को ही आत्मा कहा गया है। जीव का लक्षण 'चेतना' माना गया है। चेतना की दो अवस्थाएँ होती हैं—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। पहली अवस्था में चेतना आत्म स्वरूप को ग्रहण करती है, इसे दर्शन कहते हैं। दूसरी अवस्था में चेतना बाह्य विषयों को ग्रहण करती है, इसे ज्ञान कहते हैं। अतः जीव ज्ञान-दर्शनात्मक कहा गया है।

जैन दर्शन में जीव या आत्मा चैतन्यस्वरूप स्वीकार किया गया है। यह चैतन्य ही ज्ञाता तथा द्रष्टा है। जीव प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है तथा अपने शरीर के बराबर है, कर्म सम्बद्ध है। जीव को प्रभु कहने का तात्पर्य यह है कि जीव अपने कर्मों का स्वतः स्वामी है। कर्म से ही जीव का बन्धन तथा मोक्ष दोनों होता है। इसी प्रकार जीव कर्त्ता माना गया है, क्योंकि जीव यदि अकर्त्ता मान लिया जाय तो बन्धन और मोक्ष की व्याख्या नहीं हो सकेगी। जीव में पाँच प्रकार के भाव माने गए हैं—क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक, औदायिक और पारिणमिक। इसी प्रकार जीव को भोक्ता भी कहा गया है, क्योंकि उसे सुख-दुःख की अनुभूति होती है। कर्त्ता भोक्ता होने के कारण जीव को कर्म-संयुक्त माना गया है। तात्पर्य यह है कि बन्धन और मोक्ष दोनों प्रकार के कर्मों के लिए जीव ही उत्तरदायी है। जीव को शरीर के बराबर बतलाया गया है, क्योंकि शरीर के प्रत्येक अंग में आत्मा व्याप्त है। जिस प्रकार छोटे या बड़े स्थान को पाकर प्रकाश कम या अधिक

होता है उसी प्रकार शरीर में व्याप्त आत्मा भी छोटे या बड़े शरीर की आकृति के अनुसार ही होता है। तात्पर्य यह है कि शरीर के परिमाण के अनुसार ही आत्मा का परिमाण है। बाल्यावस्था का शरीर युवावस्था के शरीर में बदल जाता है तो आत्मा भी युवावस्था के शरीर के परिणाम को धारण करता है।

जीव या आत्मा की सिद्धि के लिए जैन दर्शन में कुछ तर्क भी दिये गये हैं। ये तर्क निम्नलिखित हैं—

(1) आत्मा को सुख-दु:ख आदि गुणों का साक्षात् अनुभव होता है। सुख-दु:ख आदि चैतन्य के गुण हैं, जिनका प्रत्यक्ष-अनुभव होता है। यदि ये गुण हैं तो इनका आधार (आत्मा) भी अवश्य है।

(2) हमें ज्ञान प्राप्त होता है इन्द्रियों के माध्यम से। इन्द्रियाँ साधन हैं, कारण हैं। इन साधनों से ज्ञान प्राप्त करने वाला जीव या आत्मा ही है। आत्मा ही इन साधनों का उपयोग करता है।

(3) शरीर अचेतन है परन्तु सक्रिय है। इसकी क्रिया का संचालन करने वाला कोई चेतन तत्त्व (जीव) अवश्य होना चाहिए। शरीर स्वयं अपना संचालन नहीं कर सकता, जैसे यन्त्र।

(4) शरीर के निर्माण और विकास से भी जीव द्रव्य या आत्म-तत्त्व की सिद्धि होती है। शरीर तो पुद्‌गलों के संयोग का परिणाम है। परन्तु पुद्‌गलों में संयोग कराने के लिए किसी निमित्त कारण की आवश्यकता है। यह निर्मित कारण जीव या आत्मा ही है।

जीव के भेद—जीव दो प्रकार का है—संसारी और मुक्त।

1. सांसारिक जीव—सांसारिक जीव वह है जो शरीर धारण कर कर्म बन्धन के कारण नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। संसारी जीव चार प्रकार के हैं—नारकी, निर्यच, मनुष्य और देव। पृथ्वी के नीचे नरक में निवास करने वाला जीव नारकी है तथा ऊपर स्वर्ग में निवास करने वाला जीव देव कहलाते हैं। पशु, पक्षी आदि निर्यच हैं तथा हम सभी मनुष्य हैं। सभी जीवों में ज्ञानेन्द्रियाँ भिन्न हैं जिनके द्वारा जीव स्पर्श, रस, गन्ध तथा शब्द का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों को केवल एक ही इन्द्रिय स्पर्श होता है। इन जीवों को स्थावर कहा जाता है। कीट आदि की दो इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्श तथा रसना। चींटी आदि जीवों को तीन इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्श, रसना तथा घ्राण। भ्रमर आदि जीवों की चार इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्श, रसना, घ्राण तथा चक्षु। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की पाँच इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र।

2. मुक्त जीव—ये जीव सभी प्रकार के कर्म बन्धन से मुक्त रहते हैं। मुक्त जीव इस लोक में नहीं वरन् कर्मबन्धन का त्याग कर लोकाग्र में निवास करते हैं। अत: मुक्त जीवों को 'लोकाग्र-निवासी' सिद्ध करते हैं। मुक्त जीवों में कोई भेद नहीं होता।

शरीरात्मवाद—(चार्वाक-मत) चार्वाक सम्प्रदाय की प्रमुख मान्यता यह है कि "शरीर ही आत्मा" है। इस सम्प्रदाय के अनुसार "मैं मोटा हूँ", "मैं दुबला हूँ", "मैं वृद्ध हूँ", "मैं युवा हूँ" आदि लोक व्यवहार होता है। "मोटा, दुबला, वृद्ध, युवा" आदि तो शरीर ही हुआ करता है। अत: "मैं" (आत्मा) का प्रयोग शरीर के लिए ही होता है। शरीर भौतिक है, अनित्य है, अत: आत्मा भी भौतिक और अनित्य है। अपनी इस मान्यता के आधार पर चार्वाक नित्य और आध्यात्मिक आत्मा का निषेध करते हैं—

(क) आत्मा को नित्य मानने वाले आस्तिक दर्शनों में आत्मा और शरीर में भेद किया गया है। आत्मा नित्य है तथा शरीर अनित्य। शरीर का जन्म और मरण होता है, आत्मा का नहीं। चार्वाक इस भेद को नहीं स्वीकार करते। चार्वाक का कहना है कि यदि आत्मा शरीर से भिन्न है तो शरीर के समान हमें इसका भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। शरीर की मृत्यु हो जाने पर किसी व्यक्ति के जीवात्मा का प्रत्यक्ष हमें नहीं होता।

(ख) आस्तिक दार्शनिकों का कहना है कि आत्मा का अस्तित्व है परन्तु अदृश्य है। यह गुप्त रूप से शरीर में व्याप्त है। चार्वाक के अनुसार यह तर्क निरर्थक है। यदि इसका अस्तित्व है तो दृश्य होना चाहिए। यदि यह अदृश्य होकर शरीर में व्याप्त है तो शरीर के अंगों के नष्ट हो जाने पर इसे दृश्य होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता।

(ग) आस्तिक दार्शनिकों का कहना है कि कर्म और फल के सिद्धान्त को मानने से नित्य आत्मा की सिद्धि होती है। हम कर्म शरीर से करते हैं। परन्तु सभी कर्मों का फल हमें इसी समय नहीं प्राप्त होता। कर्म का फल हम आगामी जन्म में भी भोगते हैं। ये संस्कार बनकर हमें अगले जन्म में फल देते हैं। इस संस्कार का सम्बन्ध नित्य आत्मा से है। अनित्य शरीर के समाप्त होने पर ये संस्कार नित्य आत्मा में रहते हैं तथा समय आने पर पुन: फल देते हैं। चार्वाक का कहना है कि नित्य आत्मा का संस्कार से सम्बन्ध और अगले जन्म में कर्म फल का भोग तो "आकाश-वृक्ष में फल और फूल की उत्पत्ति के समान आलोक" (व्यर्थ) है। आकाश शून्य स्थान है और शून्य स्थल (जहाँ भूमि नहीं है) में वृक्ष का लगना और उस वृक्ष में फूल और फलों का उगना केवल कल्पना ही है।

(घ) आस्तिक दर्शनों में नित्य आत्मा को (परलोकगामी) कहा गया है। तात्पर्य यह है कि अनित्य शरीर की मृत्यु हो जाने पर नित्य आत्मा दूसरे लोक में जाकर कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक का भोग करता है। चार्वाक के अनुसार स्वर्ग और नरक के रूप में परलोक तो केवल कपोल-कल्पना है। यदि आत्मा शरीर से निकल कर परलोक में चला जाता है तो वह बन्धु-बान्धवों के स्नेह से लौटकर चला क्यों नहीं आता? अपने प्रिय व्यक्ति के मर जाने

पर सभी शोकाकुल होते हैं। यदि मरे हुए व्यक्ति की आत्मा परलोक में है तो शोकाकुल बान्धवों के स्नेह को देखकर उसे लौट आना चाहिए। मृत्यु के बाद किसी व्यक्ति की आत्मा का लौटकर आना असम्भव है।

(ङ) आस्तिक दर्शनों में चैतन्य के आधार पर नित्य आत्मा की सिद्धि हो जाती है। मनुष्य में चेतना नामक गुण अवश्य है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह नित्य आत्मा का ही गुण है। नित्य आत्मा ही चेतना का अधिष्ठान या आधार माना गया है। चार्वाक के अनुसार मनुष्य में चेतना नामक गुण तो अवश्य है, परन्तु यह शरीर से भिन्न नहीं। शरीर चार प्रकार के भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न होता है। इन भौतिक तत्त्वों के विकास के एक स्तर में चेतना नामक गुण भी आ जाता है। अत: यह भी भौतिक तत्त्वों के विकास का ही परिणाम है। जिस प्रकार पान, सुपारी, खैर और चूना के मिलने पर लाल रंग हो जाता है, उसी प्रकार भौतिक तत्त्वों के मिलने पर एक स्तर में चेतना का भी आविर्भाव हो जाता है। यह भी शरीर के समान ही अनित्य है, क्योंकि अनित्य भौतिक तत्त्वों के संयोग का परिणाम है।

(च) आस्तिक दर्शनों में बतलाया गया है कि नित्य आत्मा अनित्य शरीर से भिन्न है। हम कहते हैं कि 'मेरा शरीर'। इस कथन से स्पष्ट है कि 'मैं', 'मेरा' अहं, आत्मा का प्रतीक है जो शरीर से भिन्न है। जब हम कहते हैं कि "मेरा शरीर अस्वस्थ है" तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि 'शरीर', 'मुझसे' (आत्मा से) भिन्न है। चार्वाक का कहना है कि यह तो केवल कथन मात्र की परिपाटी है। हम कहते हैं कि 'राहु का सिर'। परन्तु यह केवल कथन मात्र है। 'राहु का सिर' नहीं होता, परन्तु कहा जाता है। इस कथन से हम राहु के सिर को अलग नहीं मान सकते।

(छ) आस्तिक दर्शनों में पुनर्जन्म के आधार पर नित्य आत्मा की सिद्धि की जाती है। जन्म और मरण का निरन्तर क्रम चलता रहता है—जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म। नित्य आत्मा का अनित्य शरीर से सम्बन्ध ही पुनर्जन्म है। जब शरीर क्षीण हो जाता है तो आत्मा इसे छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। यह शरीरात्म संयोग ही पुनर्जन्म है। चार्वाक इसे नहीं स्वीकार करते। मरने के बाद शरीर भस्म हो जाता है। उसके साथ ही व्यक्ति की सत्ता समाप्त हो जाती है। यह कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि जले हुए शरीर को छोड़कर आत्मा का पुन: दूसरे शरीर से सम्बन्ध होता है। अत: यह देह भस्म हो गया और यही (आत्मा) का अन्त हो गया। पुन: आत्मा का आगमन तो केवल कल्पना है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चार्वाक नित्य आत्मा का निषेध करते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि वे अनित्य या सनातन आत्मा का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार आत्मा का अस्तित्व है, परन्तु शरीर के समान यह भी अनित्य है। वे शरीर के समान आत्मा को भी भौतिक ही मानते हैं, क्योंकि यह भी चार भौतिक तत्त्वों के संयोग से उत्पन्न होता है। इसमें स्पष्टतः दो निष्कर्ष प्राप्त करते हैं—

(क) आत्मा अनित्य है,

(ख) आत्मा भौतिक है।

कर्म-पुनर्जन्म की समस्या

कर्म पुनर्जन्म भारतीय दर्शन की मौलिक समस्या है। हम कर्म करते हैं, क्योंकि भीतर कामनाएँ हैं। कामनाएँ कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं। कामनाएँ कभी शान्त नहीं होतीं, अतः कर्म का स्रोत भी समाप्त नहीं होता। कामना अतृप्त वासना है जिसकी तृप्ति हम कर्म के द्वारा करने का प्रयास करते रहते हैं। परन्तु हमारी वासनाओं का अन्त नहीं। जन्म से मृत्यु पर्यन्त हम वासनाओं के वशीभूत होकर ही जीते हैं। जब तक हमारी आँखें बन्द नहीं हो जातीं, हम में कुछ-न-कुछ कामनाएँ या वासनाएँ रहती हैं ही, जिनकी पूर्ति के प्रयास में रत रहते हैं। अतः जीवित अवस्था में न तो हम निष्काम हो सकते हैं और न निष्कर्म। स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि की वासनाएँ हमें सताती ही रहती हैं। इन कामनाओं या वासनाओं को शान्त करने के प्रयास में हम शुभ-अशुभ कर्म करते रहते हैं जिनके कारण हमें पुण्य-पाप रूप फल की प्राप्ति होती रहती है। इन्हीं फलों को भोगने के लिए हम शरीर धारण करते रहते हैं। शरीर से ही हम कर्म करते हैं, क्योंकि कर्मेन्द्रियाँ तथा मन शरीर में ही है और शरीर से ही हम कर्म का शुभ-अशुभ फल भी भोगते रहते हैं। स्पष्ट है कि कर्म का कारण शरीर है, क्योंकि कामनाएँ मन में उत्पन्न होती है तथा कर्मेन्द्रियों से उनका सम्पादन होता है तथा कर्म का फल भी शरीर ही है, क्योंकि कर्म का फल तो भोग है और भोग शरीर के विना सम्भव नहीं। शरीर को भोग का आयतन (शरीरं भोगायतनं) कहते हैं। शरीर को पुनः-पुनः धारण करना पुनर्जन्म है। इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म का सतत प्रवाह चलता रहता है। यही मानव की अथक संसार यात्रा का रहस्य है। इस यात्रा का आरम्भ जन्म से और अन्त मरण से होता है। ऐसा कोई आरम्भ नहीं जिसका अन्त न हो और ऐसा अन्त नहीं जिसका आरम्भ न हो। इसी प्रकार ऐसा कोई जन्म नहीं जिसका मरण नहीं और ऐसा कोई मरण नहीं जो पुनः जीवन में न परिवर्तित हो जाय। इसी दृष्टि से भगवान् ने गीता में कहा है—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च'। अर्थात्—जन्म लेने वाले की मृत्यु अवश्यम्भावी है और मरने वाले का जन्म अवश्यम्भावी है। इस जन्म और मरण के अवश्यम्भावी होने का आधार कर्म पुनर्जन्म है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कर्म एवं पुनर्जन्म में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि एक की सत्ता रहने पर दूसरे की सत्ता अवश्य होगी। यदि कर्म होगा तो कर्म फल के रूप में शरीर अवश्य प्राप्त होगा। दोनों कार्य-कारण सूत्र में बँधे हैं। कारण रहने पर कार्य अवश्य होगा। इसी प्रकार यदि कर्म करेंगे तो फल (शरीर) अवश्य प्राप्त होगा। अतः कर्म और पुनर्जन्म तो कारण-कार्य सूत्र में बँधे हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि कर्म पुनर्जन्म का कारण कैसे होता है? वस्तुतः कर्म पुनर्जन्म दोनों पृथक् नहीं किए जा सकते। भारतीय दार्शनिक इन दोनों को मिलाकर कर्म-सिद्धान्त या कर्मवाद का प्रतिपादन करते हैं। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक (चार्वाक को छोड़कर) कर्मवाद को स्वीकार करते हैं तथा पुनर्जन्म को भी मानते हैं। कर्मवाद भारतीय दर्शन की आधारशिला है।

कर्मवाद को सभी भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं तथा सभी यह भी मानते हैं कि कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है। केवल चार्वाक इसे नहीं मानते। चार्वाक के अनुसार कर्म और फल में नियत सम्बन्ध नहीं। भूत, वर्तमान और भविष्य का कोई नियामक नहीं। हमारा जन्म अकस्मात् हो जाता है, इसका कोई निश्चित कारण नहीं। स्पष्ट है कि चार्वाक कर्मवाद नहीं वरन् अकर्मवाद के समर्थक हैं। परन्तु अन्य भारतीय दार्शनिक अकर्मवाद को नहीं स्वीकार करते।

वेदों में कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है तथा कर्म को ही जन्म का कारण माना गया है। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य उपनिषद् में बतलाया गया है शुभ कर्म से उच्च योनि की प्राप्ति होती है और अशुभ कर्म से नीच योनि (कुत्ते) की प्राप्ति होती है। मनुष्यों में उत्तम् ब्राह्मण और पशुओं में नीच कुत्ते के जन्म का कारण उनका कर्म है। इतना ही नहीं, यदि इस जन्म में पूर्व जन्म के कर्म के कारण उच्च योनि प्राप्त भी हो गयी हो, परन्तु इस जन्म में नीच कर्म कर रहे हों तो आगामी जन्म अवश्य नीच योनि में होगा। वैदिक संस्कृति के सार-स्वरूप गीता में संभवतः कर्म सिद्धान्त का सबसे अधिक विश्लेषण है। इस पवित्र धर्म ग्रन्थ में कर्म और कर्म के आदर्श का भी प्रतिपादन किया गया है। भगवान् का स्पष्ट कथन है कि—

लोको यं कर्मबन्धनः। गीता 3.9

अर्थात् यह सम्पूर्ण संसार कर्म-नियम से बँधा है। गुण और कर्म के आधार पर ही भगवान् ने चारों वर्णों की—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। गीता, 4. 13

स्पष्ट है कि चार वर्णों के विभाजन का आधार कर्म सिद्धान्त ही है। यदि कर्म भेद न स्वीकार किया जाय तो वर्ण-भेद भी स्वीकार नहीं होगा।

कर्म का आदर्श—गीता की सबसे बड़ी विशेषता कर्म के साथ कर्म के आदर्श का प्रतिपादन है। कर्मवाद के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म ही हमारे जन्म का कारण है तथा जीवन की सभी उपलब्धियाँ कर्म के अधीन है, अर्थात् नियति का नियामक तो

कर्म है। प्रश्न है कि कर्म कैसे करना चाहिए? कर्म विना तो कोई शरीरधारी एक क्षण भी नहीं रह सकता—'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठात्यकर्म-कृत'—गीता 3.5। तात्पर्य यह है कि शरीर रहने पर कर्म तो अवश्य होगा। अकर्मण्य तो मनुष्य रह ही नहीं सकता। जब हम अकर्मण्य नहीं हो सकते तो कर्म को किसी आदर्श के अनुसार करना चाहिए, विना आदर्श के नहीं। यह आदर्श तो निष्काम कर्म का है, सकाम कर्म का नहीं। सकाम कर्म तो हमें फल भोगने के लिए बाध्य करता है। यह बन्धन का जनक है, अत: निष्काम कर्म ही बंधन का विनाश करने वाला है। निष्काम कर्म करने वाला कर्मयोगी है जो कर्म योग के द्वारा बंधन का विनाश कर परम शांति को प्राप्त होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि निष्काम कर्म का संपादन संसार में कैसे हो? (उत्तर यह है कि जल में कमल के समान) (**पद्म पत्रमिवाम्भसा—गीता**) मनुष्य को संसार में रहना है, परन्तु इसमें लीन नहीं होता है। हम संसार का स्वामी बनकर रहें, दास बनकर नहीं। इसी कारण भारतीय दार्शनिक संसार को रंगमंच के समान स्वीकार करते हैं। रंगमंच पर पात्र अपना अभिनय दिखलाकर चले जाते हैं। तटस्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य को निष्काम कर्म कर तटस्थ हो जाना चाहिए। यही आसक्ति में विरक्ति है। विरक्त और बीतराग ही परमानन्द को प्राप्त करता है। कर्म करते हुए भी कर्त्तापान के अभिमान से दूर रहना, कर्म का सबसे आदर्श है।

ऋत, अपूर्व और अदृष्ट—भारतीय दार्शनिकों का अटूट विश्वास है कि व्यक्ति का जन्म-मरण तथा विश्व व्यवस्था नियमाधीन है। यह नियम कर्मवाद का है। संसार में जो कुछ भी घटता है वह अकस्मात् या यांत्रिक नहीं है। अत: विश्व में व्यवस्था और सामंजस्य है, घटनाएँ नियमत: घटती हैं। प्रत्येक घटना सकारण है, अकारण या अकस्मात् नहीं। जो कुछ भी हो रहा है, वह किसी नियम से, सभी अपना-अपना कार्य करते हैं, नक्षत्रों की गति का कोई नियामक है। सुख-दु:ख, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, दण्ड-पुरस्कार आदि का कोई विधान करता है। यही संसार की नैतिक व्यवस्था है जो यांत्रिक गतिविधियों का विरोधी है। इसे वेद में ऋत कहा गया है तथा बतलाया गया है कि तीनों लोकों की घटनाएँ ऋत का विधान है, अर्थात् सभी घटनाएँ ऋत के अनुसार होती हैं। इसे मीमांसा में अपूर्व कहा गया है।

अपूर्व वह अदृश्य आंतरिक शक्ति है जो मनुष्य के भाग्य का विधान करती है। यह सूक्ष्म शक्ति आत्मा में निवास करती है। मानव की उपलब्धियाँ अपूर्व के अधीन हैं, हम जो भी कार्य करते हैं, उसका फल हमें प्राप्त होता है, परन्तु इससे कार्य का भौतिक रूप समाप्त हो जाता है। यज्ञ-हवन-तर्पण आदि वेद-विहित कर्मों के संपादन से एक आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है जो अपूर्व कहलाती है। कर्म तो भौतिक या शारीरिक है, क्योंकि ये शरीर में सम्पन्न होते हैं, परन्तु शरीर के समाप्त होने पर इनका एक सूक्ष्म रूप (संस्कार स्वरूप) आत्मा में निवास करता है जो समय आने पर पुन: आत्मा के शरीर धारी होने पर मनुष्य के भाग्य का विधान करता है। इसे ही न्याय-वैशेषिक में अदृष्ट

कहते हैं, क्योंकि यह अगोचर है। सूक्ष्म होने के कारण हम उसे देख नहीं सकते, परन्तु मनुष्य के भविष्य जीवन का विधान इसी अदृष्ट शक्ति के अधीन है। यह लौकिक या भौतिक नहीं। इसलिए इसे अलौकिक या आध्यात्मिक कहते हैं। यह किये गये कर्मों से ही उत्पन्न होती है, अर्थात् भूत-जन्य है, परन्तु भविष्य में होने वाले भाग्य का विधान करती है। अत: भविष्य की जननी है। यह कर्म-जन्य और कर्म-जनक दोनों है। कर्म से अविच्छेद्य सम्बन्ध होने के कारण इसे कर्मवाद भी कहते हैं।

आस्तिक दर्शन के समान नास्तिक दर्शनों में भी कर्मवाद का प्रतिपादन है। भगवान् बुद्ध की शिक्षा का सार भवचक्र या जन्म-मरण या अलात-चक्र है। भगवान् बुद्ध ने अपने 'भवचक्र' के सिद्धान्त में बतलाया है कि हमारा वर्तमान जीवन पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है तथा भविष्य जीवन वर्तमानकृत कर्मों का परिणाम होगा। भूत, वर्तमान और भविष्य का एक ही शृंखला में आबद्ध करने वाला कर्म ही है। जो कुछ भी वर्तमान जीवन में हमारी उपलब्धियाँ हैं, वे सभी कर्मजन्य हैं। संसार की विषमताओं का कारण कर्म ही है। संसार में एक हीन है, दूसरा उत्तम, एक अल्प-आयु है, दूसरा दीर्घायु, एक रोग बाहुल्य का शिकार बना है दूसरा बिल्कुल निरोग, एक सुन्दर है दूसरा कुरूप, एक सबल है दूसरा निर्बल, एक दरिद्र है दूसरा वैभव सम्पन्न, एक नीच कुल में उत्पन्न हुआ है दूसरा उत्तम कुल-प्रसूत है, एक बुद्धिहीन है दूसरा बुद्धिमान्। इन सभी विषमताओं का कारण कर्म ही है। व्यक्ति के कर्म पर सर्वाधिक बल देते हुए भगवान् बुद्ध धम्मपद में कहते हैं—जन्म से न तो कोई नीच होता है और न जन्म से ब्राह्मण। कर्म से ही कोई नीच होता है और कर्म से ही ब्राह्मण।

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणौ।
कम्मुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणौ॥

बौद्ध दर्शन के समान जैन दर्शन में भी कर्मवाद को पूर्णत: माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार हमारे जीवन की सभी उपलब्धियाँ कर्मजन्य है। शरीर का रंग, रूप आकार, आयु, ज्ञानेन्द्रिय आदि की संख्या सभी कर्म के कारण ही प्राप्त होती हैं। कर्म का विश्लेषण तथा कर्म की व्याख्या जैन दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। जैन दर्शन में नियति का नियामक ईश्वर नहीं माना जाता है। हमें जो कुछ आयु, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि प्राप्त होता है वह अकस्मात् नहीं तथा वह ईश्वर की कृपा से भी प्राप्त नहीं। कर्म अपना फल स्वत: देते हैं। अच्छा या बुरा कर्म शुभ तथा अशुभ फल का स्वयं दाता है। इसमें किसी अदृश्य शक्ति के नियंत्रण की आवश्यकता नहीं।

जैन दर्शन में कर्म को मुख्यत: दो भागों में विभाजित किया जाता है—धाती कर्म तथा अधाती कर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय प्रथम कोटि के कर्म हैं तथा आयु, नाम गोत्र, वेदनीय द्वितीय कोटि के कर्म हैं। कुल मिलकार आठ कर्म माने गये हैं—

1. **ज्ञानावरणीय**—ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म। इसके कारण ही अल्पज्ञानी या विशेषज्ञानी होता है।

2. **दर्शनावरणीय**—दर्शन का आवरण करने वाला। इसके कारण दर्शन प्रकट नहीं होता।

3. **वेदनीय**—सुख, दु:ख की वेदना उत्पन्न करने वाला कर्म।

4. **मोहनीय कर्म**—यह जीव को मोहित करता है।

5. **आयु कर्म**—यह जीव की अवधि का निश्चय करता है।

6. **नाम कर्म**—अच्छे या बुरे शरीर की रचना नाम कर्म के कारण होती है।

7. **गोत्र कर्म**—इसके कारण जीव ऊँच या नीच कुल में जन्म लेता है।

8. **अन्तराय कर्म**—इसके कारण मनोवांछित फल की प्राप्ति में बाधा पहुँचती है।

जैन और बौद्ध नियति का नियामक ईश्वर को नहीं वरन् कर्म को मानते हैं। हमें जो कुछ आयु, ज्ञान वैभव आदि की प्राप्ति होती है वह अकस्मात् नहीं तथा ईश्वर की कृपा से भी नहीं। कर्म अपना फल स्वत: देता है। इस प्रकार कर्मवाद के अनुसार भारतीय दर्शन मनुष्य को अपनी नियति का स्वत: नियामक मानता है। यह भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है। मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है, अपने भाग्य का विधाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है और जैन धर्मानुयायी मानते हैं कि अच्छे और बुरे फल स्वयं अपने कर्मों द्वारा प्राप्त करता है जैसा वह कर्म करेगा वैसा ही उसे परिणाम मिलेगा।

बुद्ध के विचार नास्तिक होते हुए भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते थे। उनका कहना था कि पुनर्जन्म तो होता है परन्तु आत्मा का नहीं बल्कि मनुष्य के अहंकार का होता है। यह पुनर्जन्म, कर्मवाद तथा प्रतीत्यसमुत्पाद नियमों के अधीन होता है। तृष्णा के कारण अहंकार उत्पन्न होता है और यह अहंकार के कारण पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। तृष्णा तथा अहंकार के विनाश से पुनर्जन्म चक्र समाप्त किया जा सकता है तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

वाचस्पति गैरोला के अनुसार बुद्ध का कथन है, कि जीव का इससे पहले भी कोई जन्म था, जिसके कारण मनुष्य अज्ञान (अविद्या) के अहंकार में पड़ा है। ये जन्मान्तर के बुरें कर्म ही 'संस्कार' हैं। उन कर्मों को भोगने के लिए मनुष्य इस जन्म में आत्मा, इसका रहस्य 'विज्ञान' बताता है। जन्म लेने के बाद मनुष्य को 'नामरूप' अर्थात् भौतिक और मानसिक स्वरूप मिले। उसके बाद उसके शरीर में छ: इन्द्रियों का समावेश हुआ और उसको 'षडायतन' (छ: इन्द्रियोंवाला) कहा गया। इन्द्रियों के प्राप्त हो जाने के बाद 'स्पर्श' की अनुभूति हुई, जिसके फलस्वरूप उसको 'वेदना' का अनुभव हुआ। इन्द्रियों तथा विषयों के संयोग से उसमें (तृष्णा) जागी जिससे वह सुख-दु:ख की वस्तुओं की ओर लपका, इसी को उपादान 'ग्रहण करना' या आसक्ति कहा जाता है। इस प्रकार वह

संसार 'भव' के अच्छे-बुरे कर्मों की ओर प्रवृत्त हुआ। इन कार्यों के कारण उसको दूसरे जन्म (जाति) में लिप्त होना पड़ा, जिसका परिणाम मृत्यु अर्थात् जरा-मरण है।

अब भव चक्र या संसार में मनुष्य तब तक घूमता रहता है, जब तक उसका अज्ञान नष्ट न हो जाये, क्योंकि यह अज्ञान तृष्णा का ही कारण है।

बौद्ध धर्म में कर्मफल को भी स्वीकार किया गया है। बुद्ध ने कर्मों की भविष्यता को भी स्वीकार किया है। एक बार एक शिष्य का सिर फट गया वह वेदना का मारा बुद्ध के पास आया। बुद्ध ने उसको बताया है, अर्हत्, इसे ऐसा ही सहन करो........तुम अपने उन कर्मों का फल भुगत रहे हो, जिनके तुम्हें लम्बे समय तक नरक जैसा कष्ट झेलना पड़ता है।

बुद्ध तथा अन्य विचारों के अनुसार जीव या मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके पहले जीवन के कर्मों का परिणाम है। इसी प्रकार उसके वर्तमान जीवन के कर्म जीव को उसके भावी जीवन का फल निर्धारित करते हैं। यह कर्मफल जीव को उसके चरित्र के अनुसार मिलता है। जैसा कर्म जो करेगा उसको वैसा ही फल मिलेगा। किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि मनुष्य कर्मों के वश में है, बल्कि कर्म उसके वश में है। यह उसके वर्तमान जीवन के कर्मों पर निर्भर है कि वह अपना जीवन पापमय बनाए या पुण्यमय।

कर्मफल के विषय में बौद्ध धर्म के ग्रन्थ महावग्ग में लिखा है "जो कोई बुरी बात करेगा या बुराई करेगा उसके पीछे दु:ख इसी तरह आयेगा जिस तरह बैलों के पीछे गाड़ी का पहिया।"

यह जन्म-मरण कर्मों का ही फल है। त्याग वैराग्य से और चिन्तन से पूर्व जन्म के कर्मों का नाश और पर जन्म के कर्मों का संचय प्राप्त कर जन्म-मरण से छुटकारा पाया जा सकता है। यही दु:ख मुक्ति का निर्वाण है।

सिक्ख धर्म में अतीत जीवन को वर्तमान का ही अंग और वर्तमान जीवन असीम भविष्य का आधार बनता है। इस प्रकार सिक्ख धर्म में भी आवागमन या पुनर्जन्म का सिद्धान्त माना गया है। सिक्ख धर्म के अनुसार पुनर्जन्म के सिद्धान्त को इस प्रकार माना गया है कि मृत्यु के उपरान्त मनुष्य को इसी संसार में उपस्थित रहना है या उसका अस्तित्व इसी संसार में उसको अपने कर्मों का फल भुगतने के लिए जन्म ग्रहण करना पड़ेगा यदि व्यक्ति अपने कर्मों का फल इसी जन्म में नहीं भुगतता तो अगले जन्म में या उसके बाद के जन्म में अवश्य भुगतेगा। जब तक व्यक्ति अपनी आत्मा से अपने कर्मों के संस्कार 'नाम' रूपी साबुन से नहीं धो लेता, तब तक उसे इसी जन्म में बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। परमानन्द की प्राप्ति भी इसी संसार में होगी इसी संसार में जीवात्मा को भिन्न-भिन्न जन्मों के रूप में बार-बार जन्म ग्रहण करने के अवसर मिलते हैं। इस जन्म-मरण के आवागमन का व्यक्ति को तब छुटकारा मिल सकता है जब व्यक्ति की आत्मा अपने जीवित कर्म जो कि आत्मा के साथ लिपटे हुए हैं, उन्हें त्यागेगी जब वह

इस संस्कार का त्याग कर देगी, तभी मुक्त हो सकेगी नहीं तो आवागमन का चक्र चलता रहेगा। सिक्ख धर्म के अनुसार यह मनुष्य शरीर योनियों को पूरा करके ही मिलता है। यह मनुष्य योनि कीट-पतंगे, मछली इत्यादि कई योनियों में भटकने के बाद ही प्राप्त होता है। इस प्रकार आवागमन का सिद्धान्त सिक्ख धर्म में विशिष्ट महत्त्व रखता है। सिक्ख धर्म में मृत्यु के पश्चात् की स्थिति कई प्रकार की बताई है। कर्मों के अच्छे और बुरे फल भोगने के लिए तो आवागमन का चक्र है और मुक्त आत्माओं के लिए सच खण्ड (स्वर्ग) का निवास है। ब्रह्म के साथ अभेदता है।

जीव को अपने जीवन के कर्मों का फल अवश्य भुगतना पड़ेगा। स्वर्ग नरक में वह अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल अवश्य भुगतेगा। जो व्यक्ति स्वर्ग में जायेंगे वे वहाँ पर आनन्द लेंगे और जो व्यक्ति नरक में जायेंगे वे कोल्हू में जोते जायेंगे।



सहायक ग्रन्थ सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अद्वैत ब्रह्म सिद्धि	:	काश्मीरक श्री सदानन्द यति, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रकाशन, 1932
अद्वैत सिद्धि सिद्धान्तसार	:	श्री सदानन्द व्यास, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1903
अभिधर्मकोश	:	भाग (1 व 2), अनु० आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ०प्र०, इलाहाबाद
ऐत्तरेयोपनिषद्	:	संपादक-पंडित, प्रकाशन-एच०एन० आप्टे आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना
ऐत्तरेयोपनिषद्	:	सं० मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर
कठोपनिषद्	:	प्रका० मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर
केनोपनिषद्	:	प्रका०मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
छान्दोग्योपनिषद्	:	आनन्दाश्रय सीरीज, 14
तर्क-संग्रह	:	चित्सुखी, प्रका० उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, सन् 1956
तत्त्वप्रदीपिका	:	अनु० डॉ० दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसी दास, 1970
तत्त्वसंग्रह	:	शान्तरक्षित, कमलशील भाष्य, संपा० अनु० गंगानाथ झा, बड़ौदा ओरियण्टल सीरीज
धम्मपद	:	अनु० संपा० भिक्षुधर्म रहित, प्रका० मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी
धम्मपदठ्ठकथा	:	बुद्धघोष कृत
न्यायबिन्दु	:	धर्मकीर्ति कृत, धर्मोत्तर कृत टीका के साथ
न्यायदर्शनम्	:	गौतम, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1970
पंचदशी	:	विद्यारण्यस्वामी बुद्धि सेवाश्रम, बिजनौर

प्रश्नोपनिषद् : संपा० मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य : आनन्दाश्रम सीरीज 21

वेदान्तपरिभाषा : धर्मराजा ध्वरिन, संपा० आनन्दकृष्णशास्त्री, कलकत्ता विश्वविद्यालय

मनुस्मृति : हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला 226, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1965

माध्यमिक कारिका वृत्ति : चन्द्रकीर्ति, संपा०पूसीन बुद्धिस्ट ग्रन्थमाला 4.

महायानसूत्रालंकार : मूल ग्रन्थ 1907 में सिलवां लेवी द्वारा संपादित। अनुवाद-सिलवां लेवी द्वारा 1911

सर्वदर्शनसंग्रह : शायण, मध्व, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च, पूना

संक्षेपशारीरकम् : प्रका० उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी वि० सं० 2015

हिन्दी-ग्रन्थ

अद्वैत वेदान्त : राममूर्ति शर्मा, प्रका० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-1972

अभिधर्मदीपिका : संपा० जैनी जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना 1959

उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण : रानाडे, आर०डी० प्रका० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1971

जैन तर्कदर्शन में अनुमान विचार : डॉ० दरबारी लाल गोठिया, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, 1969

प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार : डॉ० राधाकृष्णन, अनु० उमापति राय चन्देल, राज्यपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1967

ब्रह्ममीमांसा : मुक्तानन्द, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1952

बुद्धचर्या : राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी

बौद्ध दर्शन और वेदान्त : चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेंट्स फ्रेंड्स, वाराणसी

बौद्ध दर्शन की मीमांसा : (भाग-1 व 2) बलदेव उपाध्याय

बौद्ध धर्म दर्शन : आचार्य नरेन्द्र देव, बिहार राष्ट्र भाषा, परिषद्, पटना, वि०सं० 2013

बौद्ध दर्शन तथा अन्य

भारतीय दर्शन	:	(भाग-1 व 2) भरत सिंह उपाध्याय, प्रका० बंगाल हिन्दी मंडल, वि०सं० 2011
बौद्ध धर्म दर्शन	:	राहुल, किताब महल, इलाहाबाद
बौद्ध न्याय	:	(भाग 1 व 2) शेरवात्स्की, अनु० डॉ० रामकुमार राय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी 1969
बौद्ध संस्कृति का इतिहास	:	डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर, 1972
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	:	गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, हिन्द समिति, सूचना विभाग, उ०प्र० लखनऊ, 1973
भारतीय दर्शन	:	डॉ० राधाकृष्णन, अनु० श्रीनंदकिशोर गोभिल, विद्यालंकार, राज्यपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1969
बौद्ध धर्म एवं दर्शन	:	डॉ० बी०एन० सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	:	डॉ० हिरियन्ना, अनु० गोवर्धन भट्ट, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1965
भारतीय दर्शन	:	पण्डित बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, वाराणसी, 1966
भारतीय दर्शन	:	उमेश मिश्र, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला 10, लखनऊ 1964
भारतीय दर्शन	:	चट्टोपाध्याय और दत्त, पुस्तक भंडार, पटना, 1958
भारतीय दर्शन	:	वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1966
भारतीय चिन्तन परम्परा	:	के० दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रा० लि०, दिल्ली
भारतीय तर्कशास्त्र	:	शान्ति प्रकाश आत्रेय, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, 1961
वेदान्त दर्शन का इतिहास	:	उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, उ०प्र०, 1970
वैशेषिक दर्शन	:	डॉ० बी०एन० सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी, 221001
